है, तो, आवश्यकता है और घोर आवश्यकता है कि, हम इन आर्थिक बातों का ख़ुद अध्ययन करें और अपने बाल बच्चों को करावें। सिवा इसके, और कोई भी मार्ग हमारे जीवन की और रोटी की समस्याओं को हल करने का नहीं है। इसी युग-विज्ञान की अर्थात् अर्थ-विज्ञान की प्रारम्भिक बातों का वर्णन इस पुस्तक में किया जायगा।

अर्थ-विज्ञान

वनस्थली विद्यापीठ पुस्तकालय
को भेंट लेखक द्वारा

मुक्तिनारायण शुक्ल

२८ मार्च १९५५ ई.

को अच्छी तरह से कर चुकता है तब उसे एक प्रकार का सन्तोष होता है। यहां तक कि, भङ्गी को भी अपने काम को अच्छी तरह करने पर सन्तोष और बुरी तरह करने पर असन्तोष होता है। ठीक इसी प्रकार मानसिक श्रम करनेवाले जितनी सुन्दरता से अपना काम करते हैं, उतना ही अधिक उन्हें सन्तोष प्राप्त होता है। ललित कलाओं की धुन में मस्त जितने लोग हैं, उन सब को, काम को सुन्दरता से करने से जो सन्तोष होता है, उस सन्तोष के सामने वह शुहरत और आमदनी का कुछ ख्याल नहीं करते, अर्थात् उसकी आय और उसकी नेकनामी से उन्हें वह सन्तोष अधिक प्रिय होता है। विश्वविद्यालयों के उत्तमोत्तम अध्यापकों की तरफ़ आप अगर दृष्टिपात करें तो ज्ञात होगा कि, यह अपने लम्बे चौड़े वेतनों की परवाह ही नहा करते, वह तो अपनी धुन में अर्थात् ढूंढ़-तलाश में मस्त हैं। वैज्ञानिक लोग तो अनुसंधान के कार्य्य में इतने व्यस्त रहते हैं कि अपनी तन्दुरुस्ती की भी परवाह नहीं करते, उन्हें रुपये की क्या परवाह? उधर किसान को भी अच्छी जुताई कर चुकने पर सन्तोष होता है। कुम्हार भी जब मामूली मिट्टी से अपनी कारीगरी की बदौलत कोई अच्छा बर्तन तैयार कर देता है, तब, उसे भी सन्तोष होता है। मतलब यह कि, प्रायः सभी श्रेणी के मनुष्यों को अपना काम अच्छी तरह कर चुकने के बाद सन्तोष होता है—इस प्रकार का सन्तोष होना मनुष्य के स्वभाव से ही सम्बन्ध रखता है।

अर्थ-विज्ञान की दृष्टि में भी यह सन्तोष बड़े महत्व की चीज़

कि, उत्पादन की अवस्था में परिवर्तन होने से भी अमीर और भी अमीर हो सकते हैं, तथा ग़रीब बेचारे अपनी ग़रीबी में ही रह जा सकते हैं। कार्य्यालयावस्था जिन देशों में प्रचलित है वहां के ग़रीब लोग सन्तुष्ट नहीं हैं। इसका मतलब यह है कि, अमीर और भी अमीर हो गये हैं तथा ग़रीबों की दशा बहुत ही कम सुधरी है। यह कार्य्यालयावस्था का ही दोष है। देश के शुभचिन्तकों को इस में परिवर्तन करने की आवश्यकता का अनुभव भी हो गया है। यह बात मानी जा चुकी है कि कुछ लोगों के अमीर बन जाने से ही देश की ग़रीबी दूर नहीं हो सकती। पुराने ज़माने के अर्थ-विज्ञानियों ने कार्य्यालयावस्था की जो प्रशंसा की थी वह इसीलिए की थी कि, इस से देश की सम्पत्ति ख़ूब बढ़ेगी। उनका यह विश्वास था कि सम्पत्ति का वितरण भी सन्तोषप्रद होगा। पर आधुनिक लेखकों ने उक्त अवस्था के दोष भी ख़ूब दिखलाये हैं। उन्होंने सिद्ध किया है कि इस से ही सम्पत्ति का वितरण अच्छी तरह नहीं हो सकता। यही कारण है कि साम्यवादियों के से विचार संसार में ख़ूब फैल रहे हैं। अर्थ-विज्ञान के नवीन पाठक जब एक बार इस विज्ञान के साधारण नियमों का अध्ययन कर चुकें, तब उक्त तत्वों का भी एक बार अध्ययन करें; फिर इस के बाद उचित समझें तो अपनी स्वतन्त्र राय क़ायम करने की कोशिश करें। तभी वह राय पक्की होगी। किसी "सिद्धान्त" "अवस्था", "प्रणाली" पर आंख मीच कर विश्वास कर लेना अनुचित होगा।

अर्थ-विज्ञान ।

नवीन पाठकों और विद्यार्थियों के लिये ।

दो विद्यार्थियों में जो एक ही दर्जे तक पढ़े होते हैं, जो ज्यादा प्रतिभासम्पन्न होता है, वही ज्यादा मजदूरी पाता है। इस प्रकार की बातों का वर्णन हम अगले परिच्छेद में ज़रा विस्तार से करेंगे इस लिए इतना ही कह कर इसे यहां स्थगित करते हैं।

तीसरा कारण है, जीविका का स्थाई और अस्थाई होना। कुछ रोजगार ऐसे हैं जो कुछ समय तक ही चलते हैं पर कुछ ऐसे हैं जिनके पुश्तों तक चलनेकी आशा होती है। वह स्थाई होते हैं। स्थाई जीविका में अगर मजदूरी कम भी हो, तो भी लोग उसे पसंद कर लेते हैं। पर अस्थाई जीविका में कम मजदूरी पर लोग तैय्यार नहीं होते। अगर किसी नौकर को आप यह विश्वास दिला कर रखिये कि उसकी नौकरी आठ दस वर्षों तक न छूटेगी तो वह ८) रु० मासिक में ही आपके पास काम करने को तैयार हो जायगा। पर अगर उसे यह मालूम हो जाय कि महीने दो महीने में प्रायः उसे नौकरी से अलग कर देंगे तो शायद वह १२) रु० या १५) रु० मासिक से कम में आप से बात भी न करे। देशी राज्यों की नौकरियां अधिक स्थाई होती हैं। इस लिए, उन्हें लोग कम मजदूरी में भी स्वीकार कर लेते हैं। पर छोटे मोटे सेठ साहूकारों की नौकरियां उतनी स्थाई नहीं होतीं। इसलिए उन्हें ज्यादा मजदूरी देना पड़ती है।

चौथा कारण विश्वास का है। जिन कामों में अधिक विश्वसनीय आदमियों की जरूरत होती है, उनमें मजदूरीभी ज्यादा देना पड़ती है। बड़े बड़े खजानचियों को जो ज्यादा तनख्वाहें मिलती

सीकराधीश

रावराजाजी श्रीमान् कल्याण सिंहजी बहादुर

अर्थ-विज्ञान

नवीन पाठकों और विद्यार्थियों के लिये।

लेखक

श्री मुक्तिनारायण शुक्ल,

(राजवैद्य, जयपुर।)

प्रकाशक

आदर्श कार्य्यालय, मेस्टन रोड,

कानपुर।

प्रथम बार } सम्वत १९८० { मूल्य ३)
सजिल्द ३।=)

लाला भगवानदास गुप्त के प्रबन्ध से कमर्शल प्रेस,
कानपुर में मुद्रित ।
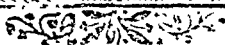
समर्पण

शेखावत-कुल-भूषण, प्रजा-रञ्जक, विद्या-प्रेमी,

गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक,

स्वधर्म-परायण

सीकरपति, राव राजा जी,

श्रीमान कल्याणसिंहजी बहादुर

के

कर कमलों में सादर

समर्पित।

मुक्तिनारायण शुक्ल।

भारत की आर्थिक-अवस्था अच्छी नहीं। वह करुणा-जनक और भयङ्कर है। करों का बोझ बढ़ता ही जा रहा है; पृथ्वी की उर्वरा-शक्ति कम होती जा रही है; व्यापार-व्यवसाय की शिक्षा का यथेष्ट प्रबन्ध न होने से देश की सम्पत्ति-वृद्धि के मार्ग में बाधायें आ रही हैं। हर मनुष्य की वार्षिक आमदनी ३०) से अधिक न होने पर भी, समय के प्रवाह में बह कर, लोग विलासिता की ओर झुकते जा रहे हैं। ऐसी दुरवस्था में पड़े हुए भारतवासियों के लिए अर्थशास्त्र के सिद्धान्त जानने और अपनी आर्थिक दशा सुधारने की बड़ी ही आवश्यकता है। अतएव पण्डित मुक्तिनारायण शुक्ल ने यह पुस्तक लिख कर हिन्दी-भाषा-भाषी जनता पर बड़ा उपकार किया है।

मोरलेंड साहब उच्च पदस्थ सरकारी कर्म्मचारी थे। इन प्रान्तों में वे एक ऊँचे पद पर थे। खेती के महकमे के वे कर्त्ता और विधाता थे। विपन्न और सम्पन्न, सभी तरह के भारत-वासियों की आर्थिक अवस्था अथवा दुरवस्था उन्होंने अपनी आंखों देखी है। परन्तु देखी है सरकारी ऐनक लगा कर। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री मार्शल साहब के दिखाये हुए पथ के पथिक

पनकर, उसी ऐनक की सहायता से, उन्होंने अपनी पुस्तक लिखी है। विश्वविद्यालय के कर्णधारों ने पसन्द करके उसे जो पाठ्य-पुस्तक बनाया सो ठीक ही किया है। भारतीय दृष्टि से पुस्तक का बहुत कुछ अंश अभिनन्दनीय ही है। तथापि बहुत अच्छा हुआ जो अर्थविज्ञान के प्रणेता ने अक्षरशः अनुवाद न कर के उसका आधारमात्र ग्रहण किया। इस से दृष्टि-भेद के कारण उत्पन्न ज्ञान विद्यार्थियों की बहुत कुछ चिकित्सा हो गई।

यह शास्त्र अभी परिपक्वता को नहीं पहुंचा। इसके नियम परिवर्तित होते रहते हैं। अतएव इसके पहले इस विषय की जो कुछ पुस्तकें, हिन्दी में प्रकाशित हो चुकी हैं उनमें कहीं कहीं संशोधन की आवश्यकता उपस्थित हो गई है। इस दशा में इस नई पुस्तक का प्रकाशन बहुत लाभदायक सिद्ध होने की सम्भावना है। इसे यत्र तत्र पढ़ कर देखने से ज्ञात हुआ कि लेखक ने इसे लिखने में विशेष श्रम किया है और सावधानता से भी काम लिया है।

मेरी सम्मति है कि इसके अगले संस्करण में करों के विषय का विवेचन कुछ अधिक विस्तार के साथ किया जाय और अबाध तथा बाधारहित व्यापार के विषय में भी एक परिच्छेद लिख कर पुस्तक में जोड़ दिया जाय।

जुही-कलां, कानपुर।
४ अप्रैल १९२३

महावीरप्रसाद द्विवेदी।

हिन्दी-ग्रन्थकार का वक्तव्य

इस पुस्तक को मैंने W. H. Moreland, C.S.I., C.I.E. (of the I.C.S.) की *An introduction to Economics* नामक पुस्तक के आधार पर लिखा है। अवसर (प्रयोजन) के अनुसार घटाया बढ़ाया भी है। उक्त अंग्रेजी की पुस्तक के परिभाषिक शव्द, अर्थशास्त्र के आचार्य "मार्शल" महोदय की प्रसिद्ध पुस्तक की छाया पर हैं। पर, वह लिखी ऐसे ढंग से गई है कि उस के पढ़ने से अर्थ-विज्ञान का रूखा विषय भी मनोरंजक ज्ञात होने लगता है। उसी शैली पर, मैंने भी इसे हिन्दी जाननेवाले अर्थ-विज्ञान के नवीन पाठकों, विद्यार्थियों और किसानों के लिए लिखा है; अर्थ-विज्ञान को अंग्रेजी में अध्ययन करनेवाले पंडितों के लिए नहीं। इसे लिखते समय मैंने पूज्य पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी के "सम्पत्ति शास्त्र", पं० गिरिधर शर्मा के "अर्थ शास्त्र", प्रो० यदुनाथ सरकार के "इकनामिक्स आफ़ ब्रिटिश इंडिया" से भी बड़ी सहायता ली है; अतः मैं उक्त सब सज्जनों को कृतज्ञतापूर्वक धन्यवाद देता हूं।

इसे पढ़ते समय इस बात को भी न भुला देना चाहिये कि अर्थ-विज्ञान आयुर्वेद को भुला कर—उसके नियमों की उपेक्षा कर—पढ़ा जाता है और तदनुसार ही सभ्यता का "विकास"

किया जाता है। इसी सभ्यता—इसी संस्कृति—को हम भारत-वासी "कलयुगी सभ्यता" भी कह सकते हैं। गीता में वर्णित 'आसुरी सम्पत्ति' से भी यह बहुत ही मिलती जुलती है। अर्थ-विज्ञान मनुष्य जाति के लिए वहीं तक उपयोगी है, जहां तक, उसके सिद्धान्त आयुर्वेद के विरोधी नहीं होते। यही अर्थ-विज्ञान की उचित सीमा की कसौटी है। इसलिए, अर्थ-विज्ञानियों, वैद्यों और मनुष्य जाति के शुभचिंतकों का कर्त्तव्य है कि वह इन विज्ञानों का ध्यानपूर्वक अध्ययन कर के देखें कि, कहां तक अर्थ-विज्ञान के सिद्धांतों का उपयोग, मनुष्य के स्वास्थ्य को बिना हानि पहुंचाए हुए, गीता की "दैवी सम्पत्ति" के सिद्धान्तों के अनुसार किया जा सकता है।

मेरा निबन्ध लिखने का यह प्रथम प्रयत्न है। मुझ से बहुत सी ऐसी गलतियां भी अवश्य हुई होंगी जो कदाचित् अक्षम्य हों। उनके जानने और सुअवसर मिलने पर मैं उन्हें दूर करने का यथाशक्ति प्रयत्न करूंगा। पाठकों को रुचिकर होने पर इसी विज्ञान पर या आयुर्वेद पर अन्यान्य निबन्ध भी लिखने की चेष्टा करूंगा।

श्री मुक्तिनारायण शुक्ल।

प्रकाशकों का निवेदन।

भारतवर्ष की साम्पत्तिक अवस्था इस समय अत्यन्त हीन है, यह अनुभव तथा सर्वसम्मति से सिद्ध है। ऐसी अवस्था में नागरी-भाषा में अर्थशास्त्र सम्बन्धी पुस्तकों की अत्यन्त आवश्यकता है; जिस में हमारे देश के व्यवसायी भी उन सिद्धान्तों से विज्ञता प्राप्त करें, जिन सिद्धान्तों के अनुसार चलकर, वर्तमान में, पाश्चात्य व्यापारी अतुल धन राशि कमा कर अपने आपको तथा देश को सम्पत्तिवान् बनाते हैं।

यद्यपि अब नागरी-भाषा में अर्थशास्त्र सम्बन्धी, कुछ पुस्तकें तंय्यार हुई हैं, परन्तु अन्य भाषाओं के देखते हुए उनकी संख्या अत्यन्त अल्प है। इसके अलावा अर्थशास्त्र की जितनी भी पुस्तकें नागरी में अब तक लिखी गई हैं, विषय की गहनता के कारण, वे प्रायः सब ही, इस विषय में विज्ञता प्राप्त सज्जनों ही के काम की हो सकती हैं। अभी तक नागरी-भाषा में एक भी ऐसी पुस्तक देखने में नहीं आई जो कि इस विषय को सरल, तथा सर्वसाधारण के समझने योग्य भाषा में लिख कर प्रकाशित की गई हो। विषय की गहनता व नवीनता ही इसका एकमात्र कारण है।

इन्हीं बातों का विचार करते हुए नागरी में इस विषय की एक ऐसी पुस्तक की आवश्यकता विशेष अनुभव होती

थी, जिसमें भाषा की सरलता के साथ साथ पुस्तक इस ढंग से लिखी गई हो जो सर्वसाधारण को,इस विषय के नवीन पाठकों को सुबोध हो, और उसके पठन-पाठन में उनका चित्त लगे,ऊबे नहीं; उसमें कुछ मनोरंजकता भी हो। इसी से इस पुस्तक में उदाहरण आदि इस प्रकार से रक्खे जाने का प्रयत्न किया गया है जिसमें पाठकों को बिना प्रयास वे हृदयङ्गम हो जांय, उनके समझने में अधिक दिक्क़त न हो और पाठक को इस विषय की अन्य पुस्तकें पढ़ने में सरलता ही न हो, किन्तु उनके मन में एक विशेष प्रकार की उत्सुकता उत्पन्न हो कि वे इस विषय के सिद्धान्तों को पूर्ण रूप से समझ कर यथोचित लाभ उठावें। हमारा प्रयास कहां तक सफल हुआ है यह पाठक स्वयं ही निर्णय करेंगे।

यदि हमारे इस प्रयास से जनता को कुछ भी सहायता स्वदेश के वाणिज्य-सुधार के विचारों में मिलेगी तो हम अपना प्रयत्न सफल समझेंगे। और भविष्य में इस विषय के अन्यान्य उपयोगी ग्रन्थों को सहृदय-पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करेंगे।

कानपुर,
ता० १—४—२३

आदर्श कार्यालय,
मेस्टन रोड कानपुर।

विषयानुक्रमणिका।

पहला अध्याय—विषय प्रवेश।

पहला परिच्छेद।

आर्थिक-युग और अर्थ-विज्ञान।

दूसरा परिच्छेद।

कुछ शब्दों का खुलासा।

तीसरा परिच्छेद।

सिक्का।

चौथा परिच्छेद।

कुछ फुटकर बातें।

दूसरा अध्याय सम्पत्ति का उत्पादन।

—:o:—

पांचवां परिच्छेद।

उत्पत्ति के साधन।

छठा परिच्छेद।

क्षेत्र।

सातवां परिच्छेद।

श्रम।

आठवां परिच्छेद।

पूंजी।

नवां परिच्छेद।

उत्पादन का संगठन।

दसवां परिच्छेद।

बैंक।

पहला अध्याय।

विषय प्रवेश।

॥ ओ३म् ॥

अर्थ-विज्ञान.

पहला अध्याय।

विषय-प्रवेश।

पहला परिच्छेद।

आर्थिक-युग और अर्थ-विज्ञान।

ब्राह्मण-काल।

मनुष्य का विकास चाहें बंदरों से हुआ हो, चाहें वह आकाश से पृथ्वी पर आया हो, अथवा, ईश्वर की कृपा से पृथ्वी फाड़ कर पैदा हुआ हो; पर, इस में सन्देह नहीं है कि, उसके मन में यह प्रश्न अवश्य आते होंगे कि यह संसार क्या है और हम क्या हैं ? मनुष्य-जाति का सब से प्राचीन इतिहास और साहित्य वेदों में है। वेदों के सम्बंध में हिन्दू लोग तो बहुत कुछ कहते हैं, पर उनको ध्यानपूर्वक अध्ययन करने वालों का भी यह मत है कि, वेदों में कहीं कहीं उच्च आध्यात्मिक

और लौकिक विचार पाये जाते हैं। मतलब यह कि, इस में कोई सन्देह करने का स्थान नहीं है कि, वैदिक काल में — उस काल में जो मनुष्य-जाति के इतिहास में प्राचीन से प्राचीन है — मनुष्यों का ध्यान आध्यात्मिक विचारों की ओर झुका। उस समय के लोग ईश्वर, जीव और मोक्ष आदि आध्यात्मिक विषयों का विचार करने लगे थे। तब पृथ्वी पर जंगल बहुत थे। फलों की कमी न थी। उस समय किसी को मिल में जाकर नौकरी करने की ज़रूरत न होती थी। किसी को अपना पेट पालने के लिए किसी का पंखा-कुली न बनना पड़ता था। सब को शाम तक भर पेट भोजन मिलता था। सब आराम से रहते थे। जब, समाज की ऐसी स्थिति हो, तब, सिवा आध्यात्मिक विचारों को हल करने के और मनुष्य के लिए काम ही क्या हो सकता है? मतलब यह कि, मनुष्य की आदिम ऐतिहासिक अवस्था में उसकी आध्यात्मिक भावनायें जागृत हुईं। इसे हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि, वह समय—वह काल— ब्राह्मण-काल था। मनुष्य-जीवन के इतिहास के इस विभाग का जिन्हें अध्ययन करना हो, उन्हें वेद, उपनिषद् और प्राचीन दर्शनशास्त्रों का मनन करना चाहिये।

शासन-काल।

किन्तु, समय के साथ ही मनुष्यों की प्रवृत्ति भी बदलती रहती है। कुछ समय बाद मनुष्य को पृथ्वी पर अधिकार जमाने की सूझी। लोग एक स्थान से चारों तरफ़ को चल पड़े और

हिंसक पशुओं व असभ्य जंगली जातियों को जीत जीत कर अपना शासन जमाने लगे। शासन का विस्तार बढ़ा। बड़े बड़े राज्य स्थापित हुए। अपने अपने राज को क़ायम रखने के लिए बड़ी बड़ी लड़ाइयां लड़ी गईं। यह लड़ाइयां प्रायः धार्मिक मतों की आड़ में ही हुआ करती थीं। पर असल में यह अपना अपना राज्य विस्तृत करने के ही लिए लड़ी जाती थीं। इतिहास के इस युग को हम शासन-काल कह सकते हैं। इस युग की विशेष बातों का अध्ययन करने के लिए संसार का गत पांच हज़ार वर्षों का इतिहास पढ़ना चाहिये और उस के राजनैतिक तत्वों का अध्ययन करना चाहिये।

वर्तमान, आर्थिक-काल।

इसके बाद, मनुष्यों की रुचि एक बार फिर बदली। मनुष्य-संख्या की दिन पर दिन बढ़ने वाली समस्या आई। बुद्धिमानों को चिन्ता होने लगी कि, इस बढ़ी हुई जन-संख्या के लिए काफ़ी योगक्षेम का मसाला कहां से आवेगा। फिर क्या था। दिनादिन सम्पत्ति के उत्पादन का कार्य्य बढ़ने लगा। अब शासन-काल का महत्व कम हुआ, आर्थिक-काल आया। हम इसी आर्थिक-युग में हैं। इसलिए, अगर हमें इस युग में रहना है और जीवन सुखपूर्वक व्यतीत करना है, तो फिर हमारे लिए सिवा इस आर्थिक-युग की बातों को समझ कर चलने के और कोई उपाय नहीं है। बस, इन्हीं आर्थिक-बातों का वर्णन अर्थ-विज्ञान में होता है।

ऊपर हमने जो ब्राह्मण-काल, शासन-काल और आर्थिक-काल का वर्णन किया, उससे हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि, ब्राह्मण-काल में शासन और अर्थ सम्बन्धिनी बातें ही नहीं थीं। हमारा अभिप्राय यह है कि, उन उन समयों में यद्यपि और और भी बातें थीं, जैसे, शासन-काल में भी आध्यात्मिक विषयों का अध्ययन होता था और वणिज-व्यापार होता था, पर, प्रधान विषय उस युग में शासन ही था। आजकल आर्थिक-काल है। पर इससे यह न समझना चाहिये कि आजकल आध्यात्मिक और शासन सम्बन्धिनी बातें हैं ही नहीं। इसका मतलब केवल इतना ही है कि, आजकल आर्थिक-बातों की ही प्रधानता है। और बातें भी हैं, पर मुख्य रूप से नहीं, गौण रूप से। अब तो बड़ी बड़ी लड़ाइयां भी व्यापार व्यवसाय के बढ़ने के लिए ही लड़ी जाती हैं। पर कहा यह जाता है कि वह स्वतंत्रता के लिए लड़ी जारही हैं। अस्तु बड़े बड़े मस्तिष्क जो आध्यात्मिक बातों का बड़ा सुन्दर विचार कर सकते थे अब ऐसे उपाय निकालने में ही व्यस्त हैं कि, किस प्रकार हमारा देश मालामाल हो जाय और दूसरों का कंगाल। मतलब यह कि, मनुष्य-जाति का इस समय प्रधान रूप से आर्थिक-बातों की ओर ही झुकाव है।

आर्थिक बातों के अध्ययन करने की आवश्यकता।

अगर कोई नगर हमारी आखों के सामने ही बसे तो उसकी सब बातें हमें अच्छी तरह से मालूम होने के कारण उसकी गलियों में हमें भटकना न पड़ेगा। पर अगर वह नगर हमारी आंखों के सामने

न वसा हो और हम उसमें यकायक पहुँचा दिये जांय, तो फिर, इसमें कोई सन्देह नहीं कि, विना रास्ता बतलानेवाले की मदद के हम उसमें सफलता के साथ घूम फिर न सकेंगे। संसार में इस समय जो आर्थिक-जाल फैला है, उसकी रचना शताब्दियों में हुई है। अतः विना इसका नियमपूर्वक अध्ययन किये हम यह न जान सकेंगे कि, इसका कौन तार कहां से चल कर और कहां कहां घूम कर किस जगह खतम हुआ है। केवल इतना ही नहीं कि हम इसे न जान सकेंगे, पर धोखा खाने और ठोकर खाने का भी अंदेशा रहे गा। एक उदाहरण लीजिए, जिसने कभी बाइस्कोप न देखा हो उसे आप अगर कलकत्ते के "पिकचर हाउस" में बिठला दीजिए और पूछिये कि यह सब क्या हो रहा है; तो वह बड़े चक्कर में पड़ जाय-गा। अगर वह बुद्धिमान् होगा तो अपनी अज्ञानता को स्वीकार कर चुप हो जायगा, पर, यदि वह मियां-लालबुझक्कड़ होंगे, तो फिर, तरह तरह के उत्तर देंगे। वह उत्तर ऐसे होंगे जिन्हें सुन कर जानने वाले को विना हँसी आये न रहे गी। उनका उत्तर तो सही तब हो सकता है जब वह बाइस्कोप की रचनाप्रणाली को समझ कर दिया जाय, परन्तु उसके समझने के लिए कुछ काल तक नियमपूर्वक अध्ययन करने की जरूरत है।

यही हाल वर्तमान आर्थिकजाल का है। इसे हम एक बार देखने से ही नहीं समझ सकते। इसे समझने के लिए हमें नियम-पूर्वक अध्ययन करना पड़ेगा। अगर हमें संसार में जिन्दा रहना है, और अगर हमें अपनी आगामी नसल को मनुष्य बना कर छोड़ना

दूसरा परिच्छेद ।

—:०:—

कुछ शब्दों का खुलासा ।

जब विद्यार्थी किसी नवीन विषय को ग्रहण करता है, तब उसके मन में सब से पहले यही प्रश्न उठता है कि, उस विषय के द्योतक मुख्य मुख्य शब्दों के अर्थ क्या हैं ? कुछ विषय ऐसे होते हैं जिनके मुख्य मुख्य शब्दों की नियमित परिभाषायें होती हैं। उसे विद्यार्थी रट लिया करते हैं। इस प्रकार वह अर्थ-जाल से बच जाते हैं। यद्यपि, अर्थ विज्ञान एकही है, तथापि 'अर्थ' शब्द के माने कई हैं। इतना ही नहीं, अर्थ शब्द साधारण व्यवहार में भी कई अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसलिए सब से पहले यह समझ लेना चाहिये कि, यह शब्द कहां कहां किन किन विशेषणों के साथ किस किस भाव को व्यक्त करता है।

अर्थ-विज्ञान किसे कहते हैं।

अर्थ-विज्ञान वह शास्त्र है, जिसमें सम्पत्ति की उत्पत्ति, क्षय और वितरण के नियमों का अध्ययन किया जाता है। इसी बात को साधारण रूप से इस प्रकार भी कह सकते हैं कि संसार की जातियां जिन नियमों के अनुसार सम्पत्ति उत्पन्न करतीं हैं और जिन नियमों के अनुसार उसका आपस में वितरण और क्षय करतीं हैं, उन्हीं नियमों को अर्थ-विज्ञान के नियम कहते हैं। अब इस

परिभाषा के एक एक शब्द का विचार कर लीजिए । 'अर्थ-विज्ञान' को ही लीजिए । यद्यपि इसके कई अर्थ हो सकते हैं, तथापि, यह अब उस विद्या के लिए रूढ़ि शब्द हो गया है, जिसका वर्णन हम ऊपर की पंक्तियों में कर चुके हैं । प्रायः सभी भाषाओं में इसके लिए भिन्न भिन्न शब्दों का प्रयोग किया गया है । हिन्दी में ही इसके लिए कई पर्य्यायवाची शब्द हैं । जैसे, "धन-शास्त्र", "मुद्रा-शास्त्र", "सम्पत्ति-शास्त्र", "अर्थ-शास्त्र" आदि । इसके बाद 'नियम' पर ध्यान दीजिये । नियम का अर्थ है क़ानून और साधारण व्यवहार में हम क़ानून उसे कहते हैं जिसमें किसी विधि या निषेध को आज्ञापूर्वक कहा जाय । इस प्रकार के क़ानून या तो धर्म-शास्त्रों में होते हैं, या फिर क़ानून बनानेवाली व्यवस्थापक सभायें उन्हें बनाती हैं । पर, 'विज्ञान' के नियम इस प्रकार के क़ानून नहीं होते । 'विज्ञान' के नियम तो केवल इतना ही बतलाते हैं कि, अमुक बात, अमुक परिस्थिति में, अमुक प्रकार से होगी । उदाहरणार्थ, भौतिक-विज्ञान के इस नियम को ही ले लीजिए कि, 'पहाड़ से पानी नीचे की तरफ़ गिरता है' बस इसी प्रकार के बहुत से नियम एकत्रित कर उनका परीक्षण और विचार कर विज्ञानों की रचना की जाती है । फिर व्यापक नियम बनाये जाते हैं । मतलब यह कि, इसी प्रकार के छोटे छोटे कई नियमों से हम इस प्रकार के नियम भी बना सकते हैं कि, 'अमुक परिस्थिति में पानी अमुक गति के साथ गिरेगा' । इन्हीं नियमों के अनुसार नहरें और बम्बे निकाले जाते हैं; उनसे देश की खेती में

सहायता होती है । अब देखिए, इस तरह के नियम मनुष्यों से यह नहीं कहते कि तुम अमुक कार्य्य करो और अमुक न करो । मतलब यह कि, ताज़िरात हिन्द (Penal Code) के नियमों में और विज्ञान के नियमों में बड़ा अन्तर है ।

अर्थ-विज्ञान और भौतिक-विज्ञान की तुलना ।

जिस तरह, भौतिक-विज्ञान की उत्पत्ति नित्यप्रति के भौतिक अनुभवों से है, उसी तरह, अर्थ-विज्ञान की उत्पत्ति भी सांसारिक व्यवहारों से है । सांसारिक व्यवहारों का विचारपूर्वक मनन कर जो परिणाम निकाले जाते हैं वही इसके नियम हैं । इन नियमों से यह पता चल जाता है कि, अमुक देश में, अमुक परिस्थिति के होने से, अमुक दशा उत्पन्न हो जायगी । किन्तु, यह फिर भी कह देना उचित होगा कि इस प्रकार के नियम सिर्फ़ इतना ही बतलाते हैं; वह किसी से यह आग्रह नहीं करते कि, तुम अमुक प्रकार से दौलत पैदा करो या उसे ख़र्च करो ।

अब भौतिक-विज्ञान और अर्थ-विज्ञान में अन्तर क्या है सो भी थोड़ा सा जान लीजिए । भौतिक-विज्ञान के विद्यार्थी अपने नियमों का परीक्षण करके देख सकते हैं । पर अर्थ-विज्ञान के विद्यार्थी के पास इस तरह के परीक्षण करने के साधन अत्यन्त अल्प होते हैं । अर्थ-विज्ञान के नियम दुनिया की घटनाओं को और उनके परिणामों को ही ध्यानपूर्वक निरीक्षण करने से बनाये जा सकते हैं । भौतिक-विज्ञान का विद्यार्थी पानी को कृत्रिम पहाड़ पर ढुलका कर जब चाहे तब देख सकता है कि, पानी किस दशा

में कितनी तेज़ी से नीचे गिरता है। पर अर्थ-विज्ञान का सम्बन्ध इस प्रकार के भौतिक पदार्थों से नहीं है। इसका सम्बन्ध तो उन मनुष्यों से है, जो सम्पत्ति का उत्पादन और व्यय करते हैं। मतलब यह कि, अर्थ-विज्ञान का विद्यार्थी मनुष्यों के रहन, सहन, उपार्जन और उपयोग के ढंगों को अपनी इच्छा के अनुसार बदल कर देख नहीं सकता। वह तो किसी ख़ास परिस्थिति के बदलने के समय उसे देख कर यह विचार आज कर सकता है कि, इसके क्या परिणाम होते हैं। यही कारण है कि, भौतिक-विज्ञान के नियमों के मुक़ाबिले अर्थ-विज्ञान के नियम कम स्पष्ट और परिवर्तनशील हैं। परिवर्तनशील वह इसलिए हैं कि, तमाम परिस्थितियों का बिना ग़लती किये हुए अध्ययन कर लेना बड़ा कठिन काम है। इस कठिनाई को हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा। पर इस कठिनाई को जीतने की चेष्टा करते हुए हमें ख़ुद परिस्थितियों का अध्ययन करना चाहिए और परिणाम निकालने की चेष्टा करनी चाहिए। पर पूर्व इसके कि हम परिणामों का अध्ययन कर नियम बनाने की चेष्टा करें, हमें उन निश्चित नियमों का एक बार अध्ययन कर डालना चाहिए जिन्हें बड़े बड़े अर्थ-विज्ञानियों ने बड़े परिश्रम से बनाया है। यह बात हम कह चुके हैं कि, अर्थ-विज्ञान के विद्यार्थी के पास कोई प्रयोगशाला नहीं हो सकती जिसमें वह अपने नियमों का परीक्षण करके उनकी सत्यता को प्रत्यक्ष देख सके। इसलिए, इस विषय में उसे पुस्तकों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। अर्थ-विज्ञान का इति-

हास और आंकड़ों की पुस्तकें ही उसकी प्रयोगशाला का काम दे सकतीं हैं। प्राचीन काल की जातियों की सम्पत्ति की उत्पत्ति और नाश का ही इतिहास अर्थ-विज्ञान का इतिहास है। उसी के परिवर्तनों को अंकों में ऐसे ढंग से रखने को जिसमें उसके क्रम-विकास का ज्ञान हो जाय, आंकड़े कहते हैं। पर, इतिहास और आंकड़ों के आधार पर अध्ययन करने के भी पूर्व उन नियमों का अध्ययन कर लेना चाहिये जिनका अच्छी तरह से निर्णय हो चुका है।

विज्ञान क्या है।

अब 'विज्ञान' शब्द के सम्बन्ध में भी कुछ कहना अनुचित न होगा। विज्ञान के खास अर्थ तो विशेष ज्ञान के हैं। पर, अर्थ-विज्ञान का ज्ञान एक सीमा में सीमित है, (अर्थात् उसके नियमों का ज्ञान)। परन्तु, इस से यह न समझ लेना चाहिये कि 'पानी नीचे की तरफ़ गिरता है' यही विज्ञान है, किन्तु, इस प्रकार के नियमों के समूह को विज्ञान कहते हैं। एक समय था जब अर्थ-विज्ञान का अस्तित्व ही नहीं था; पर, इस से यह न समझ लेना चाहिये कि उस समय सम्पत्ति की उत्पत्ति, क्षय और वितरण होते ही नहीं थे; किन्तु, इसका मतलब यह है कि, उस समय तक उत्पादन और क्षय के नियमों का वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन ही नहीं किया गया था और न कोई व्यापक नियम ही थे। पर अब उसका काफ़ी अध्ययन हुआ है और व्यापक नियम भी बना लिये गये हैं; इसीलिए, अब हम उसे विज्ञान शब्द के साथ

स्मरण करते हैं।

सम्पत्ति क्या है ।

हमारे विज्ञान का मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'सम्पत्ति' है; अतः इस पर भी हमको अब विचार कर लेना चाहिये । अर्थ शब्द की ही भांति सम्पत्ति शब्द के भी कई अर्थ हो सकते हैं। जब हम साधारण रूप से किसी मनुष्य की सम्पत्ति का विचार करते हैं, तब, हम उसकी तमाम चीज़ों की सम्पत्ति में गणना करते हैं; जैसे, घर, गाड़ी, घोड़ा, सोना, चांदी आदि जो कुछ उसका रुपया सरकार के पास अमानत के तौर पर होता है; या, उधार व्यवहार में होता है; अथवा, रोज़गार में लगता है, उस सबकी गणना भी हम उसकी सम्पत्ति में ही करते हैं। जब हम यह देखना चाहते हैं कि, दो मनुष्यों में किस के पास अधिक सम्पत्ति है, तब, हम दोनों की इसी प्रकार की वस्तुओं की तुलना कर के फ़ैसला करते हैं। हम इन वस्तुओं की तौल नाप रुपयों में करते हैं और कहते हैं कि, अमुक मनुष्य लखपती है, या, करोड़पती है, या इस से कम ज्यादा है। पर प्रश्न होता है कि, घोड़ा, गाड़ी, घर, जमीन आदि चीज़ें सब एक दूसरे से भिन्न भिन्न हैं, फिर हम इनकी गणना एक 'सम्पत्ति' में ही क्यों करते हैं? वह कौन सी बात है जिसके कारण यह सब चीज़ें एक सम्पत्ति शब्द के ही अन्तर्गत हो जाती हैं। अर्थात्, सम्पत्ति की परिभाषा क्या है? इसका उत्तर यह हो सकता है कि, हम जिन चीज़ों को अपने अधिकार में रखना चाहते हैं वह सब सम्पत्ति हैं। यद्यपि, यह सच है कि,

बहुत से लोग ऐसे भी हैं जो इन चीज़ों को रखना नहीं चाहते, पर, इस प्रकार के लोग वैरागी या संन्यासी ही हो सकते हैं। और वैरागी या त्यागियों के लिए अर्थ-विज्ञान है भी नहीं। अर्थ-विज्ञान तो उन्हीं का है जो इस प्रकार की चीज़ों का रखना पसंद करते हैं। इस तरह के लोगों की भारतवर्ष में कमी नहीं है। अच्छा तो, जब यह मान लिया कि, सर्वसाधारण लोग जिन चीज़ों का रखना पसंद करते हैं, उन्हीं चीज़ों का नाम सम्पत्ति है, तो फिर, हमें यह कहना चाहिए कि, समस्त वांछित वस्तुयें सम्पत्ति हैं। किन्तु, जब हम यह कहते हैं कि, वह तमाम चीज़ें जिन्हें हम सम्पत्ति कहते हैं वांछित वस्तुयें हैं, तब, इसके माने यह नहीं होते कि, समस्त वांछित वस्तुयें ही सम्पत्ति हैं। उदाहरण लीजिये, कुटुम्ब-प्रेम, मैत्री, आदि वांछित हैं, पर वह सम्पत्ति नहीं; कारण यह है कि इनका कोई मूल्य निर्धारित नहीं हो सकता। हम यह नहीं कह सकते कि, पुत्र-प्रेम के कारण अमुक की सम्पत्ति बढ़ गई। बहुत सी अन्य वांछित वस्तुयें और भी हैं; जिनका हम सम्पत्ति शब्द के साधारण अर्थ में समावेश नहीं कर सकते। अच्छी तन्दुरुस्ती, खेलों में निपुणता आदि सभी को वांछित हैं, पर, इन्हें भी हम सम्पत्ति के साधारण अर्थ में नहीं ला सकते। ऐसी दशा में हमें इस बात का अब विचार करना चाहिये कि कौन कौन वांछित वस्तुओं को हम सम्पत्ति कह सकते हैं।

वांछित वस्तुओं के विभाग कई प्रकार से किये जा सकते हैं।

सबसे स्पष्ट रूप से हम उन्हें दो भागों में बाँट सकते हैं। वह विभाग भौतिक और अभौतिक, यह दो हैं। भौतिक-वांछित वस्तुयें वह हैं जिन्हें हम आंखों से देख सकते हैं और हाथ से छू सकते हैं। अभौतिक वांछनीय वस्तुयें वह हैं जिन्हें हम आंखों से देख नहीं सकते और हाथों से छू नहीं सकते। भौतिक श्रेणी में घोड़ा, गाड़ी, सोना, चांदी, आदि चीजें हैं। प्रायः सम्पत्ति शब्द इसी प्रकार की भौतिक वांछनीय वस्तुओं का ही द्योतक है। अभौतिक वांछनीय वस्तुओं के दो भेद हैं। एक आन्तरिक, दूसरा वाह्य। आन्तरिक अभौतिक वांछनीय वस्तुयें वह हैं जिनका सम्बन्ध मनुष्य की भीतरी बातों से है। जैसे अच्छी तन्दुरुस्ती, किसी पेशे में प्रवीणता, आदि इस प्रकार की वस्तुओं से हम भौतिक-सम्पत्ति उत्पन्न कर सकते हैं। पर हम अच्छी तन्दुरुस्ती व किसी पेशे की प्रवीणता को सम्पत्ति नहीं कह सकते। दूसरे प्रकार की, अर्थात्, वाह्य अभौतिक वांछनीय वस्तुयें वह हैं जो दूसरों की सहायता से मनुष्य में उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार की चीजों का सब से सुन्दर उदाहरण "शुहरत" और "प्रसिद्धि" हैं। सफल और नामी व्यापारी केवल अपनी दुकान की वस्तु का ही दाम नहीं लेता, किन्तु साथ ही, वह अपनी शुहरत के भी कुछ दाम लेता है। ग्राहक उसके नाम की प्रसिद्धि के कारण उसकी दुकान पर सौदा लेने अधिक आते हैं। और यही कारण है कि, बड़े बड़े शहरों में यह देखा जाता है कि, पुरानी दुकानें बिना अपना नाम बदले चला करती हैं। उनके मालिक बदल जाते हैं, पर पुराना नाम नहीं बदलता। इसका कारण यही

है कि प्राचीन नाम बदलने से उस दुकान की पुरानी शुहरत नष्ट होने का भय रहता है। इससे व्यापार में कमी होने का — ग्राहक टूट जाने का भी अंदेशा रहता है । इसी प्रकार, एक प्रसिद्ध वैद्य के औषधालय का भी नाम नहीं बदला जाता है और उसी औषधालय में दूसरा वैद्य काम करने लगता है। इसका भी कारण पहले वैद्य की शुहरत ही है। यद्यपि सर्वसाधारणमें इस प्रकार की शुहरत और अभ्यास का महत्व बहुत कम रहता है, पर व्यापारियों की दृष्टिमें यह बहुत ही महत्वपूर्ण चीजें हैं। इसीलिए, एक फ़र्म या व्यक्तिविशेष की सम्पत्ति की गणना करने में उसकी शुहरत और अभ्यास का भी मूल्य लगाना पड़ता है।

अब हम साधारण रूप से यह कह सकते हैं कि तमाम वांछित भौतिक वस्तुयें और कुछ बाह्य अभौतिक वांछनीय वस्तुयें (जैसे शुहरत और अभ्यास) सम्पत्ति हैं। देखिये, आरोग्यता प्रदान करनेवाली आब-हवा और स्वच्छ नगर यद्यपि वांछित होते हैं, तथापि, वह सम्पत्ति नहीं कहे जा सकते। ऐसी दशा में, हमें सम्पत्ति की जांच करने की एक ऐसी कसौटी जान लेना चाहिये जो सब जगह काम दे। वह कसौटी यह है कि, वह वस्तुयें जिन्हें बेचा जा सकता है, या जिनके बदले में दूसरी वस्तु मिल सकती है, अथवा, इसे इस प्रकार कहिये कि, जो विनिमय साध्य हैं वह सम्पत्ति हैं। बस, यही सम्पत्ति की परिभाषा है। भिन्न भिन्न लेखकों ने अपनी अपनी पुस्तकों में सम्पत्ति के अर्थ भिन्न भिन्न प्रकार से किये हैं, इसलिए, जब जिस लेखक की पुस्तक पढ़ी

जाय तब इस बात का ध्यान रक्खा जाय कि उस लेखक ने सम्पत्ति का अर्थ क्या किया है।

व्यक्ति की और जाति की सम्पत्ति।

अर्थ-विज्ञान में कभी कभी एक जाति की सम्पत्ति का भी विचार करना पड़ता है। जाति की सम्पत्ति में दो प्रकार की चीजें होती हैं; एक तो उसमें उस जाति के प्रत्येक व्यक्ति की सम्पत्ति की गणना होती है, दूसरे उसमें उन चीजों की गणना होती है जो किसी व्यक्ति विशेष की सम्पत्ति नहीं है। यदि हमें प्रत्येक व्यक्ति की सम्पत्ति का हाल मालूम हो जाय—अर्थात, हम यह अच्छी तरह से जान जांच कि, अमुक जाति के व्यक्तियों के पास क्या और कितनी सम्पत्ति है, तो फिर, सारी जाति की सम्पत्ति हम गणित के द्वारा अच्छी तरह से जान सकते हैं। पर कठिनाई तो व्यक्तियों की सम्पत्ति के जानने में ही पड़ती है। यह कठिनाई तब और बढ़ जाती है जब हम सारी जाति के व्यक्तियों की सम्पत्ति को जानने की चेष्टा करते हैं। हमारे नवीन पाठक इस कठिनाई को तब तक अच्छी तरह से अनुभव नहीं कर सकते जब तक वह उस श्रेणी तक इस विज्ञान में न बढ़ जांय जिस श्रेणी में इस प्रकार की बातें आ जाती हैं। अभी तो उन्हें किन्तु परन्तु का प्रयोग न कर केवल इस बात को मान लेना चाहिए कि, इस प्रकार की कठिनाई होती है और उसे दूर करने के लिए बहुत बड़े परिश्रम और बहुत बड़ी विकसित सच्ची कल्पना-शक्ति तथा निर्णय करने की न्यायशक्ति की आवश्यकता है। अब

दूसरी बात को लीजिए अर्थात, जाति की सम्पत्ति के उस भाग का विचार कीजिए जो किसी व्यक्ति विशेष की सम्पत्ति नहीं होती। जातीयसम्पत्ति का यह भाग समस्त जाति का होता है, वह किसी व्यक्ति विशेष का नहीं होता। इसमें ऐसी चीजें होती हैं जैसे नहर, रेल, तार, सरकारी इमारतें, आदि। कुछ लोग सरकार के संगठन को भी जातीय सम्पत्ति में ही गणना करते हैं। किन्तु इस प्रकार की नुक्ताचीनी की बातों की अभी आवश्यकता नहीं है। पर जब किसी लेखक का इस विषय में लेख पढ़ा जाय तब यह बात ध्यान में रक्खी जाय कि वह जातीय-सम्पत्ति में किन किन चीजों की गणना करता है। जातीय-सम्पत्ति के बड़े बड़े हिस्से जाति के पास ही नहीं हुआ करते, वह जाति के विभागों और उप-विभागों के पास भी होते हैं। अब कल्पना कीजिए कि भारतवर्ष की जातीय-सम्पत्ति की हमें गणना करना है। ऐसी दशा में, सब से पहले हमें व्यक्तियों की सम्पत्ति की गणना करना चाहिये; उसके बाद भारत सरकार की सम्पत्ति की, फिर, प्रत्येक प्रान्तीय सरकारों की, तत्पश्चात डिस्ट्रिक्टबोर्ड और म्युनिसिपलटियों की और यहांतक कि ग्राम-कमेटियों को भी न छोड़ना चाहिए। प्रान्तीय सरकारों की सम्पत्ति में सड़कें और नदियों के पुल आदि आ जायंगे। इसमें उन इमारतों की गणना भी हो जायगी जो प्रान्तीय सरकारों के अधिकार में हैं। म्यूनीसिपैल्टियों की सम्पत्ति में उनके लैम्प, नाले, जलकल, ट्राम्वे, आदि की गणना हो जायगी। लोकल-बोर्डों में उसके स्कूल, पुल, दवाखाने

आदि आ जायँगे। ग्राम-पंचायतों की सम्पत्ति में कुएँ, तालाब, आदि। बस इसी प्रकार की भिन्न भिन्न सम्पत्तियों से जातीय-सम्पत्ति की रचना होती है। इसमें जनता की अन्य संस्थाओं को भी शामिल कर लेना चाहिए। जैसे दातव्य, औषधालय, मंदिर और मस्जिदों की सम्पत्ति, सर्वसाधारण के स्कूल आदि यह भी सब जातीय सम्पत्ति के ही भाग हैं।

एक बात और रह गई; वह यह कि, किसी व्यक्ति या जाति की सम्पत्ति की गणना करते समय हमें उसके ऋण की ओर भी ध्यान रखना चाहिए। यदि एक ज़मींदार की सम्पत्ति की हमें गणना करना है, तो, हमें उसके रहन किए हुए ग्रामों की पूरी क़ीमत न लगा लेना चाहिए; हमें उतनी ही क़ीमत लगाना चाहिए जितने में वे रहन हैं। इसी प्रकार यदि किसी लोकल बोर्ड ने जलकल या और किसी काम के लिए कुछ रुपया उधार लिया है, तो हमें उसकी सम्पत्ति में उक्त ऋण घटा देना चाहिए। मतलब यह कि, समस्त जातीय ऋण को घटा कर जातीय सम्पत्ति की गणना करना चाहिए।

सम्पत्ति शब्द के समझाने में काफ़ी विस्तार हो चुका। पर पाठकों को यह बात सदा ध्यान में रखना चाहिए कि केवल पढ़ लेने से ही वे इसे नहीं समझ सकते—इसकी परिभाषाओं को ज़बानी रट लेने से ही काम नहीं चल सकता। इसे हृदयङ्गम करने की जरूरत है। मनन करना और व्यवहार करते समय मनन करना, पुस्तक पढ़ लेने मात्र से अधिक उपयोगी होता

है। हमें आते जाते इस प्रकार की बातें सोचना चाहिए कि अमुक मंदिर, अमुक औषधालय, अमुक पुल, क्या संपत्ति है? और यदि है, तो किस की सम्पत्ति है?

मालियत और क़ीमत।

'मालियत' शब्द का सम्पत्ति शब्द से बहुत ही घना सम्बन्ध है। इसलिए, इस का अर्थ भी स्पष्ट कर लेना चाहिए। इस शब्द का भी साधारण व्यवहार भिन्न अर्थों में होता है। जब हम किसी वस्तु को अत्यन्त मूल्यवान् या अमूल्य कहते हैं, तब हम उस वस्तु की एक प्रकार से प्रशंसा सी करते हैं। पर, अर्थ-विज्ञान में मालियत शब्द का प्रयोग दूसरे अर्थ में होता है; इसे हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। हमें यह स्वीकार करके आगे बढ़ना चाहिए, कि, मनुष्य सदा अपनी सम्पत्ति के टुकड़ों को आपस में बदला करते हैं। और मालियत उसी बदले में आने वाली वस्तु की मात्रा या मिक़दार का नाम है। मालियत शब्द हमेशा एक दूसरे की तुलना में ही आया करता है। यदि दुनिया भर में एक ही वस्तु होती तो मालियत शब्द का आस्तित्व ही न होता। मालियत शब्द के ठीक ठीक अर्थ को समझ लेने के लिए एक उदाहरण लीजिए। यदि किसी किसान को एक सेर घी की आवश्यकता है, तो उसे प्राप्त करने के उसके लिए दो मार्ग हैं। पहला तो यह कि, वह उसे किसी घीवाले की दूकान से ख़रीदे; और दूसरा यह कि, वह अपने किसी ऐसे पड़ोसी से जिसके पास घी हो, पाँच सेर गेहूं देकर लेले। अब अगर दोनों ही (घी और गेहूंवाले) किसान इस आपस के

(घी और गेहूं के) बदले में राज़ी होजाँय तो कहना पड़ेगा कि, एक सेर घी की मालियत पांच सेर गेहूं है और पांच सेर गेहूं की मालियत एक सेर घी है। यह दो बातें नहीं हैं, पर एक ही बात को दो तरह से कहने के तरीक़े हैं; और वह बात जिसके प्रकट करने के यह दो तरीक़े हैं, घी और गेहूं के बीच के सम्बन्ध की है। अब यदि किसान किसी दुकान से घी को ख़रीदता और वह उसे एक रुपये में ख़रीदता तो यह कहा जाता कि, एक सेर घी की क़ीमत एक रुपया है और एक रुपये की मालियत एक सेर घी है। यहां पर, मालियत और क़ीमत के भेद को समझ लेना चाहिए। अंग्रेजी के value शब्द के लिए मालियत और price के लिए क़ीमत का प्रयोग किया गया है। जब किसी चीज़ के बदले में आनेवाली चीज़ को रुपयों पैसों में कहा जाता है तब वह उसकी क़ीमत कहलाती है और जब किसी चीज़ के बदले में आनेवाली कोई चीज़ ही होती है तब उसे मालियत कहते हैं। इस भेद को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

राष्ट्रों ने कुछ चीज़ों को सुभीते के लिए दौलतमान लिया है। सिक्का दौलत के रूप में मालियत का ही द्योतक है।

तीसरा परिच्छेद ।

—:o:—

सिक्का ।

इस जगह यह प्रश्न उपस्थित होना स्वाभाविक ही है कि, सिक्के का असली स्वरूप क्या है ? उसका चलन क्यों हुआ ?

सिक्के की आवश्यकता ।

वहुत पुराने जमाने में सिक्के का चलन नहीं था । सिक्के का चलन कब से हुआ, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता । पर, इसमें सन्देह नहीं कि, विनिमय में होनेवाली दिक्कतों को दूर करने के लिए ही सिक्के का चलन हुआ । यह दिक्कतें क्या हैं, सो भी जान लीजिये । कल्पना कीजिये कि, किसी किसान के पास उसकी जरूरत से ज्यादा नाज है, पर उसे कपड़े की जरूरत है, ऐसी दशा में उसकी ज़रूरत रफ़ा करने का केवल यही मार्ग है कि, वह किसी को (जिस किसी के पास कपड़ा हो) नाज देकर, बदले में कपड़ा ले ले। पर, यह तभी हो सकता है, जब उसे कोई ऐसा आदमी मिले जिसके पास कपड़ा हो, और नाज की जरूरत हो। तभी तो वह नाज लेकर कपड़ा देगा ? पर उसे अगर नाज की ज़रूरत न होकर जूतों की जरूरत हुई, तब फिर, वह कपड़ा देकर नाज लेना क्यों स्वीकार करेगा ? कपड़ेवाला किसी ऐसे चमार को ढूँढता फिरेगा जिसे कपड़े की जरूरत हो; और नाज वाला किसी ऐसे को ढूँढता फिरेगा जिसके पास कपड़ा हो और

नाज की ज़रूरत हो। यह दिक़्क़त की बात हुई। सिक्के के चलन से यह दिक़्क़त दूर हो सकती है। अगर, सिक्के का चलन हो तो, यह दिक़्क़त न उठानी पड़े। जब व्यापार छोटी सीमा में होता है, तब इस प्रकार की दिक़्क़तें भी कम उठानी पड़ती हैं। पर, जैसे ही जैसे, व्यापार बढ़ता जाता है, वैसे ही वैसे, उक्त दिक़्क़तें भी बढ़ती जाती हैं। बिना सिक्के के, उक्त दिक़्क़तें दूर नहीं हो सकतीं। सिक्के का चलन होने से, जिसे जो चीज़ बेचना होगी, वह सिक्का लेकर बेच देगा, और जिसे जो चीज़ ख़रीदना होगी वह सिक्का देकर ख़रीद लेगा। अभी तक, जिन जिन देहातों में व्यापार बहुत छोटी सीमा में होता है, वहां सिक्के का चलन बहुत कम पाया जाता है। पहले पहल जब लोगों को सिक्के की ज़रूरत मालूम हुई, तब उन्होंने भिन्न भिन्न प्रकार की चीज़ों को सिक्के की जगह बर्ता। कहीं मुर्ग़ी के अंडे, कहीं कौड़ियां, और कहीं चाय की डब्बियां सिक्के के रूप में चलीं। पर, उन सब में वह सब गुण नहीं थे, जिनका होना सिक्के में आवश्यक है।

सिक्के के सात गुण।

पहला गुण सिक्के में यह होना चाहिए कि, उसमें प्राकृतिक मालियत हो। सिक्का ऐसी चीज़ का हो, जिसे सब लोग मूल्यवान समझते हों। तभी तो लोग उसे लेने की इच्छा करेंगे? किसी चीज़ का मूल्य, उसको दो बातों से होता है, एक तो, उसमें आवश्यकताओं की पूर्ति करने का गुण होना चाहिए, और दूसरी यह कि, उसकी अप्रचुरता होना चाहिए, अर्थात, उसके प्राप्त करने

में कुछ श्रम होना चाहिए। इन्हीं दो बातों को हम एक में मिला कर, एक प्रकार कह सकते हैं कि, जिस चीज का सिक्का हो उस चीज में प्राकृतिक मालियत का होना जरूरी है।

दूसरी बात यह कि, वह आसानी से इधर उधर ले जाई जा सकने के लायक़ होना चाहिए। अनाज में वह गुण नहीं है, इसी से वह सिक्के का काम न दे सका। मतलब यह कि, सिक्के जिस चीज के बनें वह ऐसी हो जो क़ीमती हो और थोड़ी होकर क़ीमती हो; जिससे उसे लाने और ले जाने में दिक़्क़त न हो।

तीसरी बात यह होना ज़रूरी है कि, सिक्के जिस चीज के बनें उसमें अक्षयता अधिक हो। अगर नमक के या मिश्री के सिक्के बनाये जांय, तो ज़रा सा पानी पड़ने से वह गल जांय। यद्यपि, सभी चीज़ों का कुछ न कुछ क्षय होता ही है, तथापि, कोई चीज़ बहुत शीघ्र नष्ट हो जाती है—घिस जाती है या खिर जाती है; और किसी, चीज़ के नष्ट होने, घिसने व खिरने में बहुत समय लगता है। बस सिक्के उसी चीज़ के अच्छे होंगे, जिनमें अक्षयता अधिक होगी।

चौथा गुण समानता का है। जिस चीज़ के सिक्के बनें, वह ऐसी होनी चाहिए जो एक हद तक, समान रूप से शुद्ध की जा सके, जिससे उसका मूल्य एक सा हो सके। हीरा, पन्ना, मोती आदि रत्न जैसे होते हैं वैसे ही रहते हैं। उनको समान रूप से, किसी हद तक, शुद्ध करके उनके मूल्य में समानता नहीं की जा सकती। मतलब यह कि, हम, सब हीरों को समान रूप से

शुद्ध कर एक भाव के नहीं बना सकते। इसीलिए, हीरे आदि सिक्के का काम सफलता के साथ नहीं दे सकते। सिक्का उसी चीज़ का हो सकता है, जिसमें उक्त प्रकार की समानता होगी।

पांचवीं बात यह होना चाहिए कि, जिस चीज़ के सिक्के बनें, उस चीज़ के टुकड़े बिना उसकी क़ीमत घटे हो जांय। देखिये हीरे में यह बात भी नहीं है। ४ रत्ती का अगर कोई हीरा १०००) रुपयों का है, तो अगर, उस हीरे के दो टुकड़े दो दो रत्ती के कर दिये जांय, तो उन दो टुकड़ों की क़ीमत, पांच-पांच सौ रुपये कदापि न होगी; वह घट जायगी, बहुत सम्भव है कि वह टुकड़े तीन-तीन सौ के ही रह जांय। सिक्के में यह ऐब न होना चाहिए।

छठी बात यह होना ज़रूरी है कि, सिक्के जिस चीज़ के बनें उस चीज़ को ऐसी होना चाहिए जिसके मूल्य में परिवर्तन न हो, पर संसार में ऐसी कोई भी चीज़ नहीं है जिसके मूल्य में कमी वेशी न होती हो। तो फिर कहना यह चाहिये कि, सिक्के ऐसी चीज़ के बनें जिसके मूल्य में बहुत ही कम परिवर्तन होने की सम्भावना हो। ऐसी चीज़ का मिलना भी दुर्लभ नहीं है। ऐसी बहुत सी चीजें हैं जिनके मूल्य में अपेक्षाकृत कम परिवर्तन होते हैं।

अन्तिम और सातवां गुण सिक्के के द्रव्य का यह होना चाहिये कि वह आसानी से पहिंचाना जा सके। नक़ली और असली में शीघ्र अन्तर ज्ञात हो जाय। साथ ही, यह भी ज़रूरी है कि, उसमें किसी प्रकार की बू या स्वाद न होना चाहिये। उसे ऐसा भी होना चाहिये जिसमें ठप्पा आसानी से उठ सके, और वह जल्दी नष्ट न हो;

इससे उसके परखने में शीघ्रता और सुगमता होगी।

इन्हीं सात गुणों का सिक्कों में होना जरूरी है। जिसमें यह गुण जितने ही अधिक होंगे, उसका बना हुआ सिक्का भी उतना ही अधिक सुभीते का होगा। इन गुणों पर ध्यानपूर्वक विचार करने से ज्ञात होगा कि, यह गुण सोने चांदी में बहुतायत से हैं। इनमें से कई गुण ऐसे हैं जो एक दूसरे पर निर्भर हैं। उदाहरण लीजिये, दूसरा गुण हमने यह बतलाया कि, सिक्के के द्रव्य को ऐसा होना चाहिये जिससे वह आसानी के साथ स्थानान्तरित किया जा सके, साथ ही, छठा गुण यह बतलाया कि, उसके मूल्य में बहुत कम परिवर्तन होता हो। अब देखिये, जो चीज आसानी से स्थानान्तरित की जा सकेगी, उसके मूल्य में निस्संदेह बहुत कम परिवर्तन होंगे। लकड़ी आसानी से स्थानान्तरित नहीं की जा सकती, उसे एक जगह से दूसरी जगह भेजने में बहुत खर्च बैठता है। इसीलिए, लकड़ी कहीं महंगी और कहीं सस्ती बिकती है। पर, सुवर्ण के विषय में यह बात नहीं; उसे सब जगह आसानी से पहुंचाया जा सकता है। यही कारण है कि, सब जगह उसका भाव क़रीब २ एक ही सा रहता है। संग्रह और मांग के नियमों के समझ लेने के बाद यह बात अच्छी तरह समझ में आजायगी।

सोना चांदी और उक्त सात गुण।

अब, इन गुणों का विचार सोने चांदी के विषय में कीजिये। सोना चांदी जितनी जल्दी खनखनाने और देखने से पहिचाने जा सकते हैं, उतनी जल्दी, हीरा मोती आदि रत्न नहीं पहचाने जा

सकते। उन पर ठप्पा भी नहीं उठ सकता, पर, सोने चांदी पर उठ सकता है और वह टिकाऊ भी होता है। उस में मूल्य की स्थिरता भी है — सभी कहीं प्रायः उसका मूल्य एक समान ही रहता है। और घटता बढ़ता भी बहुत कम है। हीरा आदि अन्य रत्नों में यह बात नहीं पाई जाती। पांचवां गुण भी सोने चांदी में है। उसके टुकड़े करने से उसकी क़ीमत नहीं घटती। उसमें चौथा समता का गुण भी है। अर्थात्, एक सीमा तक समान रूप से उसे शुद्ध किया जा सकता है, और ऐसा करने पर उसके मूल्य में समता आ जाती है। तीसरा गुण अक्षयता का भी अच्छी मात्रा में है। दूसरे गुण के होने के कारण वह आसानी से स्थानान्तरित भी किया जा सकता है। अन्त में, पहला गुण क़ुदरती मालियत का भी उसमें मौजूद है। बहुत पुराने ज़माने से लोग बाग सोने चांदी को क़ीमती मानते चले आये हैं, और आशा है कि, अभी मानते चले जायँगे। सोने चांदी में यह सब गुण हैं; इसी लिए, उसके सिक्के बनते हैं और सफलता से चलते हैं।

सोना चांदी ख़ुद सम्पत्ति नहीं। वह सम्पत्ति की तौल है। अतएव, उसे ही सम्पत्ति समझना भूल है, क्योंकि, वह एक मानी हुई सम्पत्ति है; सम्पत्ति का प्रधान गुण आवश्यकपन, उसमें स्वाभाविक रूप से नहीं है। मतलब यह कि, लोगों ने मिल कर उसे सम्पत्ति मान लिया है।

चौथा परिच्छेद।

कुछ फुटकर बातें।

अर्थ-विज्ञान के तीन मुख्य विभाग किये जाते हैं :—

(१) सम्पत्ति की उत्पत्ति,

(२) सम्पत्ति का क्षय,

(३) सम्पत्ति का वितरण।

जिस तरह से सम्पत्ति व्यवहार के योग्य बनती है उसे सम्पत्ति की उत्पत्ति कहते हैं। 'क्षय' ठीक इसके विरुद्ध है। क्षय उसे कहते हैं, जिसमें सम्पत्ति का व्यवहार होता है और जिसमें सम्पत्ति बर्ती जाकर नष्ट होती है। वितरण वह है जिसमें सम्पत्ति और लोगों के अधिकार में चली जाती है। सम्पत्ति सम्बन्धी इन्हीं तीन बातों का अध्ययन करना अर्थ-विज्ञान का काम है। हमें इन तीन शाखाओं में एक एक को लेकर अध्ययन करना चाहिये। किन्तु साथ ही अन्य शाखाओं के आस्तित्व को भुला भी न देना चाहिये। मतलब यह कि जब आप उत्पत्ति के नियमों का अध्ययन करने लगें तब आपको यह न समझ लेना चाहिये कि सम्पत्ति की उत्पत्ति मात्र ही है, किन्तु आपको ध्यान में रखना चाहिये कि सम्पत्ति भोगने के लिए उत्पन्न की जाती है। ठीक इसी तरह, क्षय के नियमों का अध्ययन करने के समय, यह न भूल जाना चाहिये कि, जो लोग सम्पत्ति का क्षय करते हैं, वह उसका उत्पादन भी

करते हैं, तथा, उनका क्षय करना, उनके उत्पादन करने पर बहुत कुछ निर्भर रहता है।

उत्पादन के अर्थ क्या हैं।

सब से प्रथम इस बात को स्पष्ट कर लेना चाहिये कि जब सम्पत्ति की उत्पत्ति होती है, तब, उसमें क्या बात पैदा हो जाती है? यद्यपि, यह सत्य है कि, सम्पत्ति प्रायः भौतिक पदार्थों की ही होती है। ऐसी दशा में, जब हम यह कहते हैं कि, "सम्पत्ति की उत्पत्ति होती है" तो, हमारे इस कथन का यह अर्थ नहीं होता कि, हम नये भौतिक पदार्थों को आस्तित्व में ला रहे हैं; क्योंकि, यह बात भौतिक-विज्ञान के सिद्धान्तों के अनुसार असम्भव है। ऐसी दशा में, हमें इस बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि, 'उत्पत्ति' और 'क्षय' से हमारा तात्पर्य्य क्या है? इसे समझने के लिए नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं:—

दर्ज़ी को ही लीजिये, वह कपड़े को नाप कर काटता है और उसे सीं कर कोट तय्यार कर देता है। वह न सूत कातता है और न कपड़ा ही बिनता है। वह तो बने बनाये कपड़े को एक क्रम दे देता है। इसी तरह से वह अपनी सिलाई के पैसे सीधे करता है। तो फिर इस से यह बात स्पष्ट हो गई कि बिना किसी नये पदार्थ को पैदा किये ही, उसने, सिर्फ़ बने बनाये कपड़ों को ही क्रम देकर सम्पत्ति पैदा कर ली। कपड़ा जुलाहे के यहां से आया था। अब अगर हम जुलाहे के काम को देखते हैं तो वहां भी यही बात पाते हैं। जुलाहा भी कपड़ा तय्यार करने में कोई नई चीज़

नहीं पैदा करता, किन्तु, पहले से तय्यार सूत को एक क्रम देकर कपड़ा तय्यार कर देता है। अब सूत कातनेवाले को देखिये; वह भी कोई नई चीज़ न पैदा कर सिर्फ़ रुई को एक क़ायदे के साथ लम्बी लम्बी कर सूत बना देता है। इस प्रकार, यह अत्यन्त स्पष्ट है कि, कातनेवाले, दर्ज़ी, और जुलाहे कोई नई चीज़ नहीं पैदा करते, पर पहले जो चीज मौजूद थी, उसी को क्रम देकर अधिक उपयोगी बना देते हैं। इसी तरह, किसान भी कोई नया पदार्थ नहीं पैदा करता; वह, बीज को उपजाऊ भूमि में बो कर, समय २ पर पानी आदि पहुंचा कर, पृथ्वी और वायु के तत्वों को इस प्रकार क्रम से कर देता है कि, कपास का पेड़ बन जाता है। इस बात को भौतिक-विज्ञान के जाननेवाले अच्छी तरह से समझ सकेंगे। हम जो भोजन करते हैं, उसी के द्वारा, अथवा उसी के कारण, हमारे केश उत्पन्न होते हैं। केश कोई नई चीज़ नहीं; किन्तु हम जो कुछ खाते हैं, पीते हैं, और सांस लेते हैं, उसी का रूपान्तर हैं। यह बात, जिस प्रकार मनुष्य जाति के सम्बन्ध में कही जा सकती है, उसी प्रकार, पशुओं के सम्बन्ध में भी। तो फ़िर, यह सिद्ध हुआ कि, गड़रिया भी भेड़ें पाल कर उनसे ऊन को पैदा करने में कोई नई चीज़ नहीं पैदा करता, किन्तु, पदार्थों का रूपान्तर ही करता है। इन उदाहरणों को यदि ध्यान से विचारा जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि; किसान, कातनेवाला, जुलाहा या दर्ज़ी, इनमें से प्रत्येक पदार्थों में रूपान्तर कर के उसे अधिक उपयोगी बना देता है। ऐसी दशा में, उपयोगी के भी वही अर्थ

होते हैं जो वांछनीय (desirable) के, क्योंकि, दोनोंका ही काम आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। मतलब यह कि, उक्त किसान, जुलाहे आदि उपयोगिता के साथ साथ सम्पत्ति पैदा करते हैं। यदि इसी बात को इस प्रकार कहा जाय कि, मनुष्य पदार्थ को नहीं पैदा करता पर उसमें उपयोगिता को पैदा करता है तो अनुचित न होगा।

केवल इन्हीं उदाहरणों के सम्बंध में ही यह नियम नहीं है। यदि हम अन्य उदाहरणों को भी ध्यानपूर्वक देखें, तो भी हमें यही ज्ञात होगा कि नई चीजों की उत्पत्ति न होकर नई उपयोगिताओं की होती है। हलवाई घी शक्कर और दूध लेकर भिन्न भिन्न प्रकार की मिठाइयां बना देता है। कुम्हार मिट्टी को ऐसा क्रम दे देता है कि उसमें हम पानी और अन्य चीजें रख सकते हैं। उसी के क्रमों के भिन्न भिन्न प्रकारों को हम तश्तरी, मटका, झझ्झर आदि कहते हैं। बढ़ई कील और लकड़ी से भिन्न भिन्न प्रकार के सन्दूक बना देता है। कहां तक कहें; तमाम उदाहरणों को देखिये और ध्यानपूर्वक देखिये, उनमें आप यही पाइयेगा कि पहिले से मौजूद पदार्थ को इस प्रकार से रूपान्तरित कर दिया जाता है कि, जिससे उसमें एक नई उपयोगिता आ जाती है।

क्षय (Consumption)।

उत्पादन की इतनी बातें समझ लेने के बाद 'क्षय' स्वयं स्पष्ट हो जाता है। क्योंकि, उत्पत्ति के ठीक विरुद्ध क्षय है। मनुष्य पदार्थ का क्षय नहीं कर सकता, पर, पदार्थ की उपयोगिता

का क्षय करता है। संसार के पदार्थों का क्षय तो हो ही नहीं सकता; यह एक अटल सत्य है। जब हम मिठाई खा कर हज़म कर जाते हैं तब मिठाई की उपयोगिता का क्षय हो जाता है, मिठाई का नहीं। मिठाई का तो रूप बदल जाता है, वह मिट्टी और हवा में मिल जाती है। जब शीत से व्याकुल मनुष्य, शीत को दूर करने के लिए आग जला कर तापता है, या, भोजन बनाने के लिए आग जलाता है, तब, अग्नि के द्वारा उसकी आवश्यकतायें तो दूर हो जाती हैं, अर्थात शीत मिट जाता है और भोजन पक जाता है; पर, साथ ही उस अग्नि की उपयोगिता का भी क्षय हो जाता है। परन्तु पदार्थ का नाश नहीं होता। वह धुंवां, मिट्टी और राख के रूप में बदल जाता है। कुछ चीजें ऐसी भी हैं, जिनका क्षय बहुत धीरे धीरे होता है। ईंधन और भोजन के समान शीघ्र नष्ट होनेवाली सभी सम्पत्तियां नहीं हैं। कुरता इन से अधिक टिकाऊ होता और महीनों पहिना जा सकता है। अन्त में, घिस कर कपड़ा पतला पड़ जाता है और फिर उसमें छोटे छोटे छेद हो जाते हैं, तथा आगे चल कर वह फट जाता है। मतलब यह कि कालांतर में उसकी भी उपयोगिता नष्ट हो जाती है। कुरते से घड़ी अधिक चल सकती है। पर अन्त में उसके भी पुर्जे घिस जाते हैं और समय देना बंद हो जाता है। कुछ चीजों का क्षय इतने धीरे २ होता है कि, हम उसे मालूम भी नहीं कर पाते। सोने चांदी के जेवरों की गणना इसी श्रेणी में है। यह पीढ़ियों तक आवश्यकताओं की पूर्ति करते रहते हैं। पर अन्त इन

का भी है। क्षय इनका भी होता है।

मनुष्य-जीवन और अर्थ-विज्ञान ।

साधारण श्रेणी के मनुष्यों का जीवन, सम्पत्ति की उत्पत्ति करने और उसके द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति करने में ही व्यतीत होता है। सम्पत्ति की उत्पत्ति और क्षय का अध्ययन करने में मनुष्य-जीवन के एक बड़े भाग का अध्ययन हो जाता है। अर्थ-विज्ञान के प्रसिद्ध आचार्य मार्शल ने कहा है—

"अर्थ-विज्ञान का अध्ययन मनुष्य-जीवन के साधारण कार्य्यों का अध्ययन है। व्यक्तियों और जातियों के जीवन के उस भाग की, जिसका सम्बंध मनुष्य की आवश्यकताओं और उनकी पूर्तियों से है, अर्थ-विज्ञान में अच्छी तरह से परीक्षा हो जाती है। अर्थ-विज्ञान में सम्पत्ति का अध्ययन तो है ही, पर, इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि, इसमें मानव-जीवन का अध्ययन है।"

अर्थ-विज्ञान के प्राचीन लेखकों ने अर्थ-विज्ञान को सम्पत्ति का अध्ययन ही समझा था। पर पीछे के लेखकों ने, उसे मनुष्यों के जीवन का अध्ययन भी समझा है। इस प्रकार के दो वर्णनों से आपस में विरोध नहीं पड़ सकता। कारण यह है कि, मनुष्य के साथ साथ सम्पत्ति का अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध है। सम्पत्ति का अर्थ ही वांछनीय वस्तु है। इसलिए, बिना मनुष्य के, सम्पत्ति की कल्पना ही नहीं हो सकती, और जब, सम्पत्ति ही न होगी, तब, अर्थ-विज्ञान ही कहां से आवेगा। इस प्रकार, अर्थ-विज्ञान और मनुष्य-जाति का अत्यन्त गहरा सम्बन्ध है और यही कारण

है कि, अर्थ-विज्ञान के उक्त दो तरह के भिन्न भिन्न वाक्यों में परस्पर विरोध नहीं है। अन्य विज्ञानों का उतना गहरा सम्बंध मनुष्यों के साथ नहीं है जितना अर्थ-विज्ञान का है। विना मनुष्य के आस्तित्व के भी अन्य विज्ञानों की सत्ता रह सकती है। भौतिक विज्ञान को ही देखिये, मनुष्य जाति चाहें रहे वा न रहे, पर, भौतिक कार्य्य वैसे ही होते रहेंगे। नदियां उसी प्रकार वहेंगी। हवा उसी प्रकार चलेगी। आग उसी तरह गरम असरवाली बनी रहेगी। मनुष्य के न रहने से, भौतिक नियमों में कोई अन्तर नहीं आसकता। पर, अर्थ-विज्ञान की हस्ती तो मनुष्य के ही साथ है—विना मनुष्य के, अर्थ-विज्ञान की कल्पना ही नहीं हो सकती। केवल अर्थ-विज्ञान ही इस प्रकार का विज्ञान नहीं है, किन्तु, जितने मानसिक विज्ञान हैं, जैसे, नीति-विज्ञान, समाज-विज्ञान, मनो-विज्ञान, आदि आदि; उनका सबका सम्बंध मनुष्य-जाति के साथ इतना ही घना है।

कुछ बातें मानकर अध्ययन करने की आवश्यकता।

मानव-जीवन का अध्ययन कोई खेल या मामूली बात नहीं है। यह बड़ा कठिन और पेंचीदा काम है। मनुष्य का जीवन भी तो पेंचीदा है, फिर उसके एक बड़े भाग के अध्ययन को तो पेंचीदा होना ही चाहिये। ऐसी दशा में, इस कठिन कार्य्य को हमें क्रम क्रम से पूरा करना पड़ेगा, और इसकी प्रारम्भिक बातों को जहां तक हो सकेगा सरल करना पड़ेगा। इस कठिनाई को दूर करने के लिए, हमें कुछ बातें मानकर आगे चलना पड़ेगा। कुछ बातें

मान कर आगे चलने से विषय की सीमा निर्धारित होजायगी। इसके बाद, जब हम अपनी निर्धारित की हुई सीमा की समस्त बातों का अध्ययन कर चुकेंगे, तब हम, उस सीमा को तोड़ कर बाहर की बातों का भी विचार कर सकेंगे। हम जो जो बातें मान कर इस पुस्तक को लिखेंगे, उन्हें अच्छी तरह से हृदयंगम कर लेना चाहिये, और यह भी समझ लेना चाहिये कि, सभी लेखक अपने विषय की सीमा बनाने में, अर्थात्—बातें मान कर चलने में स्वतंत्र होते हैं—कहने का मतलब यह कि, यह ज़रूरी नहीं है कि, जो जो बातें हमने मान ली हैं वही सब लेखक मानें—जब, जिस लेखक की पुस्तक पढ़ी जाय, तब, इस बात का ध्यान अवश्य रक्खा जाय कि, उसकी मानी हुई बातें कौन कौन सी हैं।

हमारी पहली मानी हुई बात यह है कि, जो कुछ हम लिखेंगे वह सर्वसाधारण स्त्री पुरुषों के विषय में ही लिखेंगे। किसी जाति विशेष (जैसे मुसलमान, पारसी, सिक्ख आदि) के सम्बन्ध में हम कुछ न कहेंगे। हम यह मानते हैं कि दो भिन्न भिन्न जातियों में आपस में बहुत अन्तर होते हैं; पर साथ ही, बहुत सी बातों में एकता भी होती है; बस हमारा कथन उसी एकता को दृष्टि में रख कर हुआ करेगा। दो जतियों के, भोजन के द्रव्य भिन्न भिन्न हो सकते हैं—एक जाति मांसाहारी और दूसरी शाकाहारी हो सकती है, ऐसी दशा मे इस विरोध पर ध्यान न दे कर इसी बात पर देंगे कि, दोनों जातियों ही को भोजनों की आवश्यकता है। भिन्न भिन्न जातियों के मनु-

ष्यों के आमोद प्रमोद के मार्ग भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। इस सम्बन्ध में हम यही मानेंगे कि आमोद प्रमोद किसी न किसी रूपमें सबको ही चाहिए। परन्तु जब हमें उदाहरण देने की आवश्यकता पड़ेगी, तब हम उसी प्रान्त के मनुष्यों के दाहरण देंगे जिनसे हम अच्छी तरह से परिचित हैं—अर्थात संयुक्त प्रान्त के मनुष्यों के जीवन से। परन्तु, इसका तात्पर्य यह न होगा कि हम केवल संयुक्त प्रान्त के मनुष्यों का ही विचार करना चाहते हैं। उनका उदाहरण तो हम उनको अच्छी तरह से जानने के कारण ही देंगे। साथ ही हम भारतवर्ष की स्थिति को भी न भुला सकेंगे। अपने देश की आर्थिक अवस्था और उस पर होनेवाले आर्थिक बातों के परिणामों का भी हम स्थान २ पर वर्णन करेंगे।

दूसरी बात हम यह माने लेते हैं कि, समस्त संसार के मनुष्य (भिन्न भिन्न जातियों के) भिन्न भिन्न सरकारों के रूप में संगठित हैं। मतलब यह कि, हम उन जंगली असभ्य आदमियों को विचार क्षेत्र में न लावेंगे जिनके यहां कोई सरकार नहीं है, और जिनके यहां चोर बदमाशों के लिए कोई क़ानून नहीं है। यद्यपि सरकारें भिन्न भिन्न प्रकार की होती हैं, तथापि इससे हमारा अभिप्राय सिर्फ़ इतना ही है कि, समस्त मनुष्यों को सम्पत्ति रखने का अधिकार है और वह चोर को सज़ा दिलवा सकते हैं।

तीसरी बात हम यह मानते हैं कि समस्त मनुष्यों को औद्योगिक स्वाधीनता है। इसका मतलब यह है कि सर्वसाधारण मनुष्यों को यह अधिकार है कि, वह अपनी जीविका का मार्ग चुन लें और

मन मानी सम्पत्ति उत्पन्न करें तथा अपनी सम्पत्ति को अपनी इच्छा के अनुसार व्यय करें। हम यह नहीं कहते कि, इस प्रकार की स्वाधीनता की सीमा ही नहीं है। प्रायः प्रत्येक सरकार में ऐसी स्वाधीनता की सीमा होती है, परन्तु, वह रुकावटें, जिनके कारण उक्त स्वाधीनता की सीमा बन जाती है अपवादस्वरूप हैं और रुकावट न होने का नियम है। भारत में ही प्रत्येक को खेती करने की स्वाधीनता है, मज़दूरी करने की स्वाधीनता है, और दुकान आदि करने की स्वाधीनता है। मज़दूरी की सीमा निर्धारित करने के लिए सरकार ने कोई क़ानून नहीं बनाया। प्रत्येक मनुष्य अपनी इच्छानुसार कम ज्यादा वेतन पर मज़दूरी करने में स्वतंत्र है। प्रत्येक दुकानदार अपनी दुकान की चीज़ें अपनी पड़त या इच्छा के अनुसार वेंचने में स्वतन्त्र है। पर, इसके साथ ही रुकावटों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। शराब, भांग, अफ़ीम आदि नशे की चीज़ों की दुकान विना सरकारी आज्ञा के कोई नहीं खोल सकता। यही हाल तोप, बंदूक़ आदि शस्त्रों का भी है। इसके सिवा, कुछ ऐसे व्यवसाय भी हैं जिन्हें कोई भी विना उसकी ख़ास शिक्षा पाये नहीं कर सकता। वकालत इसी तरह का व्यवसाय है। इसके सिवा एक और भी बड़ी भारी रुकावट है। हमारे यहां किसानों का अपनी ज़मीन पर कोई अधिकार नहीं। ज़मींदार जब चाहें तब किसानों को बेदख़ल कर सकते हैं। इस रुकावट का वर्णन पुस्तक के पांचवें भाग में होगा। इस जगह वर्ण-व्यवस्था को भी भुला देना सहज नहीं है।

वर्ण-व्यवस्था का अर्थ विज्ञान के इस अंग के साथ गहरा संबन्ध है; पर यदि हम इस जगह सका विचार करने लगेंगे तो, विषयान्तर हो जायगा, इसलिए, इन सब रुकावटों के होते हुए भी हम यह माने लेते हैं कि, सब को औद्योगिक स्वतन्त्रता है।

चौथी बात हम यह माने लेते हैं कि, सिक्के की खरीदने की शक्ति स्थिर रहती है। मोहर, रुपये, आदि सिक्के कहलाते हैं। जिस प्रकार हम किसी वस्तु का वज़न नापने में, मनों और सेरों का प्रयोग करते हैं, आकार नापने में, फुटों और इंचों का प्रयोग करते हैं, उसी प्रकार उसकी क़ीमत नापने में, रुपयों का प्रयोग करते हैं। अब जिस प्रकार इंचों और फुटों का आकार स्थिर है, मनों और सेरों का भार स्थिर है, उसी प्रकार, हम यह भी माने लेते हैं कि रुपयों (या सिक्कों) की खरीदने की शक्ति भी स्थिर है। यहां पर यह शंका हो सकती है कि, क्या सिक्के की खरीदने की शक्ति स्थिर नहीं होती? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि, अर्थ-विज्ञान में आगे चल कर यह भी मालूम हो जायगा कि, सिक्के के खरीदने की शक्ति अस्थिर है, तो भी, बिना उसे स्थिर माने काम ही नहीं चल सकता, इसीलिए, इसे मान लेने की विशेष ज़रूरत पड़ी।

पांचवीं बात हम यह माने लेते हैं कि, उन पदार्थों में भी भेद होते हैं जिन में प्रकट रूप से भेद नहीं देख पड़ते। यह बात एक उदाहरण से समझ में आवेगी। फुटबाल के खेल में खिलाड़ी लड़कों के दो पक्ष होते हैं। प्रत्येक खिलाड़ी दो में से एक न एक

पक्ष का होगा ही। पर यदि, उन्हीं लड़कों का अध्यापक उन्हीं लड़कों को, स्कूल में अच्छे लड़के और बुरे लड़के, इस प्रकार दो दलों में विभक्त करना चाहे, तो बड़ी कठिनाई होगी। क्योंकि, कुछ लड़के ऐसे होंगे, जिन्हें हम अच्छे और बुरे के बीच का पावेंगे। कहने का मतलब यह है कि, अर्थ-विज्ञान में भी इस प्रकार की कुछ चीजें हैं जिन्हें विभक्त करना कठिन है। कुछ चीजें अत्यन्त स्पष्टता से विभक्त हो सकती हैं, और कुछ के विभक्त करने में बड़ी कठिनाई पैदा होती है। इस कठिनाई के होते हुए भी हम यह मान लेंगे कि, यह कठिनाई नहीं है। इस पांचवीं बात को मान लेने का क्या कारण है, सो भी समझ लेना चाहिए। सम्पत्ति और पूँजी आदि की परिभाषा कर देना सम्भव है, और यह भी सम्भव है कि, हम बहुत सी वस्तुओं के सम्बन्ध में यह भी कह सकें कि, वह सम्पत्ति है, या पूँजी; पर बहुत सी चीजें ऐसी भी होंगी जिन्हें हम सम्पत्ति और पूँजी के बीच का पावेंगे। यद्यपि, परिभाषाओं और विभागों के जगद्व्वाल से लाभ भी हैं, तथापि, अभी हमें इसमें न फँस कर आगे बढ़ना चाहिये, और अर्थ-विज्ञान का वास्तविक आरंभ करना चाहिये। इस झगड़े को फ़िलहाल निपटाने के लिए, हम यह पांचवीं बात सी माने लेते हैं कि, उन पदार्थों में भी भेद होते हैं जिनमें प्रकट रूप से भेद देख नहीं पड़ते।

दूसरा अध्याय।

सम्पत्ति का उत्पादन।

पांचवां परिच्छेद ।

—:०:—

उत्पत्ति के साधन ।

उत्पादन कैसे होता है ।

पिछले अध्याय में हम इसका वर्णन कर चुके हैं कि, सम्पत्ति की उत्पत्ति का अर्थ यही है कि, पदार्थों में कुछ ऐसे परिवर्तन कर दिये जायँ, या, उन्हें ऐसा क्रम दे दिया जाय, जिस से वह उपयोगी हो जायँ, और किसी आवश्यकता की पूर्ति करने की शक्ति उनमें आजाय। अब, इस अध्याय में हम इस बात का विचार करेंगे कि, यह किस प्रकार होता है, या यों कहिये कि, सम्पत्ति का उत्पादन किस प्रकार होता है।

इसे समझने के लिए, सम्पत्ति पैदा करने का एक पुराना और प्रारम्भिक उदाहरण ले लीजिये। एक घसियारा जंगल से घास इकट्ठा करके लाता है, और उसे बेंच कर बिक्री के पैसों से अपना पेट पालता है। इस जगह यह तो स्पष्ट ही है कि, घसियारा सम्पत्ति पैदा करता है, क्योंकि, वह घास में कुछ परिवर्तन करके—क्रम देकर के—उसमें किसी आवश्यकता की पूर्ति करने की शक्ति उत्पन्न कर देता है। शहर वालों को गाय, बैल, घोड़ा आदि के लिए, घास की जरूरत होती है। घास अगर जंगल में हो, तो, उसका कुछ मूल्य नहीं होता, क्योंकि, जंगल में

मनुष्य नहीं रहते, पर जहां शहरों में मनुष्य रहते हैं, वहां घास नहीं होती । वहां अगर घास लाई जाय, तो वह सम्पत्ति हो जायगी, क्योंकि, उससे लोगों की ज़रूरत रफ़ा होने लगेगी। यदि घसियारा जंगल से शहर में घास लाता है, तो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि, वह घास को उखाड़ कर और उसे शहर में पहुंचा कर, कुछ परिवर्तन करता है। उस परिवर्तन के कारण, लोगों की एक ज़रूरत रफ़ा होने लगती है। ऐसी दशा में, घास सम्पत्ति हो जाती है। उस घास में परिवर्तन करनेवाले घसियारे को, घास के बदले में कुछ और सम्पत्ति मिल जाती है, उसी से वह अपना गुजर बसर करता है। इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि, घसियारा घास को उस स्थान से हटाकर, जहां घास की ज़रूरत नहीं है, उस स्थान में लेजाकर जहां घास की ज़रूरत है, उसमें एक नई उपयोगिता पैदा कर देता है। अगर, वह घसियारा अपनी पैदा की हुई समस्त सम्पत्ति को अपने भोजनों में ही उड़ा दे, अर्थात्, खा पी जाय, तो कहना पड़ेगा कि, वह अमीर कभी नहीं हो सकता, अर्थात्, वह अपने पास सम्पत्ति को जमा नहीं कर सकता। वह सदा ग़रीब का ग़रीब ही बना रहेगा।

उत्पादन के कार्य में उन्नति।

अब कल्पना कीजिए कि, घसियारे ने यह सोचा कि, अगर खुरपी हो तो ज्यादा घास खुदे । इसके बाद उसने पता लगा कर मालूम किया कि, लोहार के यहां चार आने पैसे में खुरपी मिल

जायगी। यदि वह एक पैसा रोज़ बचावे तो वह सोलह दिनों के बाद खुरपी ख़रीद सकता है। यह सोच कर, वह अपने ख़र्च में से एक पैसा रोज़ बचाने लगा और सोलह दिनों के बाद, एक खुरपी ख़रीद ली। अब खुरपी से घास खोदने पर उसे ज्ञात हुआ कि, इतनी ज्यादा घास खुदती है कि, उसे शहर में एक बार में ले नहीं जाया जा सकता। इसलिए उसने शहर में दो बार घास ले जाने की ठानी। दो बार घास ले जाने से उसके पास पहले से दूने पैसे आने लगे। उस में से भोजन आदि का ख़र्च दे चुकने पर, उस के पास आधे पैसे बच रहने लगे और धीरे धीरे वह अमीर होने लगा। हमारे भारतवर्ष की इस समय ऐसी दशा है कि, यहां के अधिकांश घसियारे इस से आगे नहीं बढ़ते। वह खुरपो और कुछ गण्डे पैसों में ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। अगर हद की तो लँगोटी की जगह डेढ़ हाथ की धोती पहन ली, और त्योहार के दिन छुट्टी मना कर ज़रा बढ़िया भोजन कर लिये। मतलब यह कि, वह इस से ज्यादा आगे नहीं बढ़ते। उनके बढ़ने की हद यहीं पर हो जाती है। पर ज़रा ध्यान देने से स्पष्ट प्रकट होता है कि, इस प्रकार के घसियारे अगर दूरदर्शिता से काम लें, तो, धनी बन सकते हैं। वह अपने लिए घर बनवा कर अपने बाल-बच्चों को उसमें सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित देख सकते हैं। यह सब कैसे हो सकता है, सो भी सुनिये। घसियारा अपनी मेहनत को ज़रा बढ़ा कर इतनी घास काट सकता है कि, उस के ले जाने के लिए एक गधे की आवश्यकता हो। अर्थात् एक गधे के बोझ के लायक़ वह घास

काट सकता है। ज्यादा घास काट कर अगर वह गधे पर ले जाने लगे, तो वह घास इतनी ज्यादा होगी कि, उससे गधे का किराया आदि दे कर भी कुछ ज्यादा बच जायगा। इसी तरह से, वह कुछ और धन जमा कर, भैंसागाड़ी भी ख़रीद सकता है, और अपने को दो तीन रुपये रोज़ का मजदूर बना सकता है। पर हद यहां भी नहीं है। वह और रुपया बचा कर और घास की ज़मीन का ठेका ले कर हज़ारों के वारे न्यारे भी कर सकता है।

घसियारे के पास उत्पादन के कौन कौन साधन थे।

अच्छा तो यह विचार कीजिये कि, इस घसियारे की सम्पत्ति के उत्पादन में कौन कौन सहायक थे। अर्थात्, किन किन साधनों से घसियारा सम्पत्ति उत्पन्न कर सका। उसका पहिला साधन घास का जंगल था। यदि घास का जंगल शहर से इतनी दूर पर न होता, जहां से वह आसानी से आ जा सकता, तो फिर उक्त प्रकार से वह सम्पत्ति भी न पैदा कर सकता। यहां पर यह बात भी ध्यान में रखने की है कि, जंगलों की एक सीमा होती है। और घसियारा घास के जंगल को एक सीमा में ही काम में ला सकता है। मतलब यह कि, क्षेत्र उसका पहिला साधन था, दूसरा साधन था उसका श्रम। वह घास को काटता था, उसे लाद कर बाज़ार तक जाता था। इस प्रकार उसका श्रम भी उसके उत्पादन का साधन था। कोई भी ऐसी मेहनत महज़ मनोविनोद के लिए न करेगा। अमीर घसियारे यह मेहनत दूसरों से भी करा सकते हैं, पर कोई भी उसे तबतक करने को तैय्यार न होगा, जब तक

उसे काफ़ी तनख्वाह या मुनाफ़े का उचित अंश न दिया जायगा। तीसरा साधन कुछ पहिले की मौजूद सम्पत्ति थी। इस प्रकार की सम्पत्ति में उसकी खुरपी, गट्ठा बांधने की डोरी, आदि चीजें थीं। इस के बाद गधे व टट्टू भी इसी प्रकार की सम्पत्ति में होगये। यद्यपि हमने उक्त उदाहरण को ऐसी दशा से प्रारम्भ किया था, जब कि घसियारे के पास खुरपी भी नहीं थी। ऐसी दशा में, सम्भव है कि, कोई हमारे इस तीसरे साधन की सत्यता में सन्देह करे। पर हमारा उत्तर यह है कि, जब, उसके पास खुरपी भी नहीं थी, तब भी गठरी बांधने की डोरी का तो आस्तित्व मानना ही पड़ेगा। फिर ऐसे बावाआदम के वक्त के से उदाहरण अब भारत में भी मिलना मुश्किल है। घसियारों के पास हम खुरपी देखते हैं। कुम्हारों के पास चाक देखते हैं। लकड़हारों के पास कुल्हाड़ी देखते हैं। तो फिर, हम को निर्भय होकर कहना चाहिये कि, सम्पत्ति के उत्पादन में उत्पादन करने वाले के पास पहिले से कुछ सम्पत्ति जमा होना चाहिये। बस यही तीन (जिनका ऊपर वर्णन हुआ) सम्पत्ति उतपन्न करने के साधन हैं। इन्हीं तीन साधनों का अर्थ-विज्ञानियों ने नामकरण किया है। पहिले का नाम है क्षेत्र, दूसरे का श्रम, और तीसरे का पूंजी। अर्थात् क्षेत्र, श्रम, और पूंजी, यह तीन उत्पादन के साधन हैं। इन तीनों साधनों का वर्णन अगले परिच्छेदों में विस्तार से किया जायगा। यहां पर अभी यह अच्छी तरह से समझ लेना चाहिये कि, यही तीन साधन सम्पत्ति के उत्पन्न करनेवाले अन्य अन्य कार्य्यों में किस प्रकार सहायता

पहुंचाते हैं। भारतवर्ष में सम्पत्ति उत्पन्न करने का मुख्य मार्ग खेती ही है। हमारी जातीय-सम्पत्ति का एक बहुत बड़ा भाग, खेती से ही पैदा होता है। किसान को भी क्षेत्र की आवश्यकता है। अगर क्षेत्र उसके घर का न हो तो, उसे किराये पर लेना पड़ेगा। खेती में, जोतने, बोने, काटने, आदि में श्रम की जरूरत है। यदि किसान के कुटुम्बी उसे श्रम की सहायता न पहुंचावें, तो फिर, किसान को श्रम के लिए किराये के मज़दूर रखना पड़ेंगे। इसके सिवा उसे पूंजी की भी जरूरत है। उसके पास, हल, बैल, ज़मीन तथा बीज आदि ख़रीदने के लिए, रुपया चाहिये, तब तक के लिए उसे खुद पेट भरने को भी चाहिये, जब तक कि, फ़सल तय्यार न हो जाय। एक ठठेरे का उदाहरण लीजिये। यद्यपि, उसे किसान की तरह बीघों ज़मीन की जरूरत नहीं होती, तो भी, बैठकर काम करने के लिए कुछ क्षेत्र चाहिये ही। उसे बर्तन बनाने में खुद श्रम करना पड़ेगा, या, दूसरे वेतनभोगी मज़दूर नौकर रखना पड़ेंगे। यह तो श्रम की आवश्यकता हुई। इसके सिवा उसके पास हथौड़े, सांचे, आदि कुछ औज़ार और कुछ काल के योग-क्षेम के लिए कुछ धन, अर्थात्, पूँजी भी चाहिये। मतलब यह कि, एक कारीगर पेशेवाले ठठेरे को भी सम्पत्ति के उत्पादन में क्षेत्र, श्रम और पूंजी इन तीनों की जरूरत पड़ती ही है। इसके बाद अब एक बड़े कारख़ाने का उदाहरण लीजिये। उसमें भी इन्हीं तीन साधनों की आवश्यकता होती है। अब चूंकि,

उसमें सम्पत्ति अधिक पैदा होती है, इसलिए, उक्त तीनों साधन भी अधिक मात्रा में होते हैं। सूत के कारखाने को ही देखिये। इमारतों के लिए काफ़ी क्षेत्र चाहिये। काम करने के लिए सैकड़ों और हज़ारों मजदूरों का श्रम चाहिये। पूंजी भी इसकी लाखों की ही होना चाहिये, जिससे, मजदूर रक्खे जा सकें, इमारतें बनवाई जासकें, और फ़सल पर कच्चा माल ख़रीदा जासके।

रेलवे का उदाहरण लीजिये। लोग अकसर कहा करते हैं कि रेलें सम्पत्ति को उत्पन्न नहीं करतीं, पर, एक स्थान से हटा कर दूसरे स्थान पर ले जाती हैं। परन्तु सम्पत्ति शब्द का हम जो अर्थ कर चुके हैं, उसे देखते यह दलील ग़लत जँचती है। सम्पत्ति उन्हीं चीज़ों को कहा जायगा जिनसे आवश्यकताओं की पूर्ति हो। बम्बई के रहनेवाले उन पारसियों के लिए जिन्हें आग जलाने की जरूरत है, हिमालय की लकड़ी काम नहीं दे सकती, और बङ्गाल की कोयलों की खानों में गड़ा हुआ कोयला काम नहीं आ सकता। उस लकड़ी के ढेर या कोयलों को, ऐसी जगह पहुंचाना चाहिए, जहां उसकी ज़रूरत हो, तभी वह सम्पत्ति हो सकेंगे। चूँकि, रेल गाड़ी इसी तरह की चीज़ों को आवश्यकता के अनुसार एक स्थान से हटा कर दूसरे स्थान पर ले जाती है, इसलिए, वह सम्पत्ति की उत्पादक है। घसियारे के उदाहरण से (जिसका हम इसी परिच्छेद के आदि में वर्णन कर चुके हैं) रेलवे का उदाहरण मिल जाता है। देखिये, रेल के लिए भी क्षेत्र की जरूरत है। क्षेत्र पर ही उस की पटरियां पड़ेंगी, उसी पर स्टेशन आदि बनेंगे। उस में कुली

और क्लर्कों के रूप में भी श्रम की आवश्यकता है। पूँजी की भी उसे जरूरत है, जिससे यञ्जिन आदि खरीदे जा सकें, और इमारतें बनवाई जांय, व, तनख्वाहें चुकाई जांय। इस प्रकार रेलवे के सम्बन्ध में भी उक्त साधनों का महत्व स्पष्ट है।

ऊपर जो भिन्न भिन्न प्रकार के उदाहरण दिये गये हैं, उनसे उक्त तीनों साधनों की व्यापकता का पता, अच्छी तरह से लग जायगा। परन्तु, हमें उक्त तत्वों को अच्छी तरह से समझने के लिए नित्यप्रति के तमाम व्यापारों को, जिनमें सम्पत्ति का उत्पादन होता है, ध्यानपूर्वक देखना चाहिये। तभी हम इनकी व्यापकता का अच्छी तरह से अनुभव कर सकेंगे। इस दूसरे अध्याय में हमें दो बातें बतलाना हैं, एक तो यह कि, इन साधनों का स्वरूप क्या है, और दूसरी यह कि, इनका किस प्रकार सङ्गठन हो कर इनसे सम्पत्ति का उत्पादन होता है। इन बातों को हम अगले परिच्छेदों में क्रमशः विचारेंगे।

छठा परिच्छेद।

क्षेत्र।

—:o:—

क्षेत्र शब्द के अर्थ।

साधारण व्यवहार में क्षेत्र शब्द प्रायः पृथ्वी की सतह के ही अर्थ में प्रयुक्त होता है। परन्तु इस विज्ञान में क्षेत्र शब्द के माने और भी कई होते हैं। अर्थ-विज्ञान में इसके अर्थ में निम्न पदार्थों का ग्रहण होता है।

(१) वह खनिज द्रव्य जो पृथ्वी के भीतर होते हैं, जैसे कोयला, चांदी, लोहा आदि। इसमें पृथ्वी के भीतर के पानी का भी समावेश है, क्योंकि पानी भारतवर्ष में खेती के लिए अधिक उपयोगी है।

(२) धरातल को ढकनेवाला पानी जैसे नदी झील आदि।

(३) पृथ्वी पर मेंह, धूप, आदि पदार्थों का पड़नेवाला प्रभाव।

अर्थ-विज्ञान में, क्षेत्र उक्त चीजों का भी द्योतक होता है। क्षेत्र का स्वरूप इस बात से अच्छी तरह समझा जा सकता है कि, क्षेत्र की मात्रा को मनुष्य बढ़ा नहीं सकता। कोयलों की खानों के मालिक को कोयले की चाहे जितनी तीव्र आवश्यकता हो, पर वह कोयले की खान से उतना ही कोयला प्राप्त कर सकता है, जितना उसमें पहले से मौजूद है। उसकी मात्रा को बढ़ाया नहीं जा सकता। आवश्यकता चाहे जितनी हो, पर मिलेगा वह उतना ही, जितना प्रकृति देगी। कुछ अर्थ-विज्ञानी इसीलिए

क्षेत्र शब्द के स्थान पर प्रकृति शब्द का व्यवहार करना अधिक उपयुक्त समझते हैं। परन्तु क्षेत्र शब्द जितने स्पष्ट भावों का द्योतक है उतना प्रकृति शब्द नहीं है। इसलिए, क्षेत्र शब्द का प्रयोग करना ही हमने उपयुक्त समझा है। दूसरी दलील यह भी है कि, प्रकृति शब्द भिन्न २ स्थानों में भिन्न २ अर्थों में आता है। परन्तु, हमको यह बात अच्छी तरह से समझ लेना चाहिये कि, क्षेत्र शब्द में उन चीजों का भी समावेश है जो ज़मीन की तह के भीतर रहती हैं, और जो ऊपर से आकर पड़ती हैं।

क्षेत्र की मात्रा सीमित है। भारतवर्ष का क्षेत्रफल प्रायः पन्द्रह लाख वर्ग मील है। यह मात्रा बिना अन्य देशों की ज़मीन को भारतवर्ष में मिलाये बढ़ाई नहीं जा सकती। चूँकि, सब प्रकार के क्षेत्र सभी के लिए उपयोगी नहीं हो सकते, इसलिए, सम्पत्ति को उत्पन्न करनेवाले के लिए उसके मतलब के अनुकूल क्षेत्र की आवश्यकता होती है। कारीगर ऐसा ही क्षेत्र पसंद करेगा जहां उसे कच्चा माल ख़रीदने और तैयार माल के बेंचने में सुभीता हो। कारीगर के लिए किसी नगर का ही क्षेत्र अनुकूल हो सकता है, किसी पर्वत के शिखर का नहीं। एक बड़े कारख़ाने के लिए ऐसे क्षेत्र की आवश्यकता है जहां उसके लिए कच्चे माल के मिलने में सुभीता हो और बिक्री के लिए तैयार माल को भेजने में आसानी हो। वह स्थान या तो किसी नाव चलने लायक़ नदी के तट पर हो या रेलवे के केन्द्र (जंक्शन) पर। उसे किसी नगर या आबादी के समीप भी होना जरूरी है, जिससे मज़दूरों के मिलने में भी सुभीता

हो। जिस जगह यह सब सुभीते हों, वहीं का क्षेत्र कारखानों के लिए उपयुक्त हो सकता है। रेल को जब दो ग्रामों के बीच में होकर जाना होता है, तब उसे उन ग्रामों के बीच के एक लम्बे टुकड़े की ही आवश्यकता होती है। अन्य स्थानों के क्षेत्र उसके लिए व्यर्थ हैं। खानों से सम्पत्ति उत्पन्न करने के लिए केवल इतना ही जरूरी नहीं है कि, पृथ्वी के नीचे खनिज द्रव्य हों, पर, उन्हें निकाल कर उनको उनकी ज़रूरत की जगह पहुंचा देने के साधनों की भी ज़रूरत है। जब तक रेल का सम्बन्ध न कर दिया जाय, तब तक, खानें व्यर्थ ही पड़ी रह सकती हैं। इसी तरह के कुछ मौक़े किसानों के लिए भी हैं, पर उनका वर्णन अगल ही किया जायगा।

शहरों का क्षेत्र और कुछ नगरों का इतिहास।

कृषि-क्षेत्र को छोड़ कर, अन्य क्षेत्रों की उत्पादन-शक्ति महज़ उनके मौक़ों पर, या, अन्य देशों के साथ उनके सम्बन्धों पर निर्भर रहती है। जब कई मौक़ों के कारण किसी क्षेत्र का टुकड़ा अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाता है, तब, उसकी क़ीमत इतनी बढ़ जाती है कि, ज़मीन एकड़ों की जगह गज़ों से नप नप कर बिकती है।

कृषि सम्बन्धी बातों के अलावा अन्य उत्पत्ति के कार्यों में अति उपयोगी होने के कारण शहरों की ज़रा ज़रा सी ज़मीन में बड़ी बड़ी इमारतें बना दी जाती हैं। वहां सम्पत्ति उत्पादन करनेवालों का जमाव रहता है। शहर, सम्पत्ति के उत्पादन में इतने प्रधान सहायक क्यों होते हैं, इस बात को, हम कुछ शहरों के इतिहास पर ध्यान देने से

अच्छी तरह जान सकेंगे। अगली पंक्तियों में हम दिल्ली, कन्नौज, कानपुर, कालपी, मुर्शिदाबाद और कलकत्ते का संक्षिप्त इतिहास इम्पीरियल गज़ेटियर आफ इण्डिया की मदद से लिखते हैं।

इतिहास का सब से पुराना शहर दिल्ली है। यह इतना पुराना है कि, हम यह तक नहीं जान सकते हैं कि, पहले पहल यहां पर लोग क्यों और कैसे आ कर बसे? शायद यमुनाजी के किनारे पर होने के कारण ही यहां लोगबाग रहने लगे हों। जिस समय रेल नहीं थी, उस समय, रेलों का काम नदियों से होता था। इसीलिए नदियों के किनारे शहर बसाने में सुभीता रहता था। दिल्ली इस तरह से बसा है कि, नदी पार करनेवाली शत्रु-सैन्य को आसानी से रोका जा सकता है। शायद इसी कारण से दिल्ली में बड़े बड़े बादशाहों की राजधानी रही हो। महाभारत-काल में दिल्ली में ही पाण्डवों की राजधानी थी। यह बात संसार के इतिहास से सिद्ध है कि, राजा लोग जिस नगर में अपनी राजधानी क़ायम करते हैं, वह नगर व्यापार का केन्द्र हो जाता है, क्योंकि, सेना की आवश्यकताओं और वहां के दरबार के मनुष्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वहां बाज़ार आदि खुल जाते हैं। बारहवीं शताब्दी में दिल्ली फिर हिन्दू भारत की राजधानी हो गई। इसके बाद जब मुसलमान आये, तब उन्होंने भी इसे ही अपनी राजधानी रक्खा। दिल्ली नगर की राजधानी की पदवी अठारहवीं शताब्दी में डगमगाने लगी और उन्नीसवीं शताब्दी में वहां से राजधानी उठ गई; पर इतना होने पर भी, देश में स्थाई शान्ति छाई रहने के

कारण, तथा अन्य नगरों से इसका व्यापार-सम्बन्ध क़ायम रहने के कारण, दिल्ली नगर व्यापार का केन्द्र बना ही रहा। पीछे से रेलों के खुल जाने से तो इसकी ख्याति और भी बढ़ गई। इस प्रकार, उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में यद्यपि दिल्ली में कोई बड़ा दरबार या बड़ी सेना नहीं थी, तो भी, वहां इतना व्यापार था कि, वहाँ की बड़ी जन-संख्या का योगक्षेम मज़े में हो जाया करता था। वहां नवीन श्रेणी के कारख़ाने खुल गये और व्यापार में उन्नति होने लगी। परन्तु अब तो भारत-सरकार ने उसे फिर राजधानी बना लिया है, इसलिए, वणिज व्यापार के और भी बढ़ने की आशा है।

प्राचीनकाल में, जब कन्नौज के पास गङ्गा जी बहतीं थीं तब कन्नौज भी दिल्ली से कम महत्व का न था। नौ सौ बरस पहले, दिल्ली और कन्नौज दोनों टक्कर के शहर समझे जाते थे। किन्तु पीछे से उसका ऐसा पतन हुआ कि, अब शायद वह विद्यार्थियों को नक़शे में भी न देख पड़े। मुसलमानों के समय में यद्यपि यह शासन का केन्द्र रहा, तथापि, यहां दरबार आदि नहीं बने। ऐसी हालत में गङ्गा जी के दूर हट जाने के कारण इसका बचा खुचा महत्व भी जाता रहा। फिर ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भी अपने व्यापार का केन्द्र इस से हट कर बनाया। बस, इन्हीं परिस्थितियों के कारण, कन्नौज का पतन हुआ और अब वहां पर एक छोटा सा क़सबा रह गया है। पर प्राचीन वैभव को बतलानेवाली ढई हुई इमारतें वहां अब भी मौजूद हैं। इत्र बनाने का प्राचीन व्यापार वहां अब तक है।

कानपुर पुराना शहर नहीं। अठारहवीं शताब्दी में तो यह एक छोटा सा गांव था। जब नावों के द्वारा व्यापार होता था तभी इसकी उन्नति हुई। क्योंकि, कानपुर के पास गंगाजी खूब चौड़ी होकर बहीं हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में यहां छावनी क़ायम हुई। इन सब कारणों से वहां व्यापार पहिले से था ही, पर, इसके बाद रेलों के चलने से और वहां एक जंकशन बन जाने से, वह और भी बढ़ गया। नई नई फ़ैक्टरियां क़ायम होने लगीं और अब तो यह हालत है कि, संयुक्तप्रान्त में कानपुर सब से बड़ा व्यापार का केन्द्र है।

जमुना जी की दाहिनी ओर बसे हुए कालपी नगर का इतिहास कानपुर से बड़ा है। मुसलमानों के समय में यहां एक छोटा सा पर महत्वपूर्ण क़िला था, उस ज़माने में जब नदियों के द्वारा व्यापार होता था, कालपी व्यापार की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण नगर हो गया था। कारण यह था कि, मध्यभारत से बहुत सा नाज और रुई नदियों के द्वारा वहां पहुंचती थी। रेलों के क़ायम होते ही नदियों के व्यापार को धक्का लगा और कालपी भी परिणाम स्वरूप अपना महत्व खो बैठा। पर जब से कानपुर से झांसी को लैन खुल गई है, तब से अब फिर उसके व्यापार में जीवन का संचार होने लगा है।

अठारहवीं शताब्दी में नदियों के द्वारा व्यापार होने के कारण मुर्शिदाबाद को बंगाल की राजधानी बनने का गौरव प्राप्त हो गया था। व्यापार इतना बढ़ा कि, अठारहवीं सदी के मध्य में

इसकी दौलत और आबादी की तुलना लंडन से की जाती थी। इसके बाद राजधानी उठ कर कलकत्ते चली गई। बस फिर क्या था, उसका सारा प्राचीन महत्व चकनाचूर हो गया। अब तो वह पहिले के मुक़ाबिले दसवां हिस्सा भी नहीं रह गया है।

कलकत्ते का भी बहुत छोटासा इतिहास है। इसका उत्थान भी तभी से हुआ जब से समुद्र द्वारा योरप से व्यापार होना शुरू हुआ। कलकत्ते के पास हुगली नदी तक समुद्र में चलनेवाले जहाज़ लाये जा सकते हैं। भारत की राजधानी होने के कारण भी इसकी उन्नति में बड़ी सहायता हुई है। नये नये कारख़ाने खुल गये। और अब तो यह हालत है कि भारतवर्ष भर में बम्बई को छोड़ कर और कोई भी नगर इसकी जोड़ का नहीं है।

उत्तरी भारत के इन महत्वपूर्ण नगरों के इतिहास से यह बात अच्छी तरह से स्पष्ट होजाती है कि, शहर के व्यापारों के बढ़ने में पहिला कारण उस शहर के साथ अन्य प्रदेशों के सम्बन्ध का सुभीता है। पुराने ज़माने में इस प्रकार का सुभीता नदियों से होता था। जब ऐसे स्थानों में आबादी घनी होने लगती थी, तब वहां शासन के केन्द्र स्थापित कर दिये जाते थे। शासन-केन्द्र होते ही वहां की आबादी और भी घनी होजाती थी। लोगों की ज़रूरत रफ़ा करने के लिए भिन्न भिन्न प्रकार की दुकानें खुलने लगती थीं। किन्तु शासन का केन्द्र हटते ही उसके व्यापार का पतन होने लगता था। आजकल नदियों का काम रेलों से होने लगा है। यही कारण है कि, बड़े बड़े शहर रेलों के पास ही मिलते हैं। पुराने ज़माने

में जब लोग उद्योग धंधे स्वतंत्र रूप से किया करते थे, (आज कल की तरह मिल जुल कर नहीं) तब, उन लोगों के व्यापार का विस्तार बाजार की घटती बढ़ती पर बहुत कुछ निर्भर रहता था। इस तरह के स्वतंत्र कारीगर जहां शासन-केन्द्र होता था, वहीं रहा करते थे। ऐसा करने में, उन्हें दो लाभ थे, एक तो यह कि उन्हें अपने माल को बेचने के लिए बाजार मिल जाता था और दूसरा यह कि, उनकी धन दौलत सुरक्षित रहती थी। बस, इसी लिए, वह लोग भी शासन-केन्द्र के हटते ही खुद भी हट जाते थे। मतलब यह कि, पुराने जमाने में जहां शासन-केन्द्र होते थे, वहां ही व्यापार की भी उन्नति होती थी। पर अब तो मिल जुल कर व्यापार करने की चाल है। इसलिए अब तो शासन-केन्द्र हट जाने पर भी वहां का व्यापार नष्ट नहीं होता। क्योंकि, फैक्टरियों की बनी हुई क़ीमती इमारतें नहीं हटाई जा सकती हैं। फैक्टरियां क़ायम करने के पहले इस बात का विचार अवश्य किया जाता है कि उन्हें ऐसी जगह स्थापित करना चाहिये, जहां मजदूर आदि मिल सकें। इसीलिए, वह शहरों के आस पास ही बनाई जाती हैं, पर एक बार जब उनकी स्थापना हो जाती है, तब फिर शासन-केन्द्रों के हट जाने से भी वह नहीं हटतीं। मजदूर व अन्य लोग भी जो उन फैक्टरियों में काम करते हैं नहीं हटते। मतलब यह कि, शासन-केन्द्र के हटने का वहां की आबादी पर बहुत कम प्रभाव पड़ता है। आज कल के शहरों की जनता जो उद्योग धंधों में लगी है पुराने जमाने की उस जनता से जो केवल राजा की दया

पर निर्भर रहती थी, अधिक स्थिर है। उस पर शासन केन्द्रों के बदलने, और राजधानी के परिवर्तित होने का बहुत ही कम प्रभाव पड़ता है। यह बात अब अच्छी तरह से सिद्ध हो गई है, क्योंकि हम देखते हैं कि, कलकत्ते से राजधानी उठ जाने के बाद भी वहां व्यापार की उन्नति उसी प्रकार हो रही है। अगर पुराना जमाना होता तो, मुर्शिदाबाद की तरह कलकत्ते का भी पतन हो जाता।

किन्तु इससे यही न समझ लेना चाहिये कि बड़े बड़े नगरों की भित्ति उनके और दूसरे प्रदेशों के सम्बन्ध पर ही निर्भर है। गंगा जी और यमुना जी के किनारे पर ऐसे बहुत से स्थान हैं जहां न तो कोई बड़ा नगर रहा ही है और न है। ठीक इसी प्रकार कई रेलों के ऐसे जंक्शन भी मौजूद हैं, जहां व्यापार के कोई लक्षण ज्ञात नहीं होते। असल बात तो यह है कि, इसका दारमदार बहुत कुछ उन देशों के निवासियों के ऊपर निर्भर रहा है, और अब भी है। कहीं कहीं के लोग किसी कला-विशेष में प्रवीण होते हैं, और कहीं के नहीं होते। यह विषय इस विज्ञान में बहुत आगे चलकर ध्यान आकर्षित करेगा। यहां पर तो केवल इतना कह देना ही काफी है कि, लोगों की स्वाभाविक प्रवृत्ति नगरों के निर्माण करने में बहुत अधिक सहायक होती है। और, एक बार नगर निर्माण हो जाने पर, फिर वहां के छोटे मोटे क्षेत्रों में, अर्थात्, भूमि-खण्डों में तीव्र प्रतियोगिता होजाती है। साथ ही यह बात भी ध्यान में रखने की है कि, हमारे राजपूताने

के बड़े बड़े नगर नदियों के किनारे नहीं हैं। इसके दो कारण हो सकते हैं, एक तो यह कि शायद उस समय के उन उन राज्यों में व्यापार कम होता रहा हो, और दूसरा यह कि सम्भव है उस समय के महाराजाओं ने अपनी राजधानियां, विदेशियों के आक्रमण से सुरक्षित रखने के लिए, ऐसी जगह स्थापित की हों, जहां आने जाने में नदी के अभाव के कारण कम सुभीता रहता हो। अस्तु।

इस बात का विचार हो चुका कि, व्यापारी, शिल्पी और कारखानेवाले, यह तीनों ही, केवलमात्र क्षेत्र ही नहीं चाहते, पर मौके का क्षेत्र चाहते हैं। उनका क्षेत्र ऐसी जगह होना चाहिये जहां से वह अपना व्यापार सुभीते से कर सकें। ठीक यही बात किसानों के विषय में भी है। पर किसान के क्षेत्र में गुण विशेष भी होना चाहिए। शहरवालों के क्षेत्र में भी गुण विशेष की आवश्यकता है, पर वह गौण है, और इतनी ही कि, वहां का पानी और हवा अच्छी हो। मतलब यह कि शहरों में 'मौक़ा' ही प्रधान है और देहातों में 'मौक़ा' और 'गुण विशेष' दोनों ही प्रधान हैं। अब किसान के क्षेत्र को मौक़े पर होना आवश्यक क्यों है, इसका भी कारण सुन लीजिये। किसान सदा यही चाहता है कि उसका क्षेत्र बाजार के पास हो, क्योंकि, बाजार पास होने से उसे अपनी पैदावार बेंचने में सुभीता रहेगा। जिसका क्षेत्र शहर के पास होता है, वह अपने क्षेत्र में नाज की खेती न कर के सब्जी की खेती करता है और उन किसानों से अधिक पैदा करता है जिन के क्षेत्र

शहर से दूर होते हैं और जो नाज की खेती करते हैं। नाज से सब्जी अधिक मूल्य में बिकती है। अगर देहात का किसान सब्जी की खेती करे, तो, उसके शहर तक लाने में वह सड़ जाय, और अगर न भी सड़े तो भी ख़र्च अधिक पड़ जाय। मतलब यह कि सब्जी की खेती वही किसान कर सकता है जिसका क्षेत्र शहरों के अधिक समीप हो। इसीलिए शहर के पास के क्षेत्रों में बड़ी प्रतियोगिता होती है और परिणामस्वरूप उनका लगान दूर के क्षेत्रों से अधिक होता है। अब देखिये, देहातों में भी क्षेत्रों के मौक़े होते हैं। वहां भी क्षेत्र को मौक़े पर होना चाहिए। कुछ क्षेत्र ऐसे होते हैं, जो, नहर व नदी के जल से आसानी से सींचे जा सकते हैं। इस तरह के क्षेत्र उन क्षेत्रों से अधिक मौक़े के हैं जिन के सींचने में दिक़्क़त होती है। जो खेत गांव के मकानों के पास होते हैं वह भी बड़े मौक़े के होते हैं। उन में खाद पहुंचाने में बड़ी सहूलियत होती है। उनकी निगरानी भी ख़ूब की जा सकती है। ख़ूब खाद पहुंचने से वह उपजाऊ भी अधिक हो जाते हैं। यही कारण है कि, इस तरह के क्षेत्रों का लगान अधिक होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि, कृषि-क्षेत्रों को भी मौक़े की बड़ी जरूरत है।

उपजाऊपन अर्थात् गुणविशेष।

कृषि-क्षेत्रों के लिए इतना ही काफ़ी नहीं है कि वह मौक़े पर ही हों; किन्तु इसके सिवा उन क्षेत्रों में कुछ गुण विशेष होने की भी ज़रूरत है। उन क्षेत्रों में स्वाभाविक उपजाऊपन होने की बड़ी ज़रू-

रत है। जितना ही क्षेत्र उपजाऊ होगा, उतना ही किसान को वह लाभदायक होगा भारतवर्ष की बहुत सी जमीन उपजाऊ नहीं है। इसलिए इसमें खेती ही नहीं हो सकती। बहुत से भाग ऐसे हैं जहां पहाड़ होने की वजह से पैदावार नहीं हो सकती। कुछ भाग ऐसे हैं जहां की जमीन अत्यन्त ढालू होने के कारण जोती बोई नहीं जा सकती। कहीं की मिट्टी अत्यन्त सख्त होने और कहीं की अत्यन्त रेतीली होने के कारण उपजाऊ नहीं है। इस प्रकार के क्षेत्रों को कोई भी किसान खेती के लिए न लेगा। इसके अलावा जो क्षेत्र ऐसे हैं कि जिनमें खेती हो सकती है, उन्हें किराया देकर या खरीद कर लेने को किसान सदा तैय्यार रहते हैं। उपजाऊ खेतों में भी कोई अधिक उपजाऊ होते हैं और कोई कम। इसीलिए किसी का मूल्य अधिक होता है और किसी का कम। इस बात को भली प्रकार तभी समझा जा सकता है, जब कृषि शास्त्र का अध्ययन किया जाय। यह शास्त्र ही दूसरा है। अर्थ-विज्ञान के विद्यार्थियों को तो इतना ही मान लेना चाहिये कि, पैदावार की मिक़दार ज़मीन के उपजाऊपने पर बहुत अधिक निर्भर रहती है। कुछ मिट्टी ऐसी होती है कि, वह पौधों को आवश्यक खूराक नहीं पहुंचा सकती, और कुछ ऐसी होती है जो पौधों को काफ़ी खूराक दे देती है; इसी तरह कुछ मिट्टी ऐसी होती है जिसके द्वारा पौधे को यथेष्ट पानी नहीं पहुंचता, और कुछ मिट्टी ऐसी होती है जो अपने पौधों को काफ़ी पानी पहुँचा दिया करती है। अपने इन्हीं गुणों के कारण मिट्टी कम और ज़्यादा उपजाऊ होती है।

उत्पादकत्व में कमी का नियम।

यदि आप क्षेत्रों में किसानों को खेती का काम करते हुए ध्यानपूर्वक देखेंगे, तो आप को ज्ञात होगा कि, उन्होंने अपने कार्य करने का एक तरह का परिमाण (Standard) बना रक्खा है। वह भिन्न भिन्न फ़सलें उसी बँधे हुए कार्य के परिमाण से करते हैं "कार्य के परिमाण" से हमारा मतलब यह नहीं है कि, कोई किसान उससे कम ज्यादा काम करता ही नहीं, किन्तु, हमारा मतलब यह है कि, उन्होंने क्षेत्र को और फ़सल को देख कर कार्य की एक साधारण दृष्टि से सीमा नियत कर दी है। जैसे वह गेहूं की फ़सल के लिए साधारणतया आठ हल चलाते हैं, जौं के तीन हल, गन्ने के लिए बीस हल आदि। गेहूं की फ़सल के लिए अगर किसी किसान से पूँछा जाय कि "तुम चार हल न चला कर आठ क्यों चलाते हो?" तो वह दृढ़तापूर्वक उत्तर देगा कि "चार हल चलाने में मुझे जितना गेहूं मिलता है, आठ हल चलाने पर, चार अतिरिक्त हलों का ख़र्च निकाल कर भी मुझे ज्यादा गेहूं प्राप्त होता है, अर्थात् मैं मुनाफ़े में रहता हूं।" अब उस से यदि फिर पूछा जाय कि "अच्छा, तो क्या बारह हल चलाने से तुम और भी अधिक गेहूं नहीं पैदा कर लोगे?" तब वह उत्तर देगा "निस्सन्देह, मैं बारह हल चला कर आठ हल से ज्यादा अवश्य पैदा कर लूँगा पर कुछ ही ज्यादा, इतना ज्यादा नहीं कि जिस से मेरे चार अतिरिक्त हलों का भी ख़र्च निकल सके — अर्थात् मैं मुनाफ़े में रहूं।" इस प्रकार के खेती के कार्य्य के परिमाण कई पीढ़ियों के

अनुभव से वने हैं और इन्हीं परिमाणों से एक वहुत ही महत्वपूर्ण "उत्पादकत्व में कमी का नियम" (The Law of Diminishing Returns) वनता है। यद्यपि इस नियम का सम्वन्ध कृषि-शास्त्र से है, तो भी, अर्थ-विज्ञान के लिए भी यह वड़े महत्व का नियम है। विद्यार्थियों को इसे अच्छी तरह से समझने में कुछ कष्ट होगा, क्योंकि, विना कृषि-शास्त्र के ज्ञान के यह भली भांति समझ में आ नहीं सकता।

इस प्रकार हमने देख लिया कि किसानों को पीढ़ियों के अनुभव से यह ज्ञान हो गया है कि, किसी ख़ास फ़सल में अधिक परिश्रम और अधिक कार्य्य के द्वारा एक सीमा तक ही फ़सल की पैदावार वढ़ाई जा सकती है। उस सीमा के वाद चाहे जितना अतिरिक्त कार्य्य (Additional work) किया जाय, पर फ़सल की अतिरिक्त पैदावार (Additional produce) कभी उस अतिरिक्त कार्य्यके व्ययको पूरा नहीं करसकती। किसान उस सीमा को जानते हैं जहां तक क्षेत्र मुनाफ़े के साथ सींचा जा सकता है, या मुनाफ़े के साथ खाद दी जा सकती है, अथवा अन्य कार्य्य इसी प्रकार किये जा सकते हैं। उस सीमा से ज्यादा सींचने, या उस सीमा से ज्यादा खाद देने से पैदावार वढ़ सकती है, पर वह इतनी नहीं वढ़ सकती कि उस के अतिरिक्त कार्य्य का ख़र्च निकाल दे। मतलव यह कि, उस सीमा से आगे वढ़ने पर किसान को लाभ नहीं होता। इसके लिए एक उदाहरण देना ठीक होगा। कल्पना कीज़िये कि, एक किसान ने एक एकड़ जमीन में आठ वार हल चला कर और

तीन वार खेत को सींच कर १५ मन गेहूं पैदा किया । अव दूसरे किसान ने उसी खेत में १६ दफ़े हल चलाया, और सोलह मन गेहूं पैदा किया । मतलव यह कि, आठ वार अतिरिक्त हल चला कर उसने एक मन अधिक पैदा किया । क्या इसी से उसका खर्च निकल सका ? उसे तो तव फ़ायदा हो सकता, जव, पांच सेर गेहूं की क़ीमत से भी कम में वह एक वार हल चला सकता क्योंकि, अतिरिक्त आय प्रति हल पांच सेर ५ × ८ या ४० सेर है । अव अगर, एक वार हल चलाने में पांच सेर गेहूं की क़ीमत से ख़र्चा ज्यादा पड़ा, तो कहना पड़ेगा कि, वह नुक़सान में रहा । इसी तरह अतिरिक्त सिंचाई का भी हिसाव लगा लीजिये । इस नुक़सान का कारण यही है कि, वह कार्य्य उस सीमा से आगे वढ़ गया जिसके आगे वढ़ने से अतिरिक्त कार्य्य के व्यय को अतिरिक्त-पैदावार की आय पूरा नहीं कर सकती । इसी प्रकार के अनुमानों और अनुभवों से कार्य्य का परिमाण वनाया जाता है और उसी के अनुसार किसान चलते हैं । भारतवर्ष के किसान इसी सीमा तक कार्य्य करते हैं या नहीं, अर्थात् अतिरिक्त कार्य्य कर के अतिरिक्त पैदावार द्वारा वह मुनाफ़ा उठा सकते हैं या नहीं, यह प्रश्न विवादग्रस्त है और इस पर अभी कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, इसलिए इसका न छेड़ना ही अच्छा होगा ।

सारांश यह कि, एक सीमा ऐसी भी है, जहां से आगे खर्च करने से फिर आय नहीं होती । यही कारण है कि, किसान जब तक देखता है कि उसके परिश्रम करने से पैदावार ज्यादा होगी

तब तक वह अपने ही क्षेत्र में परिश्रम करता है, वह दूसरा क्षेत्र किराये पर नहीं लेता; किन्तु जब उसे यह ज्ञात होजाता है कि, अब अधिक परिश्रम करने से क्षेत्र में उपज बढ़ नहीं सकती, अर्थात् परिश्रम की सीमा हो चुकी, तब वह फिर दूसरा क्षेत्र लेकर उसमें परिश्रम करता है।

इस स्थान पर हम पाठकों का ध्यान पहिले अध्याय में कहे हुए "नियमों" के सम्बन्ध की बातों की तरफ़ आकर्षित करते हैं; क्योंकि, पहिला और मार्के का नियम अब आगया है। कहा जा चुका है कि, नियम अनुभवों की भित्ति पर बनते हैं। इस नियम के सम्बन्ध में भी ऊपर दिखला दिया गया है कि, इसकी भित्ति क्या है। अब अगर वह नियम न होता तो एक ही क्षेत्र में चाहे जितनी बड़ी खेती की जा सकती थी। पर ऐसा नहीं होता, इसलिए उक्त नियम ठीक है कि, एक सीमाको पार कर लेने के बाद चाहे जितना ख़र्च किया जाय और चाहे जितना परिश्रम किया जाय पर आय से उसकी पूर्ति न होगी।

उक्त नियम के सम्बन्ध की दो बातें।

उपरोक्त नियम में दो विशेषतायें हैं। पहली विशेषता यह है कि, यह नियम साधारण रूप से है, अर्थात्, यह नियम बिना अपवाद के या अपवाद हीन नहीं है। यही बात अर्थ-विज्ञान के प्रायः सभी नियमों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। नियमों के अपवाद ज़रूर होते हैं। देखिये, हमारे जीवन में भी कभी कभी ऐसी घटनायें होजाती हैं जिनका उनके होने के

पहले हमें विचार तक नहीं होता। इसी प्रकार इन नियमों के भी अपवाद निकल आते हैं। इस प्रकार के अपवादों का अध्ययन करना बड़ा मनोरंजक काम है। पर आगे चल कर, अभी नहीं। अभी तो पाठकों को केवल इतना ही जान लेना काफी है कि, यह नियम साधारणतया सत्य है, किन्तु, इसके अर्थ यह नहीं हैं कि, वह प्रत्येक किसान और प्रत्येक क्षेत्र के लिए अवश्य ही सत्य है और उसका कोई अपवाद ही नहीं है।

दूसरी बात इस नियम के सम्बन्ध की यह है कि, इसका उपयोग तभी तक है जब तक कृषि-शास्त्र की काया नहीं पलट जाती। इसका अर्थ यह है कि, सम्भव है कभी कृषिशास्त्र में कोई ऐसा आविष्कार हो जाय जिसके कारण व्यय और उत्पत्ति के परस्पर सम्बन्ध में रद्दोबदल होजाय। सम्भव है कि ऐसी दशा में और भी खर्च कर के और भी पैदा करने की कोई सूरत निकल आवे जिस से ख़र्च तो इतना ही रहे पर पैदावार बढ़ जाय। किन्तु ऐसा होने पर भी नियम के असली तत्व को धक्का नहीं लग सकता। क्योंकि तब भी कोई न कोई सीमा रहेगी ही।

जिस नियम का ऊपर वर्णन हुआ है उसका समर्थन प्रायः समस्त देशों के किसानों के अनुभवों से होता है। कृषिशास्त्र के विषय में अर्थ-विज्ञान का यह बहुत ही महत्वपूर्ण नियम है। "कर" या "लगान" के सिद्धान्तों का जब हम आगे चलकर विचार करेंगे, तब उसके विचार करने में हमें इस नियम से बड़ी मदद मिलेगी।

कृषि-प्रधान और कलाकौशल प्रधान देशों की दशा ।

हमारा देश कृषि-प्रधान है। पर, हमारे शासकों का कला-कौशल-प्रधान है। कृषि-प्रधान देश के नियम व्यापार-प्रधान देश के नियमों से भिन्न प्रकार के होते हैं। कृषि-प्रधान देश का अर्थ-विज्ञान अन्य प्रकार का होता है, तथा व्यापार-प्रधान देश का और ही तरह का। दोनों की आर्थिक अवस्था और रहन सहन में भी ज़मीन आसमान का सा अंतर होता है। प्रो० यदुनाथ सरकार ने अपनी पुस्तक "इकनामिक्स आव ब्रिटिश इंडिया" में इस विषय का बड़ा सुन्दर विवेचन भिन्न भिन्न अर्थ-विज्ञान के आचार्य्यों के मतानुकूल किया है। यहां पर हम भी अपने पाठकों के सुभीते के लिए उनकी कुछ बातों का उल्लेख करते हैं।

(१) कृषि-प्रधान देश में उत्पादकत्व में कमी का नियम लागू हो जाता है; अर्थात्, वहां की आमदनी की एक सीमा बन जाती है, पर कलाकौशल-प्रधान देश की आमदनी नित्य बढ़ती ही रहती है। क्योंकि, वहां ह्रास के नियम के ठीक विपरीत उत्पादकत्व में उन्नति का नियम काम करता है।

(२) कृषि-प्रधान देश प्राकृतिक साधनों पर निर्भर रहता है, जैसे अच्छी उपजाऊ ज़मीन, मेंह, धूप तूफ़ान, नदी की बाढ़ आदि पर, कलाकौशल-प्रधान देश में इस प्रकार की कोई बाधायें नहीं होतीं।

(३) कला-कौशल-प्रधान देश की जन-संख्या बढ़ने पर वहां का कला-कौशल बढ़ जाता है। पर कृषि-प्रधान देश की जन

संख्या बढ़ने पर, वहां की ख़राब जमीन में भी खेती होने लगती है; अतः लोगों के जीवन में घोर प्रतियोगिता से होनेवाली दिक़्क़तें खड़ी हो जातीं हैं।

(४) कृषि-प्रधान देश के निवासियों में मानसिक बल की उन्नति नहीं होती—वह जड़ स्थिति में चले जाते हैं—अपनी जरूरतों को बढ़ाने और भौतिक सभ्यता के सुखों से पूरित जीवन व्यतीत करना वह नहा जानते। पर कला-कौशल-प्रधान देश के लोग मानसिक बल की उन्नति करते हैं और अपनी भौतिक आवश्यकताओं की उन्नति कर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं।

(५) कला-कौशल-प्रधान देश के निवासी जब देखते हैं कि हम अमुक स्थान में अपना काम जमा कर ज्यादा लाभ उठा सकते हैं, तब वह अपने निर्दिष्ट स्थान को शीघ्रता से जा सकते हैं। पर कृषि-प्रधान देश के कृषकों का अपनी पुरानी जमी हुई खेती को छोड़कर जाना महा कठिन कार्य है। अतः वह गांव में ही रहते हैं, चाहें तकलीफ़ें ही मिलें।

(६) कला-कौशल-प्रधान देशों में, एक ही स्थान पर बहुत बड़े व्यापार की योजना की जा सकती है। पर कृषि-प्रधान देश में कृषि को, बिना क्षेत्र को विस्तृत किये बढ़ाया नहीं जा सकता।

(७) संक्षेप में, कृषि-प्रधान देश का जीवन ग्रामीण जीवन है और कला-कौशल-प्रधान देश का नागरिक जीवन।

यहां पर हम स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि, यद्यपि नागरिक

जीवन दूर से देखने में अच्छा देख पड़ता है, और उसकी प्रशंसा भी हमारे आचार्यगण मुक्त-कंठ से करते हैं, तथापि, हमें यह भी जान लेना चाहिए कि, नागरिक जीवन का—भौतिक सभ्यता का—दृश्य वास्तव में, उतना सुन्दर नहीं है, जितना वह दूर से देख पड़ता है। मोटरों पर सवार और सतखण्डे महलों में रहनेवाले लखपती लोग चाहे हमें दूर से सुखी ज्ञात हाते हों, पर, वह वास्तव में उतने सुखी नहीं हैं, जितना हम उन्हें समझते हैं। इसलिए, बिना अर्थ-विज्ञान के सब प्रश्नों का ज्ञान प्राप्त किये, हमें इस विषय में कोई राय न बना लेना चाहिए कि, अमुक प्रकार का जीवन ही श्रेष्ठ है। यहां पर तो केवल दोनों प्रकार के देशों के भेद-प्रदर्शन की दृष्टि से ही उक्त बातें लिखी गई हैं, पर यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, नागरिक जीवन में हमारे उन पवित्र पारिवारिक और धार्मिक तत्वों की रक्षा नहीं हो सकती, जिन्हें, हम लोगों के बुजुर्गों ने बहुत कुछ देकर सीखा है। इसके अलावा नागरिकों से ग्रामीणों का शारीरिक स्वास्थ्य भी उत्तम होता है। तात्पर्य यह है कि दोनों ही पक्षों के समर्थन के लिए भिन्न भिन्न प्रकार की दलीलें दी जा सकती हैं। उनका विचार यदि हम यहां करने लगेंगे तो अपने लक्ष्य से च्युत हो जायेंगे। अतः अपने मुख्य विषय पर आते हैं, और इस विषय को अपने विज्ञान के प्रारम्भिक तत्वों के वर्णन करने के बाद के लिए छोड़े देते हैं।

सातवां परिच्छेद ।

श्रम ।

'श्रम' का अर्थ ।

उत्पत्ति का दूसरा साधन श्रम है। 'श्रम' शब्द में मनुष्यों के द्वारा किये हुये कार्य्यों का ही समावेश होता है और उन कार्य्यों की गणना इस में नहीं की जाती जो पशुओं से कराये जाते हैं। कभी कभी 'श्रम' शब्द 'कार्य्य' शब्द के अर्थ में प्रयुक्त होता है, इसी तरह कभी कभी 'श्रम' से श्रम करनेवालों का भी बोध होता है। पाठकों को श्रम शब्द के इन अर्थों को ध्यानपूर्वक जान लेना चाहिए, क्योंकि, हम शब्द के स्वाभाविक अर्थ को बदल नहीं सकते। कार्य्य को कार्य्यकर्ता से पृथक् नहीं किया जा सकता।

मनुष्यों का किया हुआ काम भिन्न भिन्न प्रकार का होता है। मनुष्य अपने कार्य्यों को दो प्रकार से करता है, एक तो शरीर की पेशियों की सहायता से और दूसरे दिमाग़ की मदद से। किन्तु, मनुष्य के कार्य्यों के विभाग इसी भित्ति पर स्पष्टतापूर्वक विभाजित नहीं हो सकते, क्योंकि, बहुत से काम ऐसे हैं, जिनमें दिमाग़ और पेशी, दोनों की ही आवश्यकता पड़ती है। कुली को अपने काम में दिमाग़ की बहुत कम जरूरत पड़ती है। वह अपने कार्य्यों के अधिकांश को पेशियों की ही सहायता से करता है। पर वकीलों और अन्य इसी तरह के पेशेवालों को अपने काम में पेशियों का उपयोग

सम्पत्ति के उत्पादन में करना ही नहीं पड़ता, वह दिमाग़ से सम्पत्ति का उत्पादन करते हैं। इसके सिवा कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जिन्हें बुद्धि और पेशी दोनों से ही काम लेना पड़ता है। शिल्पी और सिखे हुए होशियार मज़दूर इसी तरह अपने कार्य्यों को करते हैं। श्रम का विचार करने में हमें सब से पहले उस प्रकार के श्रम का विचार करना चाहिए जो पेशियों की सहायता से अधिकता के साथ किया जाता है। उस में भी हमें पहले उन मज़दूरों का विचार करना चाहिए जो किराये पर मज़दूरी करते हैं।

किराये के श्रम से हम अच्छी तरह से परिचित हैं। सब से पहला प्रश्न यह होता है कि, मज़दूर मज़दूरी करता ही क्यों है? इसका उत्तर यह है कि, उसे अपने और अपने कुटुम्ब का पालन करने के लिए धन की आवश्यकता होती है, और किराये पर मज़दूरी करने से धन प्राप्त होता है, इसीलिए, वह मज़दूरी करता है। वह मज़दूरी सम्पत्ति उत्पन्न करने के लिए करता है। वह मनोविनोद के लिए अपनी पेशियों का सञ्चालन नहीं करता। यद्यपि यह बात ठीक है कि, बहुत से लोग केवल मनोविनोद के लिए, श्रम करते हैं—वह हाकी, फ़ुटबाल आदि खेलते हैं, अपने बग़ीचों में काम करते हैं; पर मज़दूर मनोविनोद के लिए मज़दूरी नहीं करता, और, यद्यपि यह बात भी ठीक है कि, बहुत से मज़दूर मज़दूरी करते समय आनन्द भी अनुभव करते हैं, पर यह दूसरी बात है। मज़दूर आनन्द के लिए मज़दूरी नहीं करता। कारण यह है कि, श्रम मनुष्य के लिए आनन्द की चीज़ नहीं है। मुफ़्त में कोई भी

श्रम करना न चाहेगा। जब तक श्रम करने में कोई प्राप्ति न हो, तब तक कोई श्रम न करेगा। यदि हमें, कुछ काम कराने के लिए मज़दूर की ज़रूरत हो, तो हमें मज़दूर को कुछ धन दे कर काम कराना पड़ेगा। अब कितना धन किस काम के लिए दिया जाय, यह सवाल ही दूसरा है और उसका वर्णन हम "वितरण" के नियमों पर विचार करते समय करेंगे। यहां पर तो केवल इतना ही समझ लेना चाहिए कि, बिना कुछ प्राप्ति की आशा के कोई आदमी काम नहीं करता।

यह सिद्धान्त कि, बिना लोभ के कोई कुछ काम नहीं करता, किसान, शिल्पी, और मज़दूर सब के लिए एक समान लागू है। पर इसके लिए यह जरूरी नहीं है कि, सब को मज़दूरी नित्यप्रति ही दी जाय। किसान सोचता है कि, अगर मैं, चुपचाप सुस्त पड़ा रहूंगा, तो मेरी आगामी फ़सल में कम पैदावार होगी। इसीलिए, वह कठिन श्रम करता है और उस श्रम के फल को प्राप्त करने के लिए फ़सल के अन्त तक प्रतीक्षा करता है। पर कुली को श्रम के अन्त में मज़दूरी मिल जाती है। शिल्पी भी इसी तरह अपने तैय्यार माल के बेंचने की आशा में मेहनत से काम करता है। इस प्रकार, यह बात स्पष्ट है कि, तनख्वाह में भेद हो सकता है, पर इस बात में भेद नहीं हो सकता है कि, मनुष्य सम्पत्ति पैदा करने के ही लिए श्रम करता है, श्रम करना कष्टप्रद होते हुए भी मनुष्य उसे इसलिए करता है कि, जिससे वह सम्पत्ति पैदा कर सके और उस सम्पत्ति से अपनी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके।

अब यदि, पूंजी और जमीन किसी देश की उतनी की उतनी ही रहे, तो फिर उस देश की सम्पत्ति की उत्पत्ति का दारोमदार बहुत कुछ मजदूरों के ऊपर ही निर्भर रहेगा। अर्थात् जहां पर ज्यादा काम करनेवाले हों गे, वहां ज्यादा सम्पत्ति पैदा की जा सकेगी। किन्तु एक बात और भी है। खूब चुस्त और सधेसिखे मजदूर थोड़ी संख्या में ही बहुत सम्पत्ति उत्पन्न कर सकते हैं और बहुत से मजदूर अगर काहेल तथा सुस्त हों तो वह कम सम्पत्ति पैदा कर सकेंगे। इसलिए, मजदूरों का विचार करते समय हमें दो बातों का ध्यान रखना उचित है, एक तो उनकी संख्या का और दूसरे उनके गुणों का। अब हम अगली पंक्तियों में पहिले संख्या का अर्थात् जन-संख्या का ही विचार करेंगे, क्योंकि देश की अधिकांश जनता हाथ के काम पर ही जीवन व्यतीत करती है।

जन-संख्या का घटना और बढ़ना ।

किसी देश की जन-संख्या की कमी या बेशी बहुत से कारणों पर निर्भर है। पर निम्नलिखित तीन बातों का जन-संख्या पर गहरा प्रभाव पड़ता है—

(१) जन्म-संख्या।

(२) मृत्यु-संख्या।

(३) प्रवास।

जन-संख्या से मतलब किसी देश में उत्पन्न हुये बच्चों से है। जो साल भर में पैदा होते हैं। अब अगर एक देश के हजार मनुष्यों की आबादी में ४० लड़के साल भर में पैदा होते हैं, और दूसरे

देश के हज़ार मनुष्यों में साल भर में बीस ही पैदा होते हैं तो यह स्पष्ट ही है कि, पहिले देश की आबादी दूसरे देश की आबादी से बढ़ जायगी। अब भिन्न भिन्न देशों में कम ज्यादा बच्चे क्यों पैदा होते हैं इस की जांच करने का काम अर्थ-विज्ञानियों का नहीं है। यह स्वाथ्य-विज्ञान या आयुर्वेद का काम है।

मृत्यु-संख्या को देखिये। अगर एक देश में हज़ार लोगों में प्रति वर्ष चालीस आदमी मरते हैं और दूसरे देश में उतने ही मनुष्यों में, इतने ही समय में, बीस ही मरते हैं, तो यह स्पष्ट है कि, दूसरे देश की जन-संख्या पहिले की अपेक्षा शीघ्र बढ़ेगी, अथवा यदि जन-संख्या घट रही है (जैसा कि बहुत सम्भव है) तो पहले देश की जन-संख्या दूसरे की अपेक्षा शीघ्र घट जायगी।

अब प्रवास के प्रश्न को लीजिए। प्रवास के कारण देशों की जन-संख्या पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। कुछ देशों की तो जन-संख्या महज़ प्रवासी लोगों के आने के कारण ही बढ़ रही है, और कुछ देशों की प्रवासियों के जाने के कारण घट रही है। आयर्लैंड से लोग निकल २ कर जा रहे हैं, इससे वहां की जन-संख्या घट रही है। उधर केनाडा, अफ्रीका, आष्ट्रेलिया आदि देशों की जन-संख्या बढ़ रही है, इसका भी कारण प्रवास ही है। लोग बाग वहां रहने के लिए अधिक संख्या में जा रहे हैं।

हम ऊपर कह चुके हैं कि, जन-संख्या, और मृत्यु-संख्या के कारण, अर्थ-विज्ञान की सीमा के बाहर हैं, पर प्रवास के कारणों के विषय में यह बात नहीं है। प्रवास के कारण, अर्थ-विज्ञान की

सीमा के भीतर ही हैं, क्योंकि, जब लोग बाग प्रवास करते हैं, तब, उनका उद्देश्य यही रहता है कि, प्रवास के कारण वह अधिक सम्पत्ति पैदा कर सकेंगे। प्राचीन काल में प्रवास के अन्य कारण भी थे। पारसियों का बम्बई में आकर रहना धार्मिक कारणों से ही हुआ था। हूजनोट्स (Huguenots) इँगलैण्ड धार्मिक कारणों से ही गया था। पर, आजकल प्रायः मनुष्य धार्मिक कारणों से प्रेरित होकर प्रवास नहीं करते। योरप के लोग कनाडा आदि देशों में अब इसलिए जाते हैं, जिससे उन्हें वहां ज़मीन योरप से सस्ती मिल जाय और वह ख़ूब सम्पत्ति पैदा करें। प्रवास के कारणों का अध्ययन बड़ा ही मनोरंजक कार्य है। आगे चलकर कुछ इस विषय में कहा भी गया है।

जन-संख्या के विषय में माल्थस के विचार।

यद्यपि जन्म और मृत्यु के कारणों का वर्णन करना अर्थ-विज्ञान के क्षेत्र के बाहर की बात है, तो भी, अर्थ-विज्ञान के पण्डितों ने देशों की जन-संख्या के घटने और बढ़ने के इतिहास को अध्ययन करके उसे नियमों के रूप में वर्णन करने की चेष्टा की है। प्रसिद्ध अर्थ-विज्ञानी माल्थस इस काम में विख्यात है। उसके सिद्धान्तों का प्रभाव भी अन्य अर्थ-विज्ञानियों पर ख़ूब पड़ा है। ऐसी दशा में पाठकों को भी इस बात से कुछ थोड़ा बहुत परिचित हो जाना चाहिए। इसके महत्व का ज्ञान तो पाठकों को आगे चलकर होगा। माल्थस का सिद्धान्त है कि, देशों की जन-संख्या बहुत तीव्र गति से बढ़ती है, और यदि कुछ ख़ास ख़ास

कारणों से आवादी घटाई न गई, तो फिर जन-संख्या इतनी वढ़ती है कि, देश में खाने के लिए काफ़ी भोजन नहीं मिलता। इसी निर्णय को प्राय: इस प्रकार कहा जाता है कि, जन-संख्या भोजनों की सीमा तक वरावर वढ़ती ही जाती है।

इस नियम का पूर्ण रूप से वर्णन करने में संसार के इतिहास के अध्ययन का वर्णन करना पड़ेगा। इसलिए अभी पाठकों को इसका अर्थ समझ कर ही सन्तोष कर लेना चाहिए। इस नियम का मतलब यह है कि, प्रत्येक देश की जन-संख्या वढ़ती ही जाती है। कुछ विशेष कारणों और उपायों से जन-संख्या की वृद्धि रोकी भी जा सकती है। लड़ाई में वहुत से मारे जा सकते हैं, अकाल में भूँख के मारे तड़प तड़प कर मर जाते हैं। प्लेग और हैज़ा जैसी अन्य महामारियों से वहुत सी जन-संख्या कम की जा सकती है। अव यदि इस प्रकार के कारण न पैदा हों तो एक ऐसा समय उपस्थित हो जाय कि, जन-संख्या इतनी वढ़ जाय कि, उसके लिए काफ़ी भोजन मिलना कठिन हो जाय। अव अगर इससे भी अधिक जन-संख्या वढ़े, तो फिर भोजन तथा अन्य आवश्यकताओं के लिए वड़ी ही हाय हाय पैदा हो जाय।

समस्त भारतवर्ष के सम्बन्ध में इस नियम को लगाकर विचार करना ज़रा कठिन काम है, इसलिए, एक छोटे से गांव में इस नियम को लगाकर कल्पना की दृष्टि से देखना चाहिए कि क्या होता है। कल्पना कीजिये कि, एक छोटा सा गांव है, उसमें जितनी ज़मीन है ठीक उतने ही उसमें किसान हैं, अर्थात ज़मीन

की पैदावार इतनी ही है कि जिससे उस ग्राम के निवासियों की उदर-पूर्त्ति हो जाय। साथ ही यह भी कल्पना कीजिये कि, उस ग्राम के आदमी सिवा खेती के और कोई धंधा कर ही नहीं सकते। अब सोचिए कि, ऐसी दशा में गांव की आबादी अगर बढ़ जाय तो क्या दशा हो? अब भोजन करनेवाले तो बढ़ गये, पर अन्न उतना ही रहा; ऐसी दशा में सिवा इसके और हो ही क्या सकता है कि, जमीन को और भी अच्छी तरह से जोता बोया जाय और ज्यादा नाज पैदा करने की कोशिश की जाय। पर उतपादकत्व में कमी के नियम के अनुसार (जिसका वर्णन हम पिछले परिच्छेद में कर चुके हैं) एक ऐसी सीमा भी आजायगी कि, जिसके आगे फिर नाज ज्यादा न पैदा हो सकेगा। यहाँ पर यह शंका की जा सकती है कि, ऐसी दशा में महामारियां फैलेंगी और जनता का मृत्यु से क्षय हो जायगा, पर हमारा उत्तर यह है कि इस प्रकार की महामारियों का रोका जाना सम्भव है और वह उस गांव में भी उसी प्रकार रोक दी जांयगी जिस प्रकार योरप तथा अमरीका के प्रदेशों में रोक दी गई हैं।

तब फिर प्रश्न होता है कि, इस तरह खचाखच भरे हुए गांव की क्या दशा होगी। कुछ लोग ऐसी दशा में गांव छोड़कर बाहर जा सकते हैं। बाहर जाकर वहां नौकरी कर सकते हैं या और धन्धों में लग सकते हैं। मगर यदि हम साथ ही यह भी मान लें कि समस्त संसार इसी तरह से आबादी से खचाखच भरा हुआ है, तब क्या होगा? ऐसी दशा में, जब कि बाहर

भी उनके लिए वही हाल है जो गांव के भीतर है, तब फिर उनके लिए कौन सा रास्ता है ? अब उनके लिए केवल दो रास्ते हैं। पहला तो यह कि, वह भोजन की कमी के कारण भूखों मरें और दूसरा यह कि, वह अपनी जन-संख्या किसी न किसी उपाय से सीमित करलें। अर्थात् उस सीमा के आगे वह जन-संख्या बढ़ने ही न दें। इतिहास से हमें मालूम होता है कि, प्राचीन समय में, जन-संख्या को सीमित करने के लिए, कुछ उपाय काम में लाये जाते थे। कहीं कहीं, बुड्ढे लोगों को मार डालने की प्रथा प्रचलित थी। भारतवर्ष में ही बच्चों का बलिदान करने की चाल थी, ऐसी अमानुषीय बातों को रोकने के लिए क़ानून अभी तक मौजूद हैं। मतलब यह कि, सभ्य सरकारें ऐसे अमानुषीय कार्य्यों का अस्तित्व सहन नहीं कर सकतीं। अब अगर जनसंख्या को कम करने का कोई उपाय है, तो वह यही है कि, स्त्री पुरुष संयम से रहने का अभ्यास करें, जिससे सन्तानोत्पत्ति कम हो।

मालथस ने पहिले से ही उस दशा का विचार कर लिया जो आगे आनेवाली है। कभी न कभी, वह समय आवेगा ही जब लोगों को आबादी की सीमा बनाने की आवश्यकता पड़ जायगी। इस प्रश्न के सम्बन्ध में और भी बहुत सी बातें हैं, जिनका विचार करना इसके साथ अत्यन्त आवश्यक है। यह विषय पाठकों का ध्यान आगे चलकर आकर्षित करेगा। हां, इतना अवश्य जान लेना चाहिये कि, भारतवर्ष में, यद्यपि, बहुत

से स्थान लोगों से खचाखच भरे हैं, पर साथ ही, बहुत से स्थान ख़ाली भी हैं। इसलिए भारतवर्ष में जनसंख्या को रोकने की आवश्यकता नहीं है। यहां तो केवल मनुष्यों का विभाग कर देने की आवश्यकता है, अर्थात्, उन नये नये स्थानों को बसाने की आवश्यकता है जो अभी तक उजाड़ हैं, और जहां वणिज व्यापार, खेती और शिल्प आदि के व्यापार करने का बड़ा सुभीता है।

श्रम की गति-क्षमता।

यह बात पिछले परिच्छेद में कही जा चुकी है कि, भारतवर्ष में श्रम का वितरण अच्छी तरह से नहीं हुआ है। यहां पर ऐसे प्रदेश हैं, जो लोगों से खचाखच भरे हैं, साथ ही ऐसे भी हैं जहांपर आदमी की कमी है। प्रायः क्षेत्र की उत्पादन शक्ति के अनुसार ही आबादी घनी या फैली होती है। यही कारण है कि गंगाजी के आस पास की ज़मीन बहुत ही घनी बसी हुई है, साथ ही हिमालय के पास की और मध्य भारत की जमीन के एक बड़े भाग में बहुत कम आबादी है। आबादी का औसद निकालने का क्रम मीलों के हिसाब से है। अर्थात्, यह जानना चाहिये कि, प्रत्येक वर्ग मील में कितने मनुष्य रहते हैं। सेन्सस की रिपोर्ट से पता चलता है कि, भारतवर्ष की आबादी भिन्न भिन्न जिलों में भिन्न भिन्न है। किसी ज़िले की आबादी ३० मनुष्य प्रति वर्ग मील है तो किसी ज़िले की एक सहस्र मनुष्य प्रति वर्ग मील! यद्यपि श्रम का वितरण क्षेत्र की उत्पादन शक्ति के अनुकूल होता है, तथापि,

इस बात का ध्यान भारतवर्ष में बहुत कम है। जहां उद्योग धंधों की उन्नति है, वहां के लिए प्रवास करनेवाले मनुष्य बहुत कम हैं, और यही कारण है कि, पहले से खचाखच भरे हुए स्थान वैसे ही खचाखच भरे हुए हैं। इसीलिए, कलकत्ता बम्बई और कानपुर आदि नगरों के कारखानों में मजदूरों की सदा कमी रहा करती है। उधर देहातों में बहुत से लोग बेकारी में अपना जीवन व्यतीत करते हैं। यही कारण है कि कहीं तो मजदूर बड़े मँहगे हैं, और कहीं बड़े सस्ते। अब यदि यह प्रवास की कमी न होती, तो स्पष्ट ही है, देश में अधिक सम्पत्ति पैदा होने का द्वार खुल जाता।

प्राचीन समय में देश की सरकारें मजदूरों से अपनी इच्छा के अनुकूल और उनकी इच्छा के प्रतिकूल जहां चाहती थीं प्रवास करवा लेती थीं। देशी-राज्यों में तो आज कल भी कहीं कहीं यही बातें होती हैं। पर हमारी दौलतमदार बृटिश सरकार ने यथासम्भव इन बातों को दूर कर दिया है और व्यक्ति-गत-स्वाधीनता की स्थापना की है। फिर भी अभी तक बड़े बड़े जमींदार लोग मज़दूरों से बेगार में काम ले ही लेते हैं। पर अब वह उन मजदूरों को अपनी इच्छा के अनुसार दूर नहीं भेज सकते। अब तो मजदूरों को लम्बी चौड़ी मज़दूरी का ही लोभ देकर बाहर भेजा जा सकता है।

अर्थ-विज्ञान के पुराने लेखकों ने इस बात को निर्विवाद रूप से मान लिया था कि, जहां ज्यादा मजदूरी मिलेगी, वहीं मज़दूर चले जायंगे। अर्थात् उन्होंने श्रम की गतिक्षमता को स्वीकार

कर लिया था। जिस प्रकार, यह नियम है कि पर्वत से जल नीचे की तरफ़ गिरेगा, और तब तक बराबर गिरे जायगा जब तक चौरस ज़मीन न मिल जायगी, उसी तरह, निर्विवाद रूप से उन्होंने इस बातको भी स्वीकार कर लिया था कि, मज़दूर वहीं जाकर मज़दूरी करेंगे जहां उन्हें सबसे ज्यादा मज़दूरी मिलेगी। पर अनुभव से ज्ञात हुआ कि, इस प्रकार की श्रम की पूर्ण गतिक्षमता ज़रा टेढ़ी खीर है। भारतवर्ष ही नहीं, सारे संसार के देशों में इस गतिक्षमता के लिए कुछ रुकावटें हैं। अर्थविज्ञानियों ने इन रुकावटों का विचार भी किया है। यह रुकावटें भिन्न २ देशों में भिन्न भिन्न रूप में हैं, पर सबका खाका एक ही है। नीचे की पंक्तियों में हम उत्तरीय भारत की इसी प्रकार की कुछ रुकावटों का वर्णन करते हैं।

प्रवास और प्रवासियों की कठिनाइयां। वर्णव्यवस्था और अर्थविज्ञान।

प्रवास दो तरह का होता है, एक तो स्थाई प्रवास और दूसरा अस्थाई प्रवास। स्थाई प्रवास उसे कहते हैं, जिसमें मज़दूर किसी दूसरे स्थान में सदा के लिए चला जाता है, और वहीं अपना घर आदि बना लेता है। अस्थाई प्रवास उसे कहते हैं, जिसमें मज़दूर थोड़े समय के लिए प्रवास करता है और घर लौटने की आशा में रहता है। भारत को छोड़ अन्य देशों में स्थाई प्रवास की कमी नहीं है। आष्ट्रेलिया, कनाडा आदि देशों को जो प्रवासी जाते हैं वह स्थाई प्रवासी ही होते हैं। पर भारत में इसकी बड़ी कमी है। उन बहुत से बंगालियों में जो अपना बंगाल छोड़ कर

पश्चिम में आकर बस गये हैं, स्थाई प्रवास का उदाहरण मिलता है किन्तु जनसंख्या को देखते हुये यह उदाहरण बहुत ही कम है। अस्थाई प्रवास खूब प्रचलित है। लोग बाग रेल, खान, और कारखानों में काम करने के लिए दूर देश में जाने लगे हैं, पर वह अपने बाल बच्चों को घर पर ही छोड़ जाते हैं, और बाहरसे उन्हें ख़र्च भेजते हैं। इस तरह के आदमी थोड़े ही काल के उपरान्त फिर घर को वापिस आजाते हैं।

भारतवर्ष में श्रम की गतिक्षमता का सम्बन्ध वर्णव्यवस्था और सामाजिक व्यवहारों से बहुत ही घना है। कुछ जातियां ऐसी हैं, जिनके लोग अन्य प्रदेशों में जाकर अपना काम आसानी से कर सकते हैं। ऐसी जातियों के मनुष्यों में अस्थाई प्रवास संसार के किसी भी देश से कम नहीं है। आज़मगढ़ और जौनपुर के चमार अन्य अन्य शहरों में काम करते हैं। अवध के ब्राम्हण और क्षत्रियगण भारत के दूर दूर के प्रदेशों में जाकर नौकरी चाकरी करते हैं। पर किसानों का समुदाय प्रवास नहीं करता और अगर करता भी है, तो बहुत ही थोड़ी दूर के लिए, और बहुत ही थोड़े समयके लिए। शिल्पी किसानोंसे अधिक गतिक्षमता रखते हैं। पिछले परिच्छेद में हम कह ही चुके हैं कि पुराने ज़माने में यह लोग राजकीय दरबारों के साथ फिरा करते थे। और अब भी जब वह सुभीता देखते हैं, तब अन्यान्य शहरों में चले जाते हैं।

सारांश यह कि, यह बात नहीं है कि, परिवर्तन की गतिक्षमता का भारत में सर्वथा अभाव ही है। परन्तु प्रश्न यह है कि,

जब एक जाति या एक पेशेवालों में प्रवास करना आसान बात है, तब वही दूसरे में कठिन क्यों है ? इसका उत्तर भारतवर्ष के इतिहास पर निर्भर है और कठिनाई यह है कि, अभीतक इस विषय के उत्तर के योग्य काफ़ी इतिहास लिखा नहीं गया है। परन्तु विचार करने से ज्ञात होता है कि, उत्तरीय भारत के मनुष्यों में प्रवास करने का स्वभाव ही नहीं है। इस स्वभाव के जो अपवाद स्वरूप उदाहरण हैं, अर्थात्, जो प्रवासी लोग हैं, उनके कारणों की जांच करने से कि, उन्होंने प्रवास क्यों किया, इस प्रश्न का बहुत कुछ उत्तर मिल सकता है।

इस प्रश्न को विचारते समय यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि, देश में अधिकांश बस्ती किसानों की है, और किसानों तथा शिल्पिओं में एक बड़ा मार्के का भेद है। किसान अपने रोज़गार के साधनों को अपने साथ नहीं ले जा सकता, पर शिल्पी के लिए अपने साधनों (औज़ारों आदि के बण्डल) को अपने साथ लेते हुए चले जाना आसान बात है। वह जहां अपना सुभीता या पड़त देखे, वहीं अपने साधनों को ले जा कर अपना काम शुरू कर सकता है। पर, किसान के लिए यह बात बड़ी कठिन है। प्रथम तो किसान अपने खेतों और खेती के सामानों को ले कर कहीं बाहर जा ही नहीं सकता, और अगर वह बेचारा कहीं अपना सामान बेंच बांच कर जाय भी, तो भी, उसे बड़ी बड़ी मुसीबतों का सामना करना पड़ता है। क्योंकि किसान को खेती में सफलता तभी हो सकती है जब उसे अपनी ज़मीन का अच्छी तरह ज्ञान

हो। ऐसी दशा में जब वह बाहर जाता है, तो उसे नई ज़मीन, नई आबोहवा और नई फ़सलों से काम पड़ता है। यहां पर उसका तमाम पहले का अनुभव बेकार हो जाता है। यह बड़ी भारी कठिनाई है। केवल भारत के ही नहीं, समस्त संसार के किसानों की यही दशा है। अब चूंकि, भारत में किसानों की ही अधिक संख्या है, इसलिए, किसान समुदाय के इन विचारों का उन लोगों पर भी प्रभाव पड़ता है, जो किसान नहीं हैं, और वह लोग भी प्रवास करना बड़ी आफ़त समझते हैं और बिना किसी बड़े लोभ या लाचारी की हालत पैदा हुए प्रवास करते ही नहीं।

अब यह लाचारी की हालत, या तो सामाजिक होती है, या फिर आर्थिक। अगर किसी आदमी का गांव के ज़मींदार से अथवा अपने भाईबन्दों से झगड़ा हो जाय, या उससे कोई ऐसा काम हो जाय जिससे उसके चरित्र में बट्टा लगने की बात हो, तो, उस मनुष्य के लिए, सामाजिक लाचारी की हालत पैदा हो जाती है। ऐसी दशा में, या तो गांव का ज़मींदार ही उसे निकाल देता है या फिर वह ख़ुद इतना लाचार होजाता है कि, गांव का रहना उसके लिए विष तुल्य हो पड़ता है, और इसीलिए वह बाहर निकल जाता है। मगर, इस तरह के मामले थोड़े होते हैं, और अर्थ-विज्ञान की दृष्टि में उनका ऐसा कुछ महत्व नहीं है।

अब आर्थिक लाचारी को देखिये। जब आदमी ग़रीबी से अच्छी तरह तबाह हो जाता है, और जब उसे खाने को ठिकाना नहीं रहता, तब उसे बाहर जाने की सूझती है। इस तरहके आदमी

प्राय: दब्बू, डरपोक और मेहनत से डरनेवाले होते हैं। तभी तो उनकी गांव में ही ऐसी आर्थिक दुर्दशा हो जाती है। पहिले तो यह बाहर जाने से बहुत डरते हैं; क्योंकि, यह मेहनत से डरनेवाले होते हैं; पर, अगर मजबूर होकर गये भी, तो, इनका अर्थ-विज्ञान की दृष्टि में कोई बड़ा महत्व नहीं है, क्योंकि, ऐसे लीचड़ आदमी बाहर जा कर भी अपने दिन ही काटते हैं। पर हां आर्थिक लाचारी के साथ किसी लोभ का मेल होने से वह बड़ी महत्व की चीज़ हो जाती है। और इस तरह के लोग ऐसे स्थानों में जाते हैं जहां वह खूब रुपया पैदा कर सकते हैं। उदाहरण लीजिये। अवध के एक ठाकुर के बड़ा कुटुम्ब है। आमदनी उनकी थोड़ी है। वह बेचारे बड़े तंग हैं कि क्या करें और कहां जायँ। संयोग से उन के रिश्तेदार कलकत्ते में निकल आये, और उनकी दशा ठाकुर ने अच्छी देखी। बस फिर ठाकुर साहब भी कलकत्ते चले गये और किसी अच्छे धंधे में लग गये तथा घरको रुपया कमा कमा कर भेजने लगे।

तब फिर तय यह पाया कि, मनुष्य स्वभाव से ही घर में और मित्रों में रहना पसन्द करता है, और उनका छोड़ना उसके स्वभाव के ही विरुद्ध है। यह बात भारतवासियों के ही विषय में नहीं है समस्त संसार के सर्वसाधारण मनुष्यों के सम्बन्ध में यही बात कही जासकती है। यही रुकावट, यही नासमझी, यही प्रवास की अनिच्छा, सभी देशों में है, पर कहीं किसी देश में कम है, तो कहीं किसी देश में अधिक है। पिछले चंद वर्षों में स्थाई प्रवास की मात्रा भारत में बहुत बढ़ गई है। इससे मालूम होता है कि, भारत

में समझदारी के भाव जागृत हुए हैं । लोग बाग जानने लगे हैं कि, बाहर जाकर वह घरमें बैठे रहने से अधिक सम्पत्ति पैदा कर सकेंगे । अस्थाई प्रवास के बढ़ने का दूसरा कारण रेलों की स्थापना है । इससे कम दामों में और शीघ्रतापूर्वक सफ़र करने में सुभीता हो गया है । अवध का जुलाहा बम्बई अब दो दिन में पहुंच सकता है । जब रेलगाड़ी नहीं थी, तब इसी सफ़र में महीनों लगते और सैकड़ों रुपये ख़र्च होते । इस प्रकार स्पष्ट है कि, रेलगाड़ी से देश की उत्पादन शक्ति बढ़ गई है ।

व्यवसाय का परिवर्तन भी श्रम की गति-क्षमता के ही अन्तर्गत है ।

किन्तु, अब तक हमने एकही प्रकार के श्रम की गतिक्षमता का अर्थात् सिर्फ़ प्रवास का ही वर्णन किया है । श्रम की गतिक्षमता से सिर्फ़ प्रवास का ही मतलब नहीं है । अपने रोज़गार को बदलना भी इसी गतिक्षमता के अन्तर्गत है । कल्पना कीजिये कि, एक ठठेरे ने सोंचा कि, पीतल बहुत मँहगा हो गया है और मज़दूरी भी बढ़ गई है, इसलिए, लोगबाग अब काफ़ी दाम में उसे ख़रीदते नहीं हैं, घर का ख़र्च वैसा ही है, गुज़र चलता नहीं । आप ही बतलाइये ऐसी दशा में वह क्या करे ? अब उसके लिए केवल दो उपाय हैं, या तो वह कहीं बाहर के लिए, ऐसी जगह के लिए, जहां उसे व्यापार में पड़त खा जाय, प्रवास कर दे, और या फिर, दूसरा उपाय यह है कि, वह जहां है वहीं रहे और कोई दूसरा पेशा करे । इस तरह पेशा बदलने का काम सभी देशों के मनुष्यों के लिए कठिन बात है, पर भारतवर्ष में वर्ण-व्यवस्था के कारण यह और

भी कठिन है। चाहे ठठेरे को यह् मालूम ही क्यों न हो कि, चमड़े के काम में ज़्यादा मुनाफ़ा है, पर वह चमड़े का काम ज़रा दिक़्क़त से स्वीकार करेगा, क्योंकि, उसे अपनी जातिवालों के ठेने का भय रहेगा। ऐसा करने में एक दिक़्क़त और है। प्रत्येक काम में निपुण होने के लिए एक काफ़ी समय की आवश्यकता हुआ करती है। पर अगर ठठेरा इस दिक़्क़त को भी किसी तरह् हल कर ले, तो भी, उसे अपनी जाति बिरादरी का बड़ा ख़्याल रहेगा। भारतवर्ष की वर्ण-व्यवस्थ ने इस मामले में बड़ी अड़चन पैदा कर दी है। चमार का काम सिर्फ़ चमार की जातवाला ही कर सकता है, ब्राह्मण अगर करना चाहे तो उसके लिए यह् बड़ी दिक़्क़त की बात है। अब यदि चमड़े के काम में ज़्यादा आदमियों की आवश्यकता हो, तो फिर, वर्ण-व्यवस्था के कारण बहुत से लोग उस के मुनाफ़े से वञ्चित रह् जांय और वह् लोग फ़ायदा उठावें जिनमें वर्ण-व्यवस्था नहीं है। केवल कुछ ही पेशे ऐसे हैं, जिन में वर्ण-व्यवस्था की टांग नहीं घुसी। खेती और कुलीगीरी के काम ही ऐसे हैं, जिन्हें प्रत्येक जाति का मनुष्य बिना रुकावट के करता है।

हम ऊपर कह् चुके हैं कि, अगर वर्णव्यवस्था की पख़ न भी हो, तो भी, अपने पेशे को बदलना आसान बात नहीं है। मनुष्य की किसी विशेष पेशे की शिक्षा उसी समय से प्रारम्भ होती है जब वह् बालक होता है। उस समय उसके मां बाप यह् सोचते हैं कि कौन सा पेशा ऐसा है जिसमें काम करनेवालों की कमी है, जिसमें ज़्यादा पैदा है, बस फिर मां बाप ऐसे ही पेशे की शिक्षा

अपने पुत्र को देते हैं । पर उनके ऐसे विचार प्रायः पूरे नहीं उतरते । कारण यह है कि, व्यापार की दशा सदा बदलती रहती है। कभी किसी व्यापार की ज्यादा क़दर होती है और कभी किसी की। लड़के के वड़ा होते होते सम्भव है कि, उस पेशे की क़दर न रहे। योरप में भी श्रम का इतना सुन्दर वितरण नहीं हो सका है कि, जिससे अधिक से अधिक सम्पत्ति उत्पन्न हो सकें। कभी किसी समय किसी पेशे में अधिक मनुष्यों की आवश्यकता हो जाती है और कभी कम, ऐसी दशा में, कहीं आदमी मिलते ही नहीं हैं और कहीं आदमियों को वेकारी में रहना पड़ता है। वर्णव्यवस्था के कारण भारतवर्ष में उक्त कठिनाई और भी ज्यादा है। विलायती मुल्कों में तो सिर्फ़ एकहरी दिक्कत है, पर भारतवर्ष में वर्ण व्यवस्था के कारण वह दोहरी है। आगे चलकर हम इस वात का वर्णन करेंगे कि पहले से ही किसी पेशे को स्वीकार करना सम्पत्ति के वितरण की दृष्टि से वहुत महत्व की चीज़ है। इस समय तो हमने इसके उतने अंश का ही विचार किया है, जितना सम्पत्ति की उत्पत्ति से सम्बंध रखता था। यह विषय अर्थ-विज्ञान की महान समस्यायों में से है। इसका वर्णन हम इस स्थान पर नहीं कर सकते पर आगे चलकर पाठकों को इस विषय का भली प्रकार अध्ययन करना पड़ेगा।

इस विषय को समाप्त करते करते अन्त में हमें एक वात और भी कहना है। और वह यह है कि, अर्थ-विज्ञान का उद्देश्य वर्ण-व्यवस्था पर आघात करना नहीं है। अर्थ-विज्ञान तो एक ऐसा विज्ञान

है कि जो जैसा है उसे वैसा ही कहना उसका कर्तव्य है। बुरे को बुरा और भले को भला कहना ही पड़ेगा। जिस प्रकार रसायन-शास्त्र संखिया के ज़हर के वर्णन करने में संखिया के साथ रियायत नहीं करता उसी तरह अर्थ-विज्ञान भी वर्ण-व्यवस्था के दोषों को वर्णन करने में रियायत नहीं कर सकता। वर्ण-व्यवस्था में जो दोष हैं वह दिखला दिये गये। पर इस के मानें यह नहीं हैं कि इस में गुण हैं ही नहीं। उस में गुण हैं, और अर्थ-विज्ञान की दृष्टि में भी गुण हैं, तथा वह बड़े महत्व के गुण हैं। उन गुणों का वर्णन अगले परिच्छेद में आ जायगा।

इसके सिवा अर्थ-विज्ञान वर्ण-व्यवस्था के उस अंश के विषय में, जिसका सम्बन्ध सम्पत्ति के उत्पादन, क्षय, और वितरण से नहीं है, कोई राय नहीं प्रकट करता और जितने अंश का सम्बन्ध अर्थ-विज्ञान के विषय से है भी, उसकी भलाई और बुराई के कारण वह किसी से यह भी नहीं कहता कि, वर्ण-व्यवस्था रखना चाहिए या उठा देना चाहिए। वह तो जो बात जैसी है, वैसी स्पष्ट कर अपना कर्तव्य पूरा कर देता है। विधि-निषेध से उसका सम्बन्ध ही नहीं है।

श्रम की योग्यता या श्रम का गुण।

अब तक तो हमने श्रम की मिक़दार का वर्णन किया। अब हमें श्रम के उन गुणों पर विचार करना है जिनका सम्बन्ध सम्पत्ति के उत्पादन से होता है। हमारे साधारण अनुभव की बात है कि, मज़दूरों से काम लेनेवाले एक की जगह दूसरे मज़दूर को कम या

ज्यादा पसन्द करते हैं। मतलब यह कि एक जाति के मजदूरों के स्थान में दूसरी जाति के मजदूरों को पसन्द करते हैं। कारण इस का यह है कि मजदूरों में और मनुष्यों की भिन्न भिन्न जातियों में परस्पर भेद होता है। इस प्रकार के भेदों के निम्न प्रकार से तीन विभाग किये जा सकते हैं:—

(१) स्वास्थ्य और वल।

(२) प्रवीणता।

(३) नैतिक गुण।

यह हम ऊपर कह चुके हैं कि, हाथ के काम से मतलब उस काम से है जिस में मांसपेशियों से काम लिया जाता है। तब फिर जो लोग तन्दुरुस्त और वलवान् हैं, वह ज्यादा काम करेंगे, इसमें सन्देह ही क्या है? अब वल का प्रश्न बहुत कुछ जाति के ऊपर और बहुत कुछ बचपन के रहन सहन के ऊपर निर्भर है। जाति और रहन सहन को हम इस विषय में अलग अलग नहीं कर सकते, क्योंकि, कुछ जातियां ऐसी हैं, जो स्वभाव से ही अन्य किसी दूसरी जाति से बलवान होती हैं, तथा, उनके लड़कों की रहन सहन भी अधिक स्वास्थ्यकारक होती है। यह कहना बड़ा कठिन है कि, तन्दुरुस्ती का कितना अंश बापदादों की तन्दुरुस्ती से सम्बन्ध रखता है और कितना बचपन की रहन सहन से। यही कारण है कि, हम रहन सहन और जाति दोनों को अलग अलग नहीं कर सकते। लेकिन इस में कोई सन्देह नहीं कि, बङ्गालियों से संयुक्त प्रदेशवाले अधिक मजबूत होते हैं, और संयुक्त प्रदेशवालों

से पश्चाग्नी ज्यादा मज़बूत होते हैं। मज़बूती के अनुसार ही यह लोग काम भी ज्यादा कर सकते हैं। पर यह बात ज़रूर है कि, पौष्टिक आहार पर बल का बहुत अधिक दारोमदार है, और, चूंकि, मरभुखा आदमी दिन भर काम नहीं कर सकता, इसलिए. सम्पत्ति की उत्पत्ति के लिए, पेट भर और पौष्टिक भोजन का होना आवश्यक है।

किन्तु, बीमारी एक ऐसी बला है कि, आदमी चाहे जितना भला चंगा हो, अगर वह बुख़ार या, और किसी रोग से पीड़ित है तो, काम नहीं कर सकता। हम इसका वर्णन कर चुके हैं कि, स्वास्थ्यकारी उपाय देश की सम्पत्ति की उत्पत्ति में बड़ी सहायता पहुंचाते हैं। जिस देश में, कोई बीमारी न होगी वहां मृत्यु-संख्या अवश्य कम होगी। और मृत्यु संख्या कम होने के कारण सम्पत्ति पैदा करनेवाले बहुत से लोग होंगे; इसलिए, सम्पत्ति अधिक पैदा होगी। भारतवर्ष में अगर बुख़ार या मलेरिया के दूर करने का उपाय निकल आवे तो बड़ी बात हो। स्वास्थ्यकर उपायों की उन्नति से न केवल अधिक आदमी ही प्राप्त होंगे, किन्तु अधिक और मज़बूत आदमी प्राप्त हो सकेंगे, इसलिए, वर्तमान दृष्टिकोण के अनुसार यह उत्पत्ति के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात है।

दूसरा भेद है, प्रवीणता। पहिले प्रवीणता पेशियों द्वारा ही प्राप्त होती है। जिन पाठकगणों ने जम्नाष्टिक का अभ्यास किया है उन्हें याद होगा कि, पहिले पहिल, उन्हें अपने काममें पेशियों को संचालित करते समय बड़ी कठिनाई होती होगी। पहिले वह अपनी

कसरत बहुत धीरे और दुःख के साथ करते होंगे। पर अभ्यास द्वारा, कुछ समय के बाद, वह अपनी कसरत को शीघ्रता, आसानी और इतमीनान के साथ पूरा करनेलगे होंगे। ठीक यही बात प्रत्येक प्रकार के हाथ के कामों के सम्बन्ध में है। चरखे पर सूत कातने वाले को देखिये, वह कितनी शीघ्रता से कितना महीन सूत तकुए से निकाल कर फिर उसी में लपेट देता है और फिर निकालता है, फिर लपेट देता है। अगर किसी कातना न जाननेवाले को चरखा और रुई देकर कातने को दिया जाय, तो शायद वह बड़ी दिक़्क़त में फँस जायगा। पर, अभ्यास होने पर उसकी वह दिक़्क़त मिट जायगी। यही अभ्यास की बात अन्य मेहनत के कामों में भी है। अभ्यास से कठिनाई मिट जाती है। किसी विशेष काम में विशेष अभ्यास को ही प्रवीणता कहते हैं।

वर्ण-व्यवस्था का महत्व।

अब वर्ण-व्यवस्था का महत्व अर्थविज्ञान की दृष्टि में इसलिए है कि, उसकी वजह से बालकों को अत्यन्त बचपन से अभ्यास करने का मौक़ा मिलता है। कुम्हार का लड़का जब से चलना फिरना सीखता है, तभी से समझना चाहिए कि, वह कुम्हारी का काम भी सीखता है। इससे ज्यादा सुन्दर कुम्हार के कार्य की शिक्षा और क्या हो सकती है? विलायतवालों को भी इस कार की शिक्षा के महत्व का अनुभव है। वहां भी अब लोगों के पास विद्यार्थी को रखकर काम सिखाने की कला का प्रचार है। इसे वह (Apprenticeship system कहते हैं। परन्तु कहां एक सगे बापकी शिक्षा

और कहां एक ग़ैर आदमी की । वह भी, लोभ के वश दी हुई शिक्षा ! दोनों में ज़मीन आस्मान का अन्तर है । इस दृष्टि से भारत की शान वर्ण-व्यवस्था के कारण समस्त संसार के सभ्य देशों के बीच में निराली है ।

अच्छा तो, पेशियों के संचालन में जब आदमी सिद्धहस्त हो जाता है, और जब उसे इस बात का भी पूरा अभ्यास हो जाता है कि कैसी हालत में क्या करना चाहिए; तथा जो करना चाहिए उसे जब वह करने लगता है तब, उसे प्रवीण कहते हैं । कुम्हार कितनी शीघ्रता से हाथ के इशारे के द्वारा वर्तन का स्वरूप बदल देता है ? इसीका नाम प्रवीणता है । अगर किसी नौसिखिए कुम्हार को कोई नई चाल के झभझर का नमूना देकर उसी की नक़ल का दूसरा बनवाइये, तो पहली बार ही उससे वैसे का वैसा झभझर न बन सकेगा । उससे कई जगह ग़लती हो जायगी । पर होशियार और प्रवीण कुम्हार उसे एक दफ़े में बना देगा । यही प्रवीणता है । मामूली कुम्हार किसी ख़ास क़िस्म की मट्टी के ही वर्तन बनाना जानते हैं, पर प्रवीण कुम्हार भिन्न भिन्न प्रकार की मिट्टियों के वर्तन बना सकते हैं । साधारण कुम्हारों को वर्तनों पर एकही दो प्रकार के रंग देना मालूम होगा, पर प्रवीण कुम्हार भांति भांति के बेल बूटेदार रंग दे सकेगा । बस, इसी का नाम प्रवीणता है ।

यद्यपि ऊपर कहा जा चुका है कि, प्रवीणता प्राप्त करने की दृष्टि से वर्ण व्यवस्था बहुत ही उपयोगी प्रथा है, पर इसमें भी कुछ कमी है । वह कमी यह है कि, बालक को उतना ही ज्ञान प्राप्त

होता है, जितना उसका बाप जानता है। नई नई बातें जो निकलती हैं, वह नहीं जान पाता। लोग बाग भिन्न भिन्न प्रकार की चीजें पसंद करते हैं। पर हमारे यहां के कुम्हार अपने पुराने ढंग के मटके-झमझरों के बनाने में ही मस्त हैं। नतीजा यह होता है कि, अन्य देशों से मट्टी के बर्तनों के जहाज़ के जहाज़ भारतवर्ष में आते हैं, और लोग बाग शौक़ से उनके बर्तनों को ख़रीद कर स्वदेश का पैसा विदेश में भेजते हैं! अब यदि, हमारे यहां के कुम्हार भी "बाबा वाक्यं पुराणं" के चक्कर से निकल कर उन औद्योगिक विद्यालय से लाभ उठावें जो दौलतमदार सरकार ने खोल रक्खे हैं, तो काहे को इतना रुपया विदेशों में जाय और काहे को उनकी यह आर्थिक दशा बुरी रहे। अन्य देशों के कुम्हारों की तरह वह भी न फलें फूलें? हमारा कहने का यह मतलब नहीं है कि, वर्ण-व्यवस्था के ही कारण यह सब ख़राबियां हैं, किन्तु हमारा कहना यह है कि वर्ण-व्यवस्था भी इस अज्ञानता की एक कारण अवश्य है।

ऊपर शिल्पियों के ही उदाहरण दिये गये, पर कृपकों के उदाहरण भी इसके समझाने के लिए दिये जा सकते हैं। अभ्यास और ज्ञान के एक अच्छे समुदाय का नाम ही प्रवीणता है। हल जोतने, काटने, बोने, आदि खेती के कामों में भी प्रवीणता की आवश्यकता है। किसान का लड़का भी अपने बचपन से ही यह प्रवीणता सीखता है। पर खेती के ढंगों में जो परिवर्तन हुए हैं, जो नये औज़ार चले हैं, जिनकी सहायता से कम दामों में अच्छी

फसल पैदा की जा सकती है, उन्हें किसान जब ख़ुद ही नहीं जानते तब वह बच्चों को कैसे सिखला सकते हैं? इसलिए, जिस तरह कुम्हार के लड़के को औद्योगिक विद्यालयों में जाकर शिक्षा लेने की ज़रूरत है, उसी तरह किसान के लड़के को भी कृषि विद्यालय में पढ़ने की ज़रूरत है। अपने बाप-दादों के सतजुगी ज्ञान की बदौलत बैठे रहने से काम नहीं चल सकता। क्योंकि, ज़माना घोर कलयुग का आ गया है।

अब नैतिक गुणों का विचार कीजिए। नैतिक गुण ईमान्दारी, समय की पाबन्दी आदि हैं। सम्पत्ति की उत्पत्ति में इन गुणों का होना बड़ा ज़रूरी है। एक काहल आदमी की बनिस्बत जो अपने मालिक के जाते ही औज़ारों को नीचे रख देता है, और बहुत धीरे धीरे काम करता है, वह आदमी ज्यादा काम करेगा, जिसे नमकहलाली का ख़्याल है। ईमान्दार आदमी के भरोसे रुपया पैसा या क़ीमती औज़ार छोड़े जा सकते हैं, पर बेईमान के भरोसे पर नहीं। इस प्रकार के ईमानदार आदमी को वेतन भी ज्यादा मिलता है। अर्थ-विज्ञान यह नहीं बतला सकता कि, किन किन परिस्थितियों के उत्पन्न होने से आदमी में उक्त प्रकार के नैतिक गुण हो सकते हैं। यह काम अर्थ-विज्ञान का नहीं, धर्म-शास्त्र और नीति-शास्त्र का है। अर्थ-विज्ञान इस सम्बन्ध में इतना अवश्य कहता है कि, ईमान्दार आदमी को ज्यादा वेतन देने से क्या परिणाम होते हैं।

यदि किसी ईमानदार आदमी को, हम महज़ उसकी ईमान-

दारी पर खुश होकर के उसके वेतन से कुछ अधिक मजदूरी दें, तो, इसमें सन्देह नहीं है कि, वह हमें उस अतिरिक्त वेतन के हिसाब से अधिक काम करके दिखा देगा। मजदूर लोग इस प्रकार से अधिक मजदूरी पाने पर सम्पत्ति की उत्पत्ति को एक सीमा तक वढ़ा सकते हैं। पर यह न भूलना चाहिए कि, इसकी एक सीमा होती है। क्योंकि, जब आदमी थक जाता है, तब फिर उससे अच्छा काम नहीं होता। इसलिए मजदूर को इनाम के तौर पर जो कुछ दिया जाय, वह यह सोच कर दिया जाय कि, इस इनाम का वदला चुकाने में मजदूर को सीमा के वाहर तो काम नहीं करना पड़ेगा। इसी वात को सोंच कर वेतन वढ़ा कर देने में मालिक की वुद्धिमानी है।

किराये के मजदूर के लिए वेतन वढ़ाने और उससे ज्यादा काम लेने की सीमा बहुत संकुचित है। पर किसानों और शिल्पियों के लिए (जो खुद अपने लिए मेहनत करते हैं, और किसी से नौकरी नहीं पाते) मेहनत वढ़ा कर ज्यादा पैदा करने की गुंजाइश अधिक है। इसमें सन्देह नहीं कि, किराये के मजदूरों के देखते हुए किसान और कारीगर बहुत अधिक मेहनत करते हैं (अर्थात् क़रीब २ उस सीमा तक मेहनत करते हैं, जहां से उत्पादकत्व में ह्रास होने लगता है) पर तो भी प्रायः बहुत से कारीगर और किसान ऐसे मिलेंगे कि, यदि उनको यह विश्वास दिलाया जाय कि, तुम्हारा पैदा किया हुआ धन जमींदार और सरकारी कर्मचारी छल-कपट से हरण नहीं करेंगे, तो, इसमें सन्देह नहीं कि, वह मेहनत करके

और भी ज्यादा पैदा कर सकते हैं। आज हमारे देश के अधिकांश किसान इसलिए अधिक मेहनत करके ज्यादा नहीं पैदा करते कि, वह डरते हैं कि, उनका धन उनके पास न रहने पावे गा। इसलिए वह अधिक मेहनत करना व्यर्थ समझते हैं। इस स्थान पर, हमें उत्तम सरकार का और बराबर के क़ानूनों का विचार करना चाहिए। पर यह विषय पाठकों का ध्यान आगे चलकर आकर्षित करेंगे।

"श्रम की योग्यता के" विषय में कुछ कह देना आवश्यक है। अर्थ-विज्ञानियों का योग्यता शब्द से यह अभिप्राय होता है कि, मजदूर के श्रम के द्वारा जो सम्पत्ति उत्पन्न की जाती है, वह उस श्रम की मजदूरी को देखते कहीं अधिक होती है; कोठीवाल का सदा यही ध्यान रहता है कि, किस प्रकार वह श्रम से अधिक से अधिक फ़ायदा उठा सकेगा। कोठीवाल को अपनी आय का भाग अन्य कार्य्यों में ख़र्च करना पड़ता है, जैसे इमारतों में, तन्दुरुस्ती का ख़याल रखना, टूटे फूटे औज़ारों की मरम्मत कराना आदि।

मानसिक श्रम।

इसी परिच्छेद के प्रारम्भ में हम कह चुके हैं कि, मनुष्य, कुछ काम मांस-पेशियों की सहायता से करता है और कुछ दिमाग़ की। शारीरिक श्रम के सम्बन्ध की बातों का कुछ वर्णन हम कर भी चुके। अब कुछ मानसिक श्रम का भी विचार करना है। सरकारी मुलाज़िम और शिक्षित व्यापारी दिमाग़ से श्रम करनेवालों की श्रेणी में हैं। इन लोगों को अपने काम में शारीरिक श्रम की बहुत कम

आवश्यकता होती है। भारतवर्ष में सरकारी मुलाज़िमों की बड़ी क़दर है। इतनी क़दर शायद ही किसी देश में हो। पर अर्थ-विज्ञान की दृष्टि में वह केवल मानसिक श्रम करनेवालों की ही श्रेणी में हैं।

हम यह बात भी कह चुके हैं कि, शारीरिक श्रम करने वालों की संख्या देश की आबादी के ऊपर निर्भर है। पर मानसिक श्रम करनेवालों के सम्बन्ध में यह बात लागू नहीं हो सकती। मानसिक श्रम करने वालों की संख्या देश की उन्नति के ऊपर निर्भर है। अर्थात् जिस देश की जिस जाति ने जितनी ही अधिक उन्नति की होगी उसमें मानसिक श्रम करने वालों की संख्या उतनी ही बड़ी होगी। जिस देश में जितना ही कम व्यापार होगा, जितने ही कम उद्योग धंधे होंगे, जितनी ही कम शिक्षा होगी, वहां उतनी ही कम मानसिक श्रम करने वालों की संख्या भी होगी।

अब मानसिक श्रम की गतिक्षमता को लीजिये। भारतवर्ष की वर्तमान स्थिति के अनुसार यहां के मानसिक श्रम करनेवाले, शारीरिक श्रम करनेवालों से गतिक्षमता के लिए अधिक स्वतंत्र हैं। वकील या व्यापारी एक स्थान से दूसरे स्थान को कम से कम उतनी आसानी से तो अवश्य ही जा सकता है जितनी आसानी से शिल्पी जाता है। उसे ऐसा करने का सुभीता भी है, क्योंकि, अपने विस्तृत ज्ञान के कारण उसे यह मालूम रहता है कि कहां उसकी क़दर अधिक होगी। पर इस से यही न समझ लेना चाहिये कि व्यापारी, वकील और डाक्टर आदि इस सम्बन्ध में एकदम स्वतंत्र

हैं। उनके लिए भी बाधायें हैं। देखिये, अगर वह देश परिवर्तन करना चाहें तो पहली बाधा उनका कुटुम्ब है। दूसरी बाधा यह है कि, उन्हें पिछले दिनों की जमी हुई शोहरत और नेकनामी या प्रसिद्धि पर पानी फेर देना और नये सिरे से अजनबियों के बीच में अपना काम प्रारम्भ करना पड़े। व्यापारी की पीठ पर तो बेचारे की इमारतें, दफ़्तर और व्यवहार आदि लदा होता है। उसका प्रदेश बदल देना भी हँसी ठट्ठा नहीं है। इस प्रकार स्पष्ट है, एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की गतिक्षमता मानसिक श्रम करनेवालों के लिए आसान बात नहीं है, यह बड़ी कठिन बात है। पर अपना रोज़गार बदल देने की गतिक्षमता तो इस से भी ज्यादा कठिन है। क्योंकि, नये प्रकार के ही क्या, सभी प्रकार के मानसिक व्यापारों में खास शिक्षा की आवश्यकता होती है। अब अगर वकील वकालत छोड़ कर डाक्टरी करना चाहे, तो, प्रथम उसे अपनी वकालत की अर्जित शिक्षा को व्यर्थ कर देना पड़ेगा, फिर उसके बाद डाक्टरी की नई शिक्षा प्राप्त करना पड़ेगी। यह काम कोई सहज नहीं है, यह बड़ी दिक़्क़त की बात है। बाप जब अपने लड़के को बचपन से वकालत की शिक्षा देने का निश्चय कर लेता है तब कहीं जवानी में जाकर लड़का वकील हो पाता है। वकालत की शिक्षा प्राप्त कर वह फिर यह सोचता है कि, कहां पर वकालत करना प्रारम्भ किया जाय। फिर वह उसी शहर में अपने व्यवसाय को करता है, जहां या तो उसके सम्बन्धियों में कुछ प्रभावशाली लोग होते हैं, या फिर, जहां उसके पेशे के

चमकने की शीघ्र आशा होती है। बस, फिर एक वार इस तरह जम जाने पर फिर वार वार स्थान परिवर्तन करना आसान बात नहीं होती।

हां एक बात यह अवश्य है कि, मानसिक श्रम करनेवालों में वर्णव्यवस्था बाधक नहीं होती। वकील के लड़के को वकील, और डाक्टर के लड़के को डाक्टर ही होना आवश्यक नहीं है। वकील का लड़का डाक्टर और डाक्टर का लड़का वकील हो सकता है। पर साथ ही "आदतें" और "वंशपरम्परा" यहां भी मौजूद हैं। यही कारण है कि, भारतवर्ष के अच्छे अच्छे दिमाग़ अन्य व्यर्थ की बातों में फँसे हैं और उन दिमाग़ों का वैसा उपयोग नहीं होता जैसा होना चाहिये। हम इस बात को नहीं भुला सकते कि आज सात करोड़ अछूत भारतवासी केवल जन्म के कारण, वैसा ही दिमाग़ रखते हुए भी, जैसा द्विजों का है, मानसिकशक्ति का उपयोग कर अपने देश की उन्नति के कार्य्य में हाथ नहीं बँटा सकते। यह हमारे दुर्भाग्य की बात है।

मानसिक श्रम की योग्यता या गुण का अब विचार कीजिये। इस में भी वही तीन कारण हैं जो शारीरिक श्रम में थे। शारीरिक श्रम में जिस प्रकार मांस-पेशियों के पुष्ट होने की जरूरत होती है, मानसिक श्रम में उसी प्रकार बुद्धि के परिपुष्ट होने की आवश्यकता है। जिस प्रकार मांस-पेशियों को अभ्यास की आवश्यकता है और अभ्यास होने से पेशियां अच्छा काम कर सकती हैं, उसी प्रकार, बुद्धि को भी उसके अभ्यास अर्थात् शिक्षा की आवश्यकता है।

बालक की बुद्धि को प्राथमिक शिक्षा के द्वारा विकसित कर फिर उसे बाद में किसी कालेज में भेज कर किसी ख़ास विषय की ख़ास शिक्षा दी जाती है। या फिर किसी व्यापारी के पास या किसी कारख़ाने में काम सिखाने को भेजा जाता है। शारीरिक श्रम के "अभ्यास" से मानसिक श्रम की "शिक्षा" में यद्यपि कई बातों में भेद है, (ख़र्च में ही फ़र्क है) तो भी, दोनों का ख़ाका एक है।

अब नैतिक गुणों की बात को लीजिये। नैतिक गुण अर्थात् ईमान्दारी आदि गुणों की मानसिक श्रम करनेवाले मजिस्ट्रेट, वकील, डाक्टर आदि लोगों को भी उतनी ही अधिक आवश्यकता होती है जितनी कि शारीरिक श्रम करनेवालों को। शारीरिक श्रम करनेवालों के लिए यह गुण कितने आवश्यक हैं, इसका विचार हम कर चुके हैं। उसी प्रकार, मानसिक श्रम करनेवालों के संबन्ध में भी समझना चाहिए। अर्थात् नैतिक गुण होने से मानसिक श्रम करनेवाला अधिक सम्पत्ति पैदा कर सकेगा। इस को समझाने के लिए विस्तार करना व्यर्थ है।

मानसिक सन्तोष—अर्थ-विज्ञान की दृष्टि में।

प्रायः सभी को अपना काम अच्छी तरह सम्पादित करने के बाद सन्तोष प्राप्त होता है। ऐसा होना मनुष्य-स्वभाव के अनुकूल ही है। इस प्रकार के सन्तोष उत्पन्न होने के क्या कारण हैं? इस का उत्तर अर्थ-विज्ञान की सीमा के बाहर है। पर इस प्रकार के सन्तोष से क्या परिणाम उत्पन्न होते हैं, इसका विचार करना अर्थ-विज्ञान का कर्तव्य अवश्य है। मज़दूर या शिल्पी जब अपने काम

है, क्योंकि, इस के कारण सम्पत्ति की उत्पत्ति पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। जो चीजें अच्छी होती हैं, उनसे आवश्यकताओं की पूर्ति भी अच्छी तरह होती है। बुरी चीजों से आवश्यकताओं की पूर्ति उतनी अच्छी तरह से नहीं होती। इसलिए बुरी चीजों से वह ज़्यादा मूल्यवान् होती हैं। अब चूंकि, उक्त प्रकार की चीजें मनुष्य उक्त प्रकार के सन्तोष के कारण ही बनाता है, इसलिए, यह सन्तोष अर्थ-विज्ञान की दृष्टि में बड़े महत्व की वस्तु है।

इस स्थान पर उदाहरण देना उचित होगा। कल्पना कीजिये कि एक सुनार है, जो बड़ा ही कारीगर है। यह सुनार घटिया माल बनाना अपनी शान के खिलाफ़ समझता है और सदा उत्तम कारीगरी का माल ही बना कर बेंचता है। इस को अच्छा माल बनाने में ही सन्तोष होता है। अब कल्पना कीजिये कि, क़र्ज़ के कारण यह अपने महाजन से लाचार हो गया और उसके यहां इसे नौकरी कर लेना पड़ी। महाजन इस से अपनी पसन्द का, कम क़ीमत का माल बनवाकर बेचने लगा। इस प्रकार का घटिया माल बनाना यद्यपि इस सुनार की इच्छा के बिल्कुल विरुद्ध है, तथापि लाचारी की हालत में उसे घटिया माल बनाना पड़ा। नतीजा यह कि, कुछ दिनों बाद अपनी पुरानी कारीगरी ही भूल गया और बढ़िया माल बनाने की वह चतुराई ही जाती रही। इस प्रकार से देश की सम्पत्ति की उत्पत्ति में कमी हुई। आज कल भारतवर्ष में इस प्रकार के उदाहरणों की कमी नहीं है। न मालूम कितने विद्वान् अध्यापक जो ऊँचे दर्जों को पढ़ा सकते हैं, अपने अध्यक्ष की गुण-

ग्राहक की कमी के कारण लाचार हो कर नीचे के दर्जों में पढ़ाते हैं और अपने दिमाग़ की खूबी को नष्ट कर रहे हैं। न मालूम कितने कल्पनाशील होनहार लेखक महज़ पेट की पूर्ति के लिए कम हैसियत के समाचार-पत्रों में लेख लिख लिख कर अपना जीवन यापन कर रहे हैं।

यन्त्रों का प्रचार सभ्यता के साथ ही साथ बढ़ रहा है।

अब यह बात स्पष्ट हो गई है कि, दोनों ही प्रकार के श्रमों से सम्पत्ति उत्पन्न होती है, और दोनों ही श्रम आपस में भिन्नता रखते हुए भी बहुत सी बातों में एकता रखते हैं। संसार में मानसिक श्रम की तरक्क़ी हो रही है, अर्थात् मानसिक श्रम करनेवाले बढ़ रहे हैं तथा शारीरिक श्रम की तनज़्ज़ुली है, अर्थात् शारीरिक श्रम करनेवाले कम हो रहे हैं। वर्त्तमान समय में समय का यही प्रभाव है। पर भारतवर्ष में इसका प्रभाव बहुत कम पड़ा है। इसका कारण यह है कि, यहां अभी मशीनों अर्थात् यन्त्रों का प्रचार कम हुआ है, जब यहां भी यन्त्रों का प्रचार अधिक हो जायगा, तब शारीरिक श्रम करनेवालों की संख्या घटने लगेगी।

यन्त्रों के प्रचार का मतलब यह है कि, बहुत से उपाय हैं, जिनके द्वारा मनुष्यों के बल का काम लिया जा सकता है। सब से पहिले मनुष्यों के बल का काम पशुओं से लिया गया। बैलों से हल जोतने पर या बैलों से गाड़ी चलाने पर बहुत से आदमियों की मेहनत की बचत हो जाती है। अगर बैलों की जगह आदमी हल चलाते तो बहुत से आदमियों की ज़रूरत पड़ती। बैलों को जोतने

से आदमियों के श्रम की वचत हो गई। इसके वाद यंजिनों का आविष्कार हुआ। जो काम सैकड़ों वैलों की जोड़ियों से भी न हो सकता, वही काम एक यंजिन से होने लगा। अगर सारे देश की सारी आवादी लग जाय तो भी शायद ही मालगाड़ी को इतनी तेजी से चला सके, पर उसे यंजिन वड़ी आसानी के साथ चलाता है। इसके सिवा अन्य यन्त्रों के उदाहरण भी मौजूद हैं। आटा चक्की, काटनमिल, जूट मिल, जलकल, आदि यन्त्रों के कारण लाखों मनुष्यों की मेहनत की वचत होगई है। मशीनों और यन्त्रों से मनुष्यों के शारीरिक वल का काम वड़ी आसानी, शीघ्रता, और उत्तमता से हो जाता है। समस्त संसार में मशीनों का प्रचार तीव्रता से वढ़ रहा है।

रुई को बिनौले से अलग करने की क्रिया का उदाहरण लीजिये। सव से पहिले यह काम हाथ से किया जाता था। औरतें प्रायः इस काम को करती थीं। दो डंडों के बीच में एक हाथ से रुई लगाकर दूसरे हाथ से वह उन डंडों में लगी हुई चरखी को घुमाती थीं। इस प्रकार करने से बिनौला एक तरफ़ रह जाता और रुई दूसरी तरफ़ चली जाती थी। हाथ से कपास ओटने से यह क्रिया अधिक सुविधाजनक है। पर जब से मशीनों का प्रचार हुआ है तब से यह क्रिया भी वंद सी हो गई है, और किसान लोग अब विनौला सहित रुई को कारखानेवालों के हाथ वेंच दिया करते हैं। मशीनों में जिस प्रकार रुई ओटी जाती है, उसमें हाथ के यंत्र से अधिक अन्तर नहीं है। उसके डंडे वड़े होते हैं, और वह यंजिन

से चलाई जाती है। हाथ के यंत्र से उसमें इसीलिए काम भी शीघ्र होता है, और सस्ता पड़ता है। यही हाल सूत कातने और कपड़ा बिनने का भी है।

यंत्रों का प्रचार और बेकारी।

इन दो चीजों, अर्थात यंत्रों और यांत्रिक शक्तियों का प्रचार संसार में और विशेष कर इंगलैण्ड में इतना बढ़ गया है कि, खेती को छोड़ कर और बहुत ही कम काम हाथ से होता है। इंगलैण्ड में क़रीब क़रीब तमाम चीजें बड़े बड़े कारख़ानों में बनती हैं। यह कारख़ाने, क़रीब क़रीब वैसे ही हैं, जैसे कलकत्ता बम्बई में देखे जाते हैं। विलायत में इन कारखानों का इतना अधिक प्रचार है कि, वहां के लोगों के लिए यह मामूली बात सी हो गई है, और लेखकों के लिए भी मामूली ही है। भारतवर्ष में भी यंत्रों का प्रचार शहरों में बढ़ रहा है, और देहातों तक में पहुंच रहा है। भारतवर्ष भी अब धीरे धीरे योरप की ही तरह आगे बढ़ रहा है और यहां भी शारीरिक श्रम की कमी हो रही है। यंत्रों की बढ़ती के कारण सम्पत्ति की उत्पत्ति में बढ़ती होती है, तथा मजदूरों का भी भला होता है। यह सब होता है सही, पर एक बार मजदूरों को यंत्रों का आविष्कार होने के कारण बेकारी के दुःसह दुःख झेलने पड़ते हैं। इस प्रकार की कठिनाई प्रत्येक देश के मजदूरों को उठानी पड़ी है। उन उन देशों के इतिहास से लाभ उठा कर, भारतवर्ष के मजदूरों के लिए आनेवाली उक्त कठिनाइयों को दूर किया जा सकता है, या कम किया जा सकता है।

"श्रम" का अर्थ और उसके दो मुख्य विभाग।

"श्रम" के सम्बन्ध में अब तक जो कुछ कहा गया है उससे यह बात अच्छी तरह समझ में आ गई होगी कि, पदार्थ में गति देने का नाम ही श्रम है। जब तक कोई वस्तु विनिमयसाध्य नहीं होती तब तक उसे सम्पत्ति नहीं कह सकते। और बिना उसमें गति दिये वह विनिमयसाध्य नहीं हो सकती। इसीलिए श्रम सम्पत्ति का उत्पादक है।

श्रम दो प्रकार का होता है। उत्पादक श्रम, और अनुत्पादक श्रम। इसके भेदों का जान लेना भी ज़रूरी है। कुछ प्रकार के श्रम ऐसे भी हैं, जो उपयोगी होते हुए भी सम्पत्तिके उत्पादन में सहायता नहीं करते। इस प्रकार के श्रमों को न तो हम उत्पादक ही कह सकते हैं और न अनुत्पादक ही। साथ ही इस प्रकार के श्रमों का वर्णन करना (जिनसे सम्पत्ति का कोई सम्बन्ध नहीं) अर्थ-विज्ञान का काम नहीं है।

जिस श्रम के द्वारा पदार्थों की उपयोगिता प्रकट होती है, उसे उत्पादक श्रम कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है, एक तो प्रत्यक्ष उत्पादक श्रम, और दूसरा अप्रत्यक्ष-उत्पादक श्रम। किसान, बढ़ई, आदि जो श्रम करते हैं, उस से लगातार सम्पत्ति उत्पन्न होती है—पदार्थों की उपयोगिता प्रकट होती है, अतएव यह सब उत्पादक श्रम के उदाहरण हैं। अब प्रत्यक्ष उत्पादक श्रम में प्रत्यक्ष रूप से पदार्थों में उपयोगिता आती है—प्रत्यक्ष रूप से सम्पत्ति पैदा होती है—इसलिए, उसे प्रत्यक्ष-उत्पादक-श्रम कहते हैं। उदाहरण लीजिए

लोहार ने एक खुरपी तैय्यार कर दी, तो लोहार का जो उसके तैय्यार करने में श्रम हुआ, वह प्रत्यक्ष उत्पादक श्रम हुआ। इसी तरह अप्रत्यक्ष उत्पादक श्रम में अप्रत्यक्ष रूप से सम्पत्ति का उत्पादन होता है। जैसे किसी ग्रन्थकार ने कोई किताब लिखी, तो उस समय प्रत्यक्ष रूप से तो सम्पत्ति का उत्पादन न हुआ, पर परोक्ष, रूप से हुआ, क्योंकि, लोगबाग उसे पढ़ कर—उससे सीख कर—सम्पत्ति उत्पादन कर सकेंगे। अध्यापकों का विद्या पढ़ाने का श्रम भी इसी तरह से अप्रत्यक्ष-उत्पादक श्रम है।

प्रायः ऐसा भी होता है कि, उत्पादक श्रम भी अनुत्पादक हो जाता है। उदाहरणार्थ, कोई शक्कर का कारख़ाना खुलने की तैयारी हुई। पर बीच में कोई ऐसे विघ्न आकर उपस्थित हो गये जिनके कारण उस काम को अधूरा ही छोड़ देना पड़ा, तो वह श्रम जो पहले उत्पादक श्रम कहा जाता था, अनुत्पादक हो गया, यह काल्पनिक नहीं, वास्तविक है। एक वास्तविक उदाहरण लीजिए। मैसूर राज्य की वाइनाद पहाड़ियों में कभी सोने की ख़ानें थीं। उनसे सोना निकाला भी जाता था। कुछ लोगों के मन में यह बात आई कि, पुराने ज़माने में आज कल की तरह की मशीनें तो थीं ही नहीं, जिनसे खूब गहराई से सोना निकाला गया होता, उस समय तो ऊपर ऊपर का ही सोना निकाला गया होगा, अतएव अगर नये ढंग से सोना निकाला जाय तो बड़े लाभ की आशा है। बस कम्पनी क़ायम हो गई। मशीनें विलायत से मंगवा ली गईं। पहाड़ियों पर साहब लोगों के रहने के लिए बंगले

बनने लगे। पर पहाड़ियों को जो खोद कर देखा तो ज्ञात हुआ कि भीतर भी इनमें सोने का नामो-निशान नहीं है। बस फिर क्या था, टांय टांय फिस्स हो गई। ख़रीदी हुई मशीनें रास्ते की रास्ते में ही रह गईं। सारा का सारा उत्पादक श्रम अनुत्पादक श्रम हो गया।

इस उदाहरण से अनुत्पादक श्रम का तात्पर्य भी पाठकों की समझ में आ गया होगा अर्थात जो श्रम प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से सम्पत्ति के बढ़ाने में सहायक नहीं होता, उसे अनुत्पादक श्रम कहते हैं। आतिशबाजी, गाना बजाना, आदि विलासों में जो श्रम किया जाता है, वह सब अनुत्पादक है। अनुत्पादक श्रम की अर्थ-विज्ञान की दृष्टि में कोई क़दर नहीं। पर इससे यह न समझ लेना चाहिए कि, वह सब त्याज्य हैं। अर्थ-विज्ञान का काम तो उन्हीं बातों का विचार करना है, जिनका सम्पत्ति के ऊपर प्रभाव पड़ता है। कुछ लेखकों ने अनुत्पादक श्रम करनेवालों को "स्वदेश द्रोही" व "देश के दुश्मन" आदि शब्दों की उपाधि प्रदान की है, पर ऐसा करने की इजाज़त अर्थ-विज्ञान कदापि नहीं देता। अर्थ-विज्ञान के हिसाब से तो अपाहिजों को दान देना, धार्मिक कार्य्यों में ख़र्च करना आदि सभी अनुत्पादक श्रम हैं, तो क्या दानी लोग स्वदेश-द्रोही हैं? उन्हें स्वदेश-द्रोही कहना अर्थ-विज्ञान की ओर से लोगों का चित्त उचटाना है उससे अरुचि पैदा कराना है—अर्थ-विज्ञान तो विज्ञान है, जो चीज़ जैसी है उसे वैसी कहना उसका काम है, गालियां देना नहीं। वह गाली-गलौज के परे

है। अस्तु।

श्रम के इस प्रकार के वर्गीकरण से नतीजा यह निकलता है कि, उत्पादक श्रम में किया गया व्यय उत्पादक व्यय कहलाता है, और अनुत्पादक श्रम में किया हुआ अनुत्पादक व्यय। इन सब से क्या तात्पर्य है और इस प्रकार के वर्गीकरण से क्या लाभ है, इसका अनुभव तब होगा जब सम्पत्ति के क्षय के नियमों का अध्ययन किया जायगा।

आठवां परिच्छेद ।

पूंजी ।

अब हमको उत्पादन के तीसरे साधन पूंजी का विचार करना चाहिए। पूंजी शब्द के क्या अर्थ हैं ? वह तमाम उपकरण जिनका उत्पादन में व्यवहार होता है; वह तमाम चीजें जो बेचने के लिए होतीं हैं; जैसे, औजार, यंत्र और मजदूरी चुकाने के लिए तथा अन्य खर्चों के लिए रक्खा हुआ धन आदि समस्त वस्तुएँ जिनका सम्पत्ति के उत्पादन में उपयोग होता है, "पूंजी" के अन्तर्गत हैं। भिन्न भिन्न लेखकों ने पूंजी की परिभाषा भिन्न भिन्न प्रकार से की है। ऐसी दशा में, किसी भी पुस्तक का अध्ययन करते समय इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि, उसके रचयिताने पूंजी की क्या परिभाषा की है। पूंजी सम्पत्ति का एक अंग है और उसमें क्षेत्र की गणना नहीं की जाती, वह क्षेत्र से भिन्न है। 'सम्पत्ति' और 'पूंजी' में भी भेद है, तथा इस भेद को भी हमें अच्छी तरह से समझ लेना चाहिये।

सम्पत्ति और पूंजी के भेद का वर्णन।

इसे जानने का सब से सुगम उपाय यह है कि, सम्पत्ति का अधिकारी, अपनी जिस सम्पत्ति के द्वारा सम्पत्ति के उत्पादन की इच्छा करता है, वह सम्पत्ति, उसकी पूँजी कहलाती है। साथ ही

जिस सम्पत्ति के द्वारा वह सम्पत्ति का उत्पादन नहीं करना चाहता, वह सम्पत्ति, केवल "सम्पत्ति" ही कहलायेगी, "पूँजी" नहीं। क्षेत्र को छोड़ कर, और सब सम्पत्तियां पूँजी कही जा सकती हैं, बशर्ते कि, उनका उपयोग, उनका मालिक, सम्पत्ति के उत्पादन में करे। पर यह परिभाषा भी अभी पूर्ण नहीं हुई। आगे चल कर यह भी मालूम हो जायगा कि इस परिभाषा में क्या दिक़्क़तें हैं—क्या अपूर्णता है। तो भी, आगे बढ़ने और शब्द के अर्थ को समझने के लिए, उक्त परिभाषा काफ़ी है। इस से, कम से कम, फ़िलहाल 'पूंजी' का मतलब समझ में आ जाता है। इस जगह पर एक पहले का दिया हुआ उदाहरण लीजिये। किसान, अपने गांव के कुओं के जल को, अपने चौपायों, औज़ारों, और अन्न के एक बड़े भाग को पूँजी के तौर पर वर्तता है। इस जगह यह प्रश्न होना स्वाभाविक ही है कि, क्या वह सब नाज जो किसान, के कोठार में जमा है, किसान की पूँजी है, या, नहीं? तो फिर इस प्रश्न का उत्तर अर्थ-विज्ञान की दृष्टि से यह होगा कि, अगर किसान ने वह नाज, अगली फ़सल तक को खुद खाने, तथा, उससे मजदूरों की मजदूरी चुकाने, व, बीज आदि उत्पादन के कार्य्यों के लिए कोठार में भर रक्खा है, तो वह नाज अवश्य ही पूंजी है, पर अगर, वह ख़ैरात के लिए है, दान-पुण्य के लिए है, तो वह पूँजी नहीं है, केवल सम्पत्ति है।

अब एक और उदाहरण लीजिये। कल्पना कीजिये कि, एक ज़मींदार के पास एक लाख रुपया ख़ज़ाने में नक़द रक्खा है। तो

क्या इस रुपये को हम पूंजी कह सकते हैं? इसका उत्तर भी उसी प्रकार सीधा है कि, अगर यह रुपया सिर्फ़ जमा करने की ही ग़रज़ से रक्खा गया है, तो, यह पूंजी नहीं हो सकता। पर अगर, यह किसानों को 'बीज ख़रीदने आदि के लिए उधार देने, या उत्पादन के अन्य कार्य्यों में लगाने के लिए है, तो, यह पूंजी अवश्य है। मतलब यह कि, उन रुपयों को पूंजी बनाना या न बनाना उस के स्वामी की इच्छा पर निर्भर है। इसी ढंग से, तमाम चीज़ों के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि, यह पूंजी हैं या नहीं।

कोई भी बिना पूंजी के सम्पत्ति उत्पन्न नहीं कर सकता। सब से सादा उदाहरण हमने पांचवें परिच्छेद में घसियारे का दिया था। उस से सादा उदाहरण और क्या हो सकता है? पर देखिये, उस के पास रस्सी के रूप में पूँजी थी ही। हम कोल भीलों की बात नहीं कहते, हम तो कहते हैं, सभ्य संसार के मनुष्यों की बात!! भिश्ती को भी मशक की जरूरत होती है। कहां तक कहा जाय भङ्गी के पास भी झाड़ू के रूप में कुछ न कुछ पूँजी रहती ही है। ऐसी दशा में, स्पष्ट है कि, पूँजी उत्पत्ति का न केवल साधन ही है, किन्तु, आवश्यक-साधन भी है। अधिक सम्पत्ति उत्पन्न करने में अधिक पूँजी की जरूरत होती है, अर्थात् जितना ही गुड़ होगा उतना ही मीठा होगा। अच्छा तो, जो सम्पत्ति पैदा करना चाहे वह कहां से पूंजी लावे? उत्तर यह है कि, या तो वह बचावे, या किसी से ले ले, जिस के पास हो। बस उसके लिए यही दो मार्ग हैं। अब इन दो बातों पर भी विचार कर लेना चाहिए।

पूंजी कैसे मिलती है।

आदमी जो कुछ पैदा करता है, उसमें कुछ भाग, जो वह भविष्य के कामों के लिए रख देता है, उसे बचत कहते हैं। घसियारे के उदाहरण में हम देख चुके हैं कि, एक एक पैसा रोज उसने किस प्रकार बचाकर खुरपी ख़रीद ली। यही बचाने का तरीक़ा है। इसी प्रकार देश की सम्पत्ति बढ़ती है। मगर सब लोग जितना पैदा करते हैं, उतना ही व्यय करदें, तो बचत होही नहीं सकती। संसार की समस्त सम्पत्ति, भूतकाल की बचत ही है। दूसरा रास्ता, दूसरे से पूंजी ले लेने का है। दूसरे मनुष्य से पूंजी कई प्रकार से ली जा सकती है। जबरदस्ती और बेईमानी से भी पूंजी दूसरे से ली जासकती है, पर देश का क़ानून इस तरह की कार्रवाई नहीं करने देता। पुलिस, जहां तक हो सकता है, इस प्रकार के ठगों और चोरों की कार्रवाइयों का पता लगाती, उन्हें सजायें दिलवाती तथा चोरी करने से रोकती है। दूसरा उपाय पूँजी मिलने का यह है कि बाप दादों की अर्जित सम्पत्ति मिल जाय, या वह किसी भाग्यवान की गोद बैठ जाय। पर ऐसी बातें संयोग से ही होती हैं और जिसे पूंजी की आवश्यकता है, ऐसे संयोग की आशा न करना चाहिये, क्योंकि, कोई निश्चय-पूर्वक नहीं कह सकता कि, ऐसा होगा ही। इसके सिवा तीसरा जरिया पूंजी प्राप्त होने का यह है कि, कोई पूंजीवाला, अपनी इच्छा से, किसी को पूंजी दे दे। पर इस तरह के दाताओं के भरोसे रहना भी ठीक नहीं समझा जाता, क्योंकि, आजकल कलयुग

में इस प्रकार के दाता बहुत कम हैं। तब फिर, एक चौथा उपाय उधार लेने का ही रह जाता है। उधार देनेवाला अपने रुपये के लौटाने की सूरत करके उधार देता है। वह (सूद के रूप में या और किसी रूप में) कुछ और भी प्राप्त करने की आशा से देता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि, पूंजी प्राप्त करने के तीन ही उपाय सुगम हैं (१) बचत से (२) पैत्रिक सम्पत्ति मिलने से (३) उधार लेने से। इसके सिवा और कोई उत्तम उपाय नहीं है।

सञ्चय का प्रारम्भ और सञ्चय पर उत्तम शासन का प्रभाव।

यह कोई नहीं कह सकता कि संसार में बचत करने का सिलसिला कब से प्रारम्भ हुआ। संसार में आर्य्य जाति ही सब से प्राचीन जाति है। आर्य्य जाति की प्राचीन से प्राचीन पुस्तकों के देखने से पता चलता है कि, उस समय भी आर्य्यों के पास काफ़ी सम्पत्ति का ढेर रहता था। ऐसी दशा में यह कहना कठिन है कि, बचत का सिलसिला मनुष्यों ने पहिले पहिल, कैसे सीखा और फिर उसका क्रमशः किस प्रकार विकास हुआ। पर अत्यन्त जंगली जातियों की दशा ध्यानपूर्वक देखकर, इस विषय में कल्पना-शक्ति के सहारे कुछ कहा जा सकता है। इस सम्बन्ध में जो कुछ सोंचा गया है, वह यही है कि, बचत का सिलसिला पहिले पहिल तीन बातों से प्रारम्भ हुआ होगा। एक तो, भोजन से अर्थात् जब जंगली लोग किसी दिन ज्यादा भोजन ले आते होंगे तब उनके मनमें यह विचार अवश्य उठता होगा कि, इसमें से कुछ हिस्सा कल के लिए रख छोड़ें, काम आवेगा। दूसरे औज़ारों से. अर्थात् औज़ारों की

सहायता से वह ज्यादा भोजन प्राप्त करने में सफल होते होंगे। तीसरे पशुपालन से, क्योंकि, देखा जाता है कि, असभ्य से असभ्य जातियां भी पशुओं को पालती हैं। सम्भव है कि, इन्हीं बातों से बचत अथवा सञ्चय का सिलसिला पहिलेपहिल शुरू हुआ हो। पर यह विषय अर्थ-विज्ञान के इतिहास से सम्बन्ध रखता है, इस लिए, हम इसका यहां इतना सा दिग्दर्शन मात्र करा कर आगे चलते हैं। कहने का मतलब यह है कि, एकबार जब सञ्चय का सिलसिला चल पड़ा तब, फिर उसके बाद सम्पत्ति की उत्तरोत्तर बढ़ती होतीही गई। इसमें सन्देह नहीं कि, भीषण दुर्भिक्ष, लड़ाई, लूट मार राजाओं के अत्याचार आदि सम्पत्ति के सञ्चय में बाधक भी हुए पर उसका सिलसिला न टूट सका। हां इन रुकावटों से एक बात अवश्य हुई कि, लोगों को अच्छी और न्यायी सरकार की आवश्यकता प्रतीत होने लगी, क्योकि, बिना इसके किसी की सम्पत्ति सुरक्षित नहीं समझी जा सकती।

देश में अच्छी सरकार के होने के ऊपर देशवासियों की साम्पत्तिक अवस्था बहुत कुछ निर्भर रहती है। भारत के अर्वाचीन सरकार यद्यपि प्राचीन सरकारों से कुछ अच्छी है पर, पूर्ण रूप से अच्छी नहीं कही जा सकती। एक बात इसमें जरूर है, वह यह कि, किसी को भी इस बात का डर नहीं कि राजा प्रत्यक्ष-रूप से अन्याय कर के हमारी सम्पत्ति ले लेगा। इसीलिए सब लोग अपने अपने उद्योग धन्धों में व्यस्त हैं। अगर प्रत्यक्ष रूप से सम्पत्ति छीन ली जाने का भय होता, तो फिर कोई भी अधिक सम्पत्ति पैदा

करने की चेष्टा न करता। सब लोग अपने खाने पीने भर को पैदा कर सन्तोष कर लेते।

ऊपर हमने जो कहा है, वह सम्पत्ति के संचय करने के सम्बन्ध में कहा है, पूंजी के नहीं। क्योंकि, संपत्ति पूंजी तभी हो सकती है जब उसे फिर उत्पादन के कार्य्य में लगा दिया जाय। सम्पत्ति का एकत्रित करना और बात है, तथा पूंजी का एकत्रित करना और है। दोनों में बड़ा फ़र्क़ है। अन्य देशों के लोगों की रुचि पूंजी के संचय करने की तरफ़ अधिक है, इसीलिए, अन्य देशों में पूंजी अधिक संचय की जाती है। पर, भारत की गति न्यारी है। यहां सम्पत्ति-संचय की ओर लोगों का झुकाव अधिक है। यही कारण है कि, देश की दौलत का एक बड़ा भाग सम्पत्ति के रूप में है, पूंजी के रूप में नहीं। पर यदि, हमारे देशवासी अपनी सम्पत्ति को पूंज़ी बनाना चाहें, तो वह उसे उत्पादन के कार्य्य में लगा कर आसानी से बना सकते हैं। पर, भारत में सम्पत्ति के होते हुए भी पूंजी की कमी क्यों है, यह एक प्रश्न उपस्थित होता है। लोग अपनी सम्पत्ति को पूंजी क्यों नहीं बना डालते? इसका उत्तर यह है कि, यह बात उनकी आदतों के कारण है। पुराने ज़माने में जान माल की ज्यादा हिफ़ाज़त नहीं थी, इसीलिए, लोग बाग जो कुछ पैदा करते थे, उसे दबा कर रखते थे, जिससे लुटेरे लूट न लें। वह महज़ डर की वजह से उसे पूँजी नहीं बनाते थे। वही पुरानी आदतें अब भी चली आरहीं हैं। पर शायद अब ऐसा डर नहीं रह गया है (अगर है, तो इतना ही कि, कहीं

सरकार उस पर टैक्स न लगादे !) इस से, वर्त्तमान भारत की दरिद्रता को दूर करने के लिए आवश्यकता है कि, लोग अपनी अपनी सम्पत्ति को पूँजी बना दें, यदि ऐसा हो सके तो इसमें सन्देह नहीं कि, देश की सम्पत्ति की उत्पत्ति के साधनों का अधिक अच्छी तरह से उपयोग होने लगे और घनघोर दरिद्रता की काली घटा के छटने में कुछ सहायता हो ।

पूँजी के दो विभाग ।

पूँजी के 'चल-पूँजी' और 'अचल-पूँजी' यह दो विभाग हैं। चल-पूँजी तो उसे कहते हैं जो उत्पादन के कार्य्य में एक वार उपयुक्त होने से ही नष्ट हो जाती है, या, दुबारा उपयोग करने के काम की नहीं रहती। इसका उदाहरण लीजिये। किसान के बीज चल-पूँजी हैं। किसान अपने बीजों को दुबारा बो कर उससे दूसरी फ़सल नहीं पैदा कर सकता। यही क्यों, एक बार बो देने के बाद उसके पास उसके बीज लौट ही नहीं सकते । इसी कारण वह चल-पूँजी है । अचल-पूँजी उसे कहते हैं जिस का उत्पादन के कार्य्य में धीरे धीरे क्षय होता है—जो एक वार व्यवहृत होने से ही क्षय नहीं हो जाती। किसान के बैल, हल आदि अचल-पूँजी हैं; यह बरसों चलते हैं। हलवाई की पूँजी में उसकी कढ़ाई, करछली, ईंधन, मैदा, शक्कर आदि हैं। इस में से ईंधन, मैदा शक्कर आदि चल-पूँजी हैं; तथा, कढ़ाई, करछली आदि अचल-पूँजी। कढ़ाई उसे बरसों काम देगी, पर मैदा, उसे एक बार ही काम देगी। रेल में भी जो कोयला ख़र्च होता है, वह चल-पूँजी है । पर किरांची,

यञ्जिन, स्टेशनों की इमारतें आदि अचल-पूँजी। इनका क्षय बहुत दिनों में होता है। अचल-पूँजियों में भी बहुत सी ऐसी हैं जिनमें अचल-पन अधिक है, अर्थात्, जो बहुत दिनों तक चलती हैं। साथ ही कुछ ऐसी भी हैं जिनमें आपेक्षाकृत अचल-पने की मात्रा कम है। परन्तु फिर भी हम अचल-पूँजी को दो भागों में विभक्त नहीं कर सकते। ऐसा करना असम्भव है। इसलिए यही अर्थ करना पड़ता है कि, जो, एक वार में ही क्षय हो जाय—काम की न रहे, वह तो चल-पूंजी; और जो एक वार से अधिक काम दें, वह अचल-पूंजी कहलाती है।

अब चूँकि, चल-पूँजी, एक वार व्यवहार करने से ही बदला दे कर समाप्त हो जाती है, इसलिए, यह जरूरी बात है कि, चल-पूँजी का बदला उसकी लागत के दामों से कम न हो कर कुछ ज़्यादा ही होना चाहिए। किसान के बीजों के बदले में, अगर बीजों के मूल्य से अधिक की प्राप्ति फ़सल तैय्यार होने पर न हो, तो कोई भी किसान बीज बो कर खेती न करेगा। ऐसी हालत में खेती करने से उसके घर के धान पयार में मिलेंगे। पर अचल-पूँजी के सम्बन्ध में यह नियम इस प्रकार नहीं है। वह एक बार के व्यवहार में समाप्त तो हो ही नहीं जाती, उसका बदला तो धीरे धीरे मिलता है; यही कारण है कि, अचल-पूँजी के सम्बन्ध में चल-पूँजी के समान कोई नियम हो ही नहीं सकता। हां, अवश्य, अचल-पूँजी के व्यवहार करनेवालों को यह बात ध्यान में रखना पड़ती है कि, हमारी अमुक अचल-पूँजी कुल सम्भवतः कितने दिनों तक चलेगी और उसमें कितना मुनाफ़ा रहेगा, कहीं घाटे की सूरत तो नहीं है?

मज़दूरों की मजदूरी, जो कारखानेवालों को श्रम के प्रतिफल के रूप में देना पड़ती है, चल-पूँजी है । जिस प्रकार कोयला जलाने से एक वार ही आग होती है, ठीक इसी प्रकार मजदूरी से भी एक वार ही काम होता है । कल-पुर्जे व मशीनें अचल-पूँजी हैं। मशीनों से श्रम की वचत होती है, अर्थात् जहां मशीनें नहीं हैं, वहां मजदूरों की अधिक संख्या में जरूरत होगी, और जहां मशीनें हैं, वहां मजदूरों की कम संख्या में जरूरत होगी, क्योंकि, श्रम का काम वहुत कुछ मशीनें कर डालेंगी। मतलव यह कि, चल-पूँजी के अचल-पूँजी वन जाने से मजदूरों की मांग कम हो जाती है और वेकारी पैदा हो जाती है। यह वेकारी अस्थाई होती है; मजदूरों के लिए शीघ्र ही कोई न कोई जीविका का मार्ग निकल आता है। उधर मशीनों के व्यवहार से माल ज्यादा तैय्यार होता है, और देश में सम्पत्ति वढ़ जाती है ।

एक महत्वपूर्ण परिणाम ।

यहां पर एक वात ध्यान में रखने की यह है कि, जव एक देश में, पूँजी चल से अचल हो जाती है, अर्थात मशीनों से सस्ती चीजें तैय्यार होने लगती हैं, तव उन सस्ती चीजों को ख़रीदने वाले दूसरे देश की हालत, वड़ी ख़राव हो जाती है। वहां के मज़दूरों की वेकारी का ठिकाना नहीं रहता। उदाहरण लीजिए, भारतवर्ष में जो कपड़ा खपता है, वह विलायत में वनता है। अव जैसे जैसे वहां के कारख़ानों की चल-पूंजी अचल होती जायेगी, अर्थात वहां कल-कारख़ानों की वृद्धि होती जायगी, वैसे ही वैसे

भारत के जुलाहे बेकार होते जांयगे। कारख़ानों और मशीनों की बढ़ती से जो फ़ायदा होगा वह इंगलैण्ड को। भारत के पल्ले तो हानि की ही गठरी पड़ेगी, अर्थात जुलाहे बेकार होते चलें जांयगे। मतलब यह कि, चल-पूंजी के विलायत में अचल हो जाने से भारत जैसे देशों के लिए हानि ही हाने की सम्भावना है। हां, जब परिस्थिति में परिवर्तन हो जाय तब की बात ही दूसरी है।

मजदूरों को जो मजदूरी मिलती है, वह चल-पूँजी से ही मिलती है। इसलिए, मजदूरों की भलाई के लिए, यह आवश्यक है कि, देश में पूँजी बढ़े। विलास द्रव्यों के उत्पादन में, देश की पूँजी कम होती है, क्योंकि विलास द्रव्यों में किया हुआ व्यय अनुत्पादक होता है। पूँजी कम होनेसे देश के श्रमजीवियों की दुर्दशा हो जाती है, क्योंकि उन्हें पोषण करनेवाला मसाला ही कम हो जाता है। इसी तरह पूँजी के बढ़नें से देश के श्रम-जीवियों की दशा अच्छी हो जाती है, क्योंकि, उनको पोषण करनेवाला मसाला बढ़ जाता है। मतलब यह कि, देश की पूँजी के घटनें बढ़ने का प्रभाव देश के श्रम-जीवी समुदाय पर बहुत अधिक पड़ता है।

यहां पर इस बात का दिग्दर्शन मात्र करा दिया है कि, अन्य देशों की चल-पूंजी के अचल हो जाने का प्रभाव भारत पर किस प्रकार पड़ेगा। इस विषय का पूरा हाल तो तब मालूम हो, जब, अर्थ-विज्ञान के प्राथमिक सिद्धान्तों का अध्ययन समाप्त कर उच्च

श्रेणी की पुस्तकें पढ़ी जांय, और स्वयं इस विषय पर मनन किया जाय, क्योंकि, अभी तक अर्थ-विज्ञान की इस दिशा में भी काफी ढूँढ तलाश नहीं हुई है। बहुत कुछ ढूँढ तलाश अभी तक करने को बाक़ी है।

नवां परिच्छेद।

—:०:—

उत्पादन का संगठन।

उत्पादन की अवस्थायें।

उत्पत्ति के तीन साधनों का, अर्थात्, क्षेत्र, श्रम और पूँजी का सरसरी तौरपर वर्णन हो चुका अब हमें इस बात का विचार करना चाहिए कि, इन तीनों चीजों का—उक्त साधनोंका—संगठन क्या है? मतलब यह कि, अब हमें इस बातका विचार करना है कि क्षेत्र, श्रम और पूँजी किस प्रकार संगठित होकर सम्पत्ति की उत्पत्ति करते हैं। इस प्रकार के संगठन का वर्णन करना अर्थ-विज्ञान के एक मुख्य भाग का वर्णन करना है। इस विषय की वह बातें जो अन्य देशों की हैं बहुत कुछ जान ली गई हैं। पर हमारे देश की बहुत सी बातें अबतक अज्ञात हैं। विद्वानों के लिए इस तरफ़ ढूंढ तलाश करने को मैदान खाली है। यदि भारतवर्ष के आदर्श, और इतिहास को लक्ष्य बनाकर इस ओर काफ़ी खोज की जाय, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि, बहुत सी ऐसी बातें निकलें, जिनसे अर्थ-विज्ञान के प्राचीन सिद्धांतों में बहुत कुछ फेर फार करने की जरूरत पैदा होजाय। इसका, इस प्राथमिक और छोटी सी पुस्तकमें वर्णन करना कठिन है, तो भी इस विषय की (अर्थात् उत्पादन के संगठन की) कुछ अवस्थाओं का, उनके परिवर्तनों के कारणों के साथ हम विचार करेंगे।

इसके लिए, हम निम्न तीन अवस्थाओं का वर्णन करना, आवश्यक समझते हैं :—

(१) स्वयंभुक्त-जन-समुदायों की अवस्था।
(Self-supporting stage)

(२) शिल्पावस्था, अर्थात् थोड़ी मात्रा में बाज़ार का उत्पादन।
(The artisan-stage)

(३) कार्य्यालयावस्था, अर्थात् बड़ी सीमा में बाज़ार का उत्पादन।
(The factory stage)

यहां पर यह बात ध्यान में रखना चाहिये कि जिस तरह चैत के बाद बैसाख, और बैसाख के बाद जेठ का महीना आता है, उसी तरह यह अवस्थाएं नहीं आतीं। अर्थात्, यह ज़रूरी नहीं है कि, स्वयं-भुक्तावस्था के बाद देश में शिल्पावस्था ही हो और शिल्पावस्था के बाद कार्य्यालयावस्था ही आवे। इस विषय में हम इतना ही कह सकते हैं कि उन्नति धीरे धीरे और क्रमशः होती है। किसी देश में यह उन्नति अत्यन्त शीघ्रता से होती है, और किसी देश में अत्यन्त मन्द-गति से। किसी भी देश की दशा को ध्यानपूर्वक देखने से हमें उसके भीतर उक्त तीनों अवस्थाओं के दर्शन हो सकते हैं। हम यह भी देख सकते हैं कि यह अवस्थाएं किस प्रकार से परिवर्तित होती हैं। एक ही देश में हमें उत्पादन के पुराने से पुराने और नए से नए तरीक़े देख पड़ते हैं। कोई कोई देश ऐसे भी हैं, जहां हमें सभी तरह के उत्पादन के तरीक़े देखने को नहीं मिलते। उक्त अवस्थाओं का परिवर्तन, किसी देश में

बड़ी शीघ्रता के साथ होते हैं, और किसी देश में अत्यन्त मन्दगति से। खेती एक ऐसा व्यापार है जिसमें परिवर्तन बहुत ही मन्दगति से होते हैं। खेती के विषय में कहा जा सकता है कि, उसका व्यवसाय अभी तक पहली अवस्था—स्वयं-भुक्तावस्था—में ही पड़ा है। यह भी कोई नहीं कह सकता कि खेती की यह स्वयं-भुक्तावस्था कब तक रहेगी।

स्वयं-भुक्तावस्था का वर्णन।

अच्छा तो, स्वयं-भुक्तावस्था कहते किसे हैं? यह उस अवस्था का नाम है, जिस अवस्था में मनुष्यों के छोटे छोटे समुदाय अपनी जरूरत की चीजें खुद पैदा कर लेते हैं, और उनको अपने समुदाय के बाहर के मनुष्यों से अपनी आवश्यकता के लिए, कोई भी चीज लाने की जरूरत नहीं पड़ती। सम्भव है कि, इस प्रकार के स्वयं-भुक्त-जन-समुदाय अब भी कहीं कहीं जंगली जाति योंमें मिल जायँ, पर सभ्य संसार में पूर्ण रूप से स्वयं-भुक्त समुदाय मिलना दुर्लभ है। किसी समय हमारे और समस्त संसार के निवासी स्वयंभुक्त थे। उन्हें बाहर से चीजें लाकर अपनी ज़रूरतें रफ़ा नहीं करना पड़ती थीं। उनकी ज़रूरतें भी उतनी ही थीं, जितनी वह स्वयं पूरी कर लेते थे। आजकल, यद्यपि देहातों के निवासी पूर्णरूप से स्वयंभुक्त नहीं रहे, तथापि, स्वयंभुक्तपन, उनमें अब भी बहुत है। हमारे देश में देहात के निवासियों की ही संख्या अधिक है और खेती ही उत्पादन का मुख्य साधन है, इसलिए, स्वयंभुक्तावस्था का वर्णन ज़रा खोलकर करना अच्छा होगा।

देश के उन भागों की दशा को जो सभ्यता में अब भी बहुत पिछड़े हैं—व्यापार और नई रोशनी का प्रभाव अब भी जहां बहुत कम पड़ा है— यदि हम ध्यानपूर्वक देखें, तो ज्ञात होगा कि ऐसे देशों में तीन प्रकार के लोग बसते हैं (१) किसान (२) शिल्पी या नौकर (३) मजदूर जो किसानों को और शिल्पियों को उनके कामों में सहायता पहुंचाते हैं। इन मजदूरों की मजदूरी और नौकरों का वेतन भी किसान लोग अन्न के रूप में ही देते हैं। अब देखिए यह गोरखधन्धा किस प्रकार चलता है। मनुष्य की जरूरतों में—भोजन, वस्त्र, गृह, अग्नि, प्रकाश, वर्तन, जल आदि ही मुख्य रूप से हैं। किसान के लिए बीज, औजार और पशुओं की मुख्य रूप से आवश्यकता होती है। भोजन तो नाज के रूप में खेतों से पैदा हो जाता है, शक्कर के लिए ऊँख की खेती हो जाती है। तेल तिलहन की खेती से प्राप्त हो जाता है। वस्त्रों का हाल यह है कि गांव में ही रुई वो ली जाती है वहीं उसका हांथों से सूत कात लिया जाता है और वहीं कपड़ा बुन लिया जाता है। घरों को वह वहीं की मिट्टी से बना कर जंगल की लकड़ियों की धन्नियां लगा कर घास फूस डाल कर पाट देते हैं, अथवा मिट्टी को भट्ठी से पका कर पक्के मकान बनाते हैं। आग जलाने के लिए वह जंगल से सूखी लकड़ियां लाते हैं और गाय बैलों के गोवर से कण्डे पाथकर काम चला लेते हैं। प्रकाश तैल से करते हैं जो वहीं की खेती से होता है। वर्तन कुह्मार वहीं की मिट्टी से बना देता है। जल, नदी, तालाव व कुओं से लाते हैं। उनके पशु गांव के आसपास के जंगलों में चरते हैं। बस,

इस प्रकार की अवस्था जिस ग्राम में हो, उसे कहना चाहिए कि यह ग्राम स्वयं-भुक्त है। ऐसे गांव के निवासियों को बाहरवालों के मुँह अपनी आवश्यकताओं के लिए नहीं ताकना पड़ते।

उक्त अवस्था में गांववालों में अगर फूट न हो, मेल हो, तो फिर गांव भर का गुजर-बसर एकान्त में ही चला जा सकता है। एक के पास अगर कपास ज्यादा हो और दूसरे के पास शक्कर, तथा, कपासवाले को शक्कर की तथा शक्करवाले को कपास की जरूरत हो, तो फिर, दोनों आपस में कपास और शक्कर का अदला बदला कर लेंगे। स्वयं-भुक्त-जन-समुदाय में सिक्के की जरूरत ही नहीं होती। वहां व्यापार की जरूरत नहीं होती। इस प्रकार, बिना सिक्के और बिना व्यापार के स्वयं-भुक्त-जन-समुदाय की कल्पना करना अब हमारे लिए ज़रा कठिन बात है, क्योंकि, इस प्रकार के पूर्णस्वयं-भुक्त-ग्राम अब रहे ही नहीं। पर इसमें कोई सन्देह नहीं कर सकता कि, मानवजाति इसीतरह की स्वयं-भुक्तावस्था में बहुत दिनों तक रह चुकी है।

व्यापार का प्रारम्भ।

ऊपर जिन आवश्यकताओं का (भोजन, वस्त्र, गृह-गृहस्थी आदि का) वर्णन हुआ है, उस में दो चीजें छूट गई हैं। उन दोनों को अगर उनमें मिला लिया जाय, तो फिर, उक्त वर्णन में भी कुछ कमी बेशी करना पड़ेगी। कारण यह है कि, इन्हीं दो आवश्यकताओं से ही व्यापार और उत्पादन का सूत्रपात होता है। उस में से पहली आवश्यकता की चीज नमक है। नमक सब जगह

नहीं पैदा होता । व्यापारी इसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाते थे और नाज के बदले में बेंच देते थे । बस, तभी से शायद व्यापार का पहिले पहिल सूत्रपात हुआ होगा । दूसरी आवश्यकता की चीज़ है लोहा । इसकी ज़रूरत औज़ार बनाने में पड़ती है । यद्यपि बिना लोहे के भी खेती हो सकती है, पर उतनी अच्छी तरह नहीं । भारतवर्ष में खेती के काम में लोहे का बहुत कम उपयोग होता है । पहिले पहिल, चाहे खेती के काम में लोहे का उपयोग न भी होता हो, पर इस में कोई शक नहीं कि, नमक की तरह लोहे से भी व्यापार का सूत्रपात हुआ होगा ।

स्वयं-भुक्त ग्रामों की साम्पत्तिक अवस्था ।

अब इस बात का विचार कीजिये कि, स्वयं-भुक्तावस्था में सम्पत्ति के उत्पादन की क्या दशा रही होगी ? किसानों को खेती के लिए क्षेत्र या तो राजाओं से मिलते होंगे, या खुद वही खाली जगह देख कर खेती करने लगते होंगे । उस समय ज़मीन बहुत रही होगी और किसान कम, इसलिए, क्षेत्र प्राप्त करने में दिक्कत न होती होगी । किसान के कुटुंब के लोग मज़दूरी कर लेते होंगे । और लोग भी जो किसानों के साथ रहते होंगे, किसानों की आज्ञा का पालन करते होंगे । उन लोगों का भी किसानों की ही आमदनी से खर्च चलता होगा । उन किसानों की पूँजी में, चौपाए, हल आदि खेती के औज़ार और बोने के लिए बीज आदि की ही गणना करना चाहिए ।

स्वयं-भुक्तावस्था में, उत्पादन की बचत से, अन्य प्रदेशों से,

अन्यान्य उपयोगी पदार्थ लाये ही नहीं जा सकते, क्योंकि इतना अधिक उत्पादन होता ही नहीं है। मतलब यह कि, प्रथम तो ऐसे स्थानों में सम्पत्ति की वृद्धि होती ही नहीं है, और यदि होती भी है तो, बहुत धीरे धीरे। सम्पत्ति के उत्पादक-साधनों का पूरा उपयोग होता ही नहीं। जब किसी फ़सल में पैदावार अधिक हो जाती है तो उसकी बचत दुर्भिक्ष के समय काम आती है। अन्त में लेखा जोखा बराबर रहता है। लोग ज्यादा पैदा करने की आवश्यकता का अनुभव ही नहीं करते। जैसे ही जैसे जन-संख्या घटती बढ़ती है, वैसे ही वैसे खेती का—उत्पादन का—रक़बा भी घटता बढ़ता रहता है। सारांश कि, स्वयं-भुक्त-जन-समुदाय से यह आशा नहीं की जा सकती कि, यह अधिक सम्पत्ति उत्पन्न करेगा। अब कल्पना कीजिए कि उक्त प्रकार का एक स्वयं-भुक्त ग्राम है। उसे संसार से कुछ भी मतलब नहीं है। अब एक शहर उसके पास में बस गया। तो फिर, क्या दशा होगी? शहर के लोग सब्ज़ी और नाज ख़रीदने गांव में पहुंचेंगे और गांववालों को तरह तरह की मिठाइयां, तांबे पीतल के बर्तन आदि देकर उनसे बदले में नाज आदि लेंगे। इससे गांव की स्थिति में क्रांति हो जायगी। गांववाले देखेंगे कि, संसार में ऐसी और भी चीज़ें हैं, जिनका उपयोग किया जा सकता है। बस, वह उन चीज़ों को ख़रीदने के लिए अधिक नाज पैदा करेंगे। खेती का रक़बा बढ़ जायगा। साथ ही सम्पत्ति का उत्पादन भी बढ़ जायगा।

उस ग्राम की स्वयं-भुक्तता में बाधायें उपस्थित हो जांयगी।

अब उसे अपनी ज़रूरतों के लिए दूसरों का भी मुंह देखना पड़ेगा। अब वह उस दूसरी अवस्था में चला जायगा जिसमें थोड़ी सीमा में बाज़ार का उत्पादन होता है और जिसे शिल्पावस्था कहते हैं। इस सब परिवर्तन का सम्पत्ति के उत्पादन पर क्या प्रभाव पड़ेगा यह भी देखिये। पहिली बात यह होगी कि, गांव का उत्पादन बढ़ जायगा। दूसरी बात यह होगी कि, जब किसानों के हाथ में रुपया आवेगा तब उनके दिल में उसे इकट्ठा करने की सूझेगी। क्योंकि, ऐसा होना स्वाभाविक है। परन्तु क्या इससे केवल किसानों को ही लाभ होगा ? नहीं; समग्र समुदाय को होगा। शहरवालों को मज़दूरों की जरूरत होती है। उनकी निगाह भी मजदूरों के लिए देहातों पर पड़ेगी। ऐसी दशा में मज़दूरी की दर बढ़ा दी जाय गी। तब फिर मजबूर होकर किसानों को भी बढ़ी हुई दर पर मज़दूरी कराना पड़ेगी। क्योंकि अगर वह दर न बढ़ावें गे, तो, मज़दूर शहरों में चले जायंगे और दिहातों में खेतो का काम रुका रहेगा। मतलब यह कि, बढ़ो हुई आमदनी का लाभ केवल किसानों को हो न मिलेगा, सबमें बँट जायगा, और इसी-लिए सब के सब मुनाफ़े में रहेंगे। यह जो एक स्वयं-भुक्त-ग्राम के उदाहरण से बात कहीगई, ठीक वैसी की वैसी बात आजकल भारत वर्ष में हो रही है। फ़र्क़ है तो सिर्फ इतना ही कि हमने अपने उदा-हरण में कल्पनाशक्ति से परिवर्तन झट् झट् उपस्थित करके देखे हैं पर भारतवर्ष में यही परिवर्तन धीरे धीरे हो रहे हैं। इन परिवर्तनों से लाभ हुए हैं या हानि हुई है, ग़रीबों की ग़रीबी, तन्दुरुस्ती और

भी बढ़ गई है या घट गई है ? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका यहां उपस्थित होना स्वाभाविक ही है पर इसका उत्तर बिना समग्र अर्थ-विज्ञान के अध्ययन किये दिया ही नहीं जा सकता।

भारत के ग्राम भी किसी समय स्वयं-भुक्त-जन-समुदायों के ग्राम थे। पर अब पश्चिम की सभ्यता के कारण उनकी स्वयं-भुक्तता नष्ट हो रही है। यह ग्राम अब शिल्पावस्था को प्राप्त हो रहे हैं। कुछ शिल्पावस्था को प्राप्त हो गये हैं; और कुछ हो रहे हैं। कोई ग्राम शिल्पावस्था को प्राप्त होगया है या नहीं, इस बात को अगर जानना हो तो, इस पर ध्यान देना चाहिए कि, किसान लोग अपनी कुल पैदावार बेंच देते हैं या नहीं ? अगर किसान फ़सल पर अपनी कुल पैदावार बेंच देते हैं और आगे चलकर भोजनों के लिए भी बाज़ार से नाज ख़रीदकर लाते हैं तो फिर यह समझना चाहिये कि वह लोग शिल्पावस्था को प्राप्त हो गये। पर जहां के किसान अपना सब का सब नाज न बेंच देते हों, वहां के लिए यही समझना चाहिए कि, यह लोग अभी बहुत कुछ स्वयंभुक्तावस्था में ही हैं। भारतवर्ष कृषिप्रधान देश है, यही कारण है कि, यहां पर परिवर्तन बहुत धीरे धीरे होते हैं। अस्तु।

जिस प्रकार एक ग्राम स्वयं-भुक्त हो सकता है, उसी प्रकार एक देश भी। प्रकृति का कुछ ऐसा हाल है कि, कुछ देश स्वयं-भुक्त हो सकते हैं और कुछ नहीं हो सकते। स्वयं-भुक्त तो वही देश हो सकता है, जो अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है। हमारा भारत ऐसा ही देश है। अगर कृत्रिम बाधायें न हों, तो हमारे

देश की प्राकृतिक स्थिति ऐसी है कि, हम लोगों को संसार के किसी भी देश का मुंह ताकने की ज़रूरत नहीं। पर, आजकल ऐसा नहीं है। हम लोगों को अपने वस्त्रों और अन्य बहुत सी चीज़ों के लिए, दूसरे देशों का मुंह देखना पड़ता है। प्रश्न होता है, कि भारत की भलाई स्वयं-भुक्त होने में है, या दूसरों का मुंह ताकने में। इस प्रश्न का ठीक ठीक उत्तर भी हम को अर्थ-विज्ञान के गहरे अध्ययन से ही मिलने की आशा है, यहां पर तो प्रसङ्गवश इसका वर्णन ही कर दिया गया है।

शिल्पावस्था का उत्पादन।

अब हमको शिल्पावस्था का विचार करना है। स्वयं-भुक्तावस्था के विवेचन से हमको यह ज्ञात हुआ कि, सम्पत्ति को उत्पन्न करनेवाला केवल अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही सम्पत्ति उत्पन्न नहीं करता, किन्तु, औरों की आवश्यकताओं के लिए भी उत्पन्न करता है, तथा, औरों से अपनी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करनेवाली चीजें बदले में लेकर, अपनी चीजें देता है। यह विनिमय या तो सिक्के से होता है, या, वस्तुओं से ही। सिक्के से विनिमय करने में सुभीता रहता है। भारत में यह उत्पादन की अवस्था बहुत अधिक है। जुलाहा, रंगरेज़, ठठेरा, चमार, आदि शिल्पीगण जो कुछ करते हैं, वह केवल अपनी ज़रूरतों की पूर्ति के ही लिए नहीं करते, किन्तु वह जो कुछ करते हैं उसे बेंच देते हैं, और उसकी बिक्री के दामों से वह अपनी जीविका चलाते हैं। अब इस बात का विचार कीजिये कि, उत्पादन के साधनों के लिहाज़ से इनकी आर्थिक स्थिति क्या है?

क्षेत्र को ही लीजिए। शिल्पियों को बहुत ही थोड़े क्षेत्र की ज़रूरत होती है। छोटे से छोटे किसान के क्षेत्र से भी कम क्षेत्र की शिल्पियों को ज़रूरत हुआ करती है। हम क्षेत्र के वर्णन में पीछे कह चुके हैं कि, शिल्पी का क्षेत्र चाहे छोटा हो, पर होना चाहिए मौक़े पर। उसे ऐसी जगह होना चाहिए जहां लोग बाग उसे आसानी से ढूँढ़ सकें। शिल्पी का क्षेत्र बस्ती में तो होना ही चाहिए, पर साथ ही उसके क्षेत्र को उस गली, उस स्थान, अथवा उस ग्राम के उस भाग में होना चाहिए, जहां उसी पेशे के और लोग भी हों। जूता बनानेवाले का क्षेत्र यदि जूता-बाजार में हागा तो वह ज्यादा मौक़े का होगा। पर वही अगर अनाज की मंडी में होगा तो फिर कम मौक़े का होगा। इस प्रकार यद्यपि शिल्पी को कम क्षेत्र की आवश्यकता है, फिर भी उसका मिलना आसान नहीं है। उसके लिए, मूल्य के, या किराये के रूप में देने के लिए, ख़ासी रक़म की ज़रूरत है।

अब श्रम को लीजिए। शिल्पी और उसके कुटुम्बी मिलजुल कर श्रम का प्रबन्ध कर लेते हैं। अगर अधिक काम होता है, तो एक दो आदमी किराये पर बुला लिये जाते हैं। प्रायः शिल्पीगण थोड़े से औज़ारों का ही व्यवहार करते हैं, और थोड़े ही प्रकार के पदार्थ बना पाते हैं। बार बार उन्हीं चीज़ों को बनाने से शिल्पी उनके बनाने में ख़ूब दक्ष हो जाता है। पर इस शारीरिक श्रम के अलावा उसे अपने व्यापार को भी सम्हालना पड़ता है। उसे कच्चा माल जुटाना पड़ता है और इस बात का विचार करना

पड़ता है कि इसकी क्या चीज़ बने, कितनी बने, और उसकी क़ीमत क्या हो? यह सब कर चुकने पर फिर उसे ग्राहकों की फ़िक्र करनी पड़ती है। स्वयं-भुक्तावस्था में भी सब यही करना पड़ता है, पर, उस अवस्था में इनका करना इतना कठिन नहीं होता, कारण कि, स्वयं-भुक्तावस्था में अपनी ज़रूरतों का ही ख्याल रखना पड़ता है, पर शिल्पावस्था में दूसरों की जरूरतों का भी। अपनी ज़रूरतों से दूसरों की जरूरतों का ठीक ठीक अनुमान कर लेना जरा टेढ़ी खीर है। जब शिल्पी से दूसरों की आवश्यकताओं को समझने में और उसके अनुसार माल तैयार करने में ग़लती हो जाती है, तब उसका श्रम, पूंजी, और तय्यार माल आदि सब का सब व्यर्थ हो जाता है।

पहली अवस्था, अर्थात स्वयं-भुक्तावस्था में शिल्पियों का उक्त ज्ञान ज्यादा कठिन नहीं था। लोगों की उस समय आवश्यकतायें कम थीं। उनकी इन थोड़ी सी आवश्यकताओं में भी शीघ्रता-पूर्वक परिवर्तन भी नहीं होते थे। परन्तु आजकल तो लोगों की ज़रूरतें बहुत बढ़ गईं हैं। सम्पत्ति के क्षय के वर्णन में हम (पुस्तक के तीसरे अध्याय में) इस बात को सिद्ध करेंगे कि, आर्थिक उन्नति, लोगों की आवश्यकतायें बढ़ने को ही कहते हैं। आवश्यकताओं में परिवर्तन भी होता है, ऐसी दशा में, जब लोगों की आवयश्कतायें बढ़ जाती हैं, और जल्दी जल्दी बदलने लगती हैं, तब शिल्पियों का उन उन आवश्यकताओं की वृद्धि और परिवर्तन के साथ साथ चलना बड़ा कठिन काम हो जाता है।

ज़रा सा चूक जाने में हानि उठानी पड़ती है। कपड़ा बुनने की क्रिया का उदाहरण लीजिए। बहुत दिनों की बात नहीं है, थोड़े ही दिन हुए, भारत में प्रायः सभी हाथ के बने कपड़े पहनते थे। बहुत से लोग इसी शिल्प में लगे थे। अब भी खद्दर या गाढ़े का कपड़ा देहातों में देख पड़ता है। यह मज़बूत होता है पर ज़रा खुरदुरा होता है, इसलिए मिलों के कपड़े जो देखने में सुन्दर होते हैं, उससे ज्यादा बिकने लगे। लोगों का शौक़ बढ़ गया और वह मिलों के बने कपड़े पसंद करने लगे। बेचारे जुलाहों के पास वैसी मशीनें नहीं थीं—उनके पास वैसे औज़ार नहीं थे—वह इतने बुद्धिमान नहीं थे कि, मिलों के कपड़ों की जोड़ का कपड़ा तैयार कर सकते। नतीजा यह हुआ कि, उनको नुक़सान उठाना पड़ा और अपना व्यापार ही छोड़ देना पड़ा।

यद्यपि शिल्पी इस विचार से कि, उसकी आय उसके श्रम पर ही निर्भर है, खूब जी तोड़ परिश्रम करता है, तो भी केवल अधिक श्रम करने से ही काम नहीं चल सकता, उसे नई नई पसन्द और आवश्यकताओं का भी पूरा ध्यान रख कर काम करना पड़ता है। इस तरह यह बात सिद्ध होती है कि, आर्थिक उन्नति के कारण कभी कभी शिल्पियों को गहरा धक्का पहुंच जाता है।

अब पूँजी का विचार कीजिए। शिल्पी को पूँजी की भी बड़ी आवश्यकता पड़ती है। किसी शिल्प में क़ीमती औज़ारों की, और किसी में अधिक क़ीमती तैयार माल रखने की जरूरत पड़ती है। कुछ शिल्प ऐसे हैं, जिनमें प्राप्ति देर में होती है, इसलिए,

जब तक प्राप्ति न हो तब तक के लिए भोजनादि का व्यय चलाने के लिए पूँजी की आवश्यकता है। मतलब यह कि, प्रायः प्रत्येक शिल्प में पूँजी की ज़रूरत रहती है। अब अगर सौभाग्य से शिल्पी के पास बाप दादों के वक्त की जमा की हुई पूँजी हुई तब तो ठीक, नहीं फिर उसे उधार लेने की ज़रूरत पड़ती है। प्रायः ऐसा होता है कि, शिल्पियों को सूद वग़ैरह काट कर तथा अपना ख़र्चा आदि निकाल कर आमदनी में बहुत ही कम बचता है। कहीं कहीं नहीं बचता और कहीं कहीं हानि उठानी पड़ती है। इसका सारा दारोमदार रक़म के सूद पर रहता है। भारतवर्ष में आजकल सूद की दर बहुत चढ़ी बढ़ी है, यहाँ के शिल्पी जो कुछ पैदा करते हैं उनमें से एक बड़ा भाग महाजन को सूद के रूप में दे आते हैं, और स्वयं ढपोलशंख के ढपोलशंख ही रह जाते हैं। मुनाफ़े की कमी की चिन्ताओं से घिरे रहने से इस देश के शिल्पियों को इतना अवकाश ही नहीं मिलता कि, वह लोगों की आवश्यकताओं को अच्छी तरह समझें, और उसके अनुसार माल तैयारकर अधिक लाभ उठावें। सूद ने और क़र्ज़ ने देश को तबाह कर रक्खा है। लोगों के पास काफ़ी पूँजी नहीं है जिससे वह व्यापार करें। जिनके पास पूँजी है, वह उसे चुपचाप दबाये रहते हैं दूसरों को देते नहीं हैं; अगर देते भी हैं, तो सूद इतना कस कर लेते हैं कि, शिल्पी का खून तक चुस जाता है। उधर आर्थिक उन्नति और आवश्यकताओं के परिवर्तन के कारण शिल्पी के नाक में दम रहता है। मतलब यह कि, भारत के शिल्पियों की दशा अच्छी नहीं।

पिछले परिच्छेद में हम यह बात कह चुके हैं कि, भारतवर्ष के किसान अभी दूसरी अवस्था, अर्थात् शिल्पावस्था में नहीं आ पाये हैं। तो भी, यह नहीं कहा जा सकता कि, वह स्वयंभुक्तावस्था में ही पड़े हैं। वह पहिली अवस्था से हट कर दूसरी अवस्था में कुछ कुछ आने लगे हैं। पर उनका पूर्ण रूप से शिल्पावस्था में आ जाना कठिन मालूम होता है। क्योंकि, शिल्पावस्था में जितना वह आ गये हैं, उतने ही के कारण उन्हें दिक़्क़तें उठानी पड़ रही हैं। वह नहीं जानते कि, क्या चीज़ पैदा की जाय, और उसे किस तरह बेंचा जाय। स्वयंभुक्तावस्था में तो उन्हें अपने खुद के और ज्यादा से ज्यादा, आस पास के कुछ गांवों में अपनी पैदावार को बेंचने की जरूरत पड़ा करती थी। इसलिए, वह यह जानते थे कि, किस प्रकार की फ़सल लोगों को अधिक पसन्द आयेगी, या उपयोगी होगी। पर अब उनकी पैदावार दूर दूर के देशों में जा कर बिकती है, इससे वह यह जान ही नहीं पाते कि, विलायतवाले किस तरह के नाज को ज्यादा पसन्द करते हैं, या किस तरह का नाज मँहगा बिकता है। वह नहीं जानते कि, कैसे तिलहन की अमेरिका में ज्यादा जरूरत है। उनके पास यह बातें जानने के साधन भी नहीं हैं। फिर देखिये, अगर बेचारों को किसी तरह यह बात मालूम भी हुई कि, विलायत के देशों में, अमुक प्रकार की फ़सल के पैदावार की ज़रूरत है और यह मालूम करके उन्होंने उसी फ़सल की खेती करना भी शुरू कर दिया पर चूंकि आवश्यकतायें बदलती रहती हैं, इसलिए, यदि आगे चल कर उस

फ़सल की वैसी मांग न रही तो किसानों का पिछली फ़सलों से प्राप्त अनुभव आदि सब व्यर्थ हो जाते हैं। नील की खेती के सम्बन्ध में यही बात हुई है। नील की खेती का रिवाज ही उठ गया है, साथ ही उसके अनुभव में हमारे किसानों का जो धन खर्च हुआ, जो पूँजी लगी, वह सब व्यर्थ गई, बात सिर्फ़ इतनी हुई कि, नील से जो काम निकलता था, वह एक दूसरी चीज़ से निकलने लगा। वह दूसरी चीज़ नील से सस्ती थी। बस नील का व्यापार डूब गया। अब पोस्ता की खेती भी किसान इसीलिए कम करते जाते हैं, क्योंकि, चीनी लोग अब अफ़ीम कम ख़रीदते हैं।

हमारे यहां के किसान दूसरे देशों की आवश्यकताओं को जान नहीं पाते, पर दूसरे देशों के किसान हमारे यहां की ज़रूरतों को जानते हैं। इस कारण भी, यहां के किसान घाटे में रहते हैं। विलायती खांड के प्रचार में यही बात हुई। विलायत की खांड यहां ख़ूब बिकने लगी, और यहां के किसानों को गन्ने की खेती में इसीलिए घाटा रहने लगा, इस से उन्हाने इस की खेती करना ही कम कर दिया है।

इस के सिवा, शिल्पियों की भांति किसानों को भी सूद का रोग खाये जाता है। नई फ़सलों की उत्पत्ति करने में और ज़्यादा मात्रा में उत्पादन करने के लिए अधिक पूँजी की आवश्यकता है। जौं की खेती से गेहूं की खेती करने में ज़्यादा पूँजी चाहिए; गन्ने की खेती में और भी ज़्यादा चाहिए। मतलब यह कि, जितनी

मँहगी चीज़ की खेती होगी, उतनी ही अधिक उसमें पूँजी लगाने की जरूरत होगी। पर हमारे किसानों के पास पूँजी की कमी है। वह अगर उधार लाते हैं तो उनको सूद इतना देना पड़ता है कि, उनका सारा मुनाफ़ा सूद में ही खप जाता है। सारांश कि स्वयं-भुक्तावस्था से जो बढ़ कर शिल्पावस्था की ओर देश जा रहा है, उसका सब से महत्वपूर्ण परिणाम यह है कि, उत्पादन की वृद्धि होने से जो मुनाफ़ा होता है, उसका अधिकांश भाग पूँजीपतियों की जेबों में ही जा रहा है। किसानों और शिल्पियों के भाग्य में तो उसकी दिक़्क़तें ही भोगना बदा है!

इस प्रकार, शिल्पावस्था में पूर्णरूप से आने के लिए, किसानें के मार्ग में भी वही रुकावटें हैं जो शिल्पियों के मार्ग में पड़तीं हैं। कभी कभी तो यह कठिनाइयां किसानें के लिए, शिल्पियों से भी बढ़ जातीं हैं। शिक्षा का अभाव है। व्यापार को सम्हालने के सुभीते नहीं हैं। पूँजी मँहगी और दुष्प्राप्य है। बस, इन्हीं कारणों से किसान शिल्पावस्था में नहीं आ सकते और जो आने की कोशिशें करते हैं वह नुक़सान उठा कर बैठ जाते हैं। इन रुकावटों का ध्यानपूर्वक विचार कर यह देखना चाहिए कि, मनुष्य जाति, अपनी स्वयंभुक्तावस्था को छोड़ कर, महज़ अपनी कभी न तृप्त हो सकनेवाली जरूरतों को बढ़ा कर, और उन्हें तृप्त करने का वृथा प्रयास करती हुई, शिल्पावस्था में आती है, और उक्त दिक़्क़तों का भार अपने मस्तक पर लेती है। यही नहीं, उक्त दिक़्क़तों के दूर करने के लिए, तथा अपनी और भी बढ़ी हुई आवश्यकताओं की

तृप्ति के लिए, वह और भी आगे बढ़ती है, और कार्य्यालयावस्था में पहुंचती है। अब कार्य्यालयावस्था में जा कर उसकी क्या गति होती है, उसकी उक्त दिक्‌तें दूर हो कर नई तो नहीं पैदा हो जातीं, तथा, उस अवस्था का स्वरूप क्या है, आदि बातों का भी हमें विचार कर लेना चाहिए।

कार्य्यालयावस्था।

इस अवस्था में बहुत से श्रम-जीवियों का समुदाय अपने मालिक की आज्ञानुसार एक साथ मिलकर काम करता है। योरप के बहुत से उद्योग धंधे इसी अवस्था को प्राप्त हो गए हैं। भारतवर्ष में भी खानों तथा कपड़ा बुनने का व्यापार इसी अवस्था को प्राप्त हो चुका है। पर खेती अभी इस अवस्था से बहुत दूर है। उसके दूर रहने के कारण आगे चल कर समझ में आवेंगे। चाय की खेती बहुत कुछ इसी अवस्था को प्राप्त हो गई है, पर यह खेती विदेशियों के ही हाथ में है, उसका मुनाफ़ा भी उन्हीं की जेबों में चला जाता है।

एक उदाहरण।

कल्पना कीजिए कि, एक अमीर आदमी ने एक बड़ी इमारत बनवाकर उसमें सौ करघे लगवा दिए। फिर सौ जुलाहों को मज़-दूरी पर लाकर, उन्हें सूत आदि सामान देकर कपड़ा बुनने को कहा। कपड़ा तैयार होने पर, उस अमीर आदमी ने, उसे बाज़ार में बिचवा दिया, और यह बिचवाने का काम भी उसने किराए के आदमियों से करवा लिया। बिक्री से जो कुछ आमदनी हुई वह

जुलाहों को तथा और नौकरों को देकर, मुनाफ़ा ख़ुद लेकर, काम जारी रक्खा। इस नए प्रबन्ध में एक बात स्पष्ट है कि, जुलाहों को यह नहीं सोचना पड़ा कि, कैसा कपड़ा बनाया जाय जो ज़्यादा बिके, विरुद्ध इसके, उन्हें केवल मालिक के हुक्म की तामील करना पड़ी। बस, उनकी मज़दूरी पक गई। साथ ही उन्हें पूंजी लगाने की भी फ़िक्र नहीं करना पड़ी, उन्हें सूत और करघे तय्यार मिल गए। पूंजी की फ़िक्र भी उसी अमीर मालिक को करना पड़ी जिसने उन्हें नौकर रक्खा था। मज़दूरों को तो सिर्फ़ मज़दूरी से काम रहा। इस प्रकार से वह दिक़्क़तें जो शिल्पियों को स्वतंत्र रूप से काम करने में होती हैं (जिन का वर्णन अभी हो चुका है) दूर हो गईं।

श्रम-विभाग क्या है।

सब से पहला परिवर्तन, जो शिल्पावस्था के बाद होता है, श्रम-विभाग है। अब देखिये, श्रम-विभाग (Division of labour) किसे कहते हैं। जुलाहा हमेशा करघे पर बैठा बैठा कपड़ा बुनता ही नहीं रहता, उसे और काम भी करने पड़ते हैं। समय समय पर उसे उठ कर ताने के सूत लगाने पड़ते हैं। इसका दृश्य प्रायः देहात की सड़कों पर तब देख पड़ता है जब जुलाहे लकड़ियों में सूत तान कर उस पर ब्रुश से कोई चीज़ लगाते हैं। जुलाहों का बहुत सा वक़्त इसी में लग जाता है। अगर बुनने वाला जुलाहा अकेला होगा तो, उसे अपने करघे से उठ कर यह काम करना पड़ेगा, पर यदि कई जुलाहे हों, तो कुछ इस ताने का

काम करने लगेंगे और कुछ करघों पर बैठ कर सुचित्त होकर बुना करेंगे। ऐसी दशा में करघा छोड़ कर उठने की आवश्यकता न पड़ेगी। तो फिर देखिये, बुनने के काम के दो विभाग हो गये, एक लकड़ियों पर सूत तान कर उसमें ब्रश से माड़ी लगाकर उसे तय्यार करना, और दूसरा करघे पर बुनना। अच्छा, अब सूत तानने के काम के भी कई विभाग हो सकते हैं, अगर ज्यादा आदमी हों, तो वह काम उन्हें हर एक की योग्यतानुसार दिये जा सकते हैं। करघे पर कपड़ा बुनने के काम के भी कई विभाग कर भिन्न भिन्न आदमियों को दिये जा सकते हैं। जो जिस तरह का कपड़ा ज्यादा अच्छा तय्यार कर सकता हो, उसी को उस प्रकार का कपड़ा बनाने का काम दिया जा सकता है। कुछ आदमियों को सूत तौलने का, कुछ को तय्यार कपड़े को नाप नाप कर थान बनाने का काम दिया जा सकता है। जो बढ़ईगीरी का काम जानते हों, उन्हें करघों को सुधारने और मरम्मत करने का काम दिया जा सकता है। इस तरह करने से, भिन्न भिन्न प्रकार के कारीगर काम में लाये जा सकते हैं, और सस्ते दामों में ज्यादा माल तय्यार हो सकता है।

श्रम को विभाजित कर काम कराने से जो लाभ होते हैं, उनका वर्णन अर्थ-विज्ञान की बड़ी पुस्तकों में विस्तारपूर्वक किया गया है। हम उनमें से अत्यन्त मार्के के लाभों को ही नीचे लिखते हैं। (१) प्रवीणता का विकास और (२) प्रत्येक मनुष्य से उसकी योग्यता के अनुरूप उत्तम से उत्तम काम मिलने की

सम्भावना ही दो मुख्य लाभ हैं। प्रवीणता के सम्बन्ध में कहा ही जा चुका है कि, जितनी वार मनुष्य एक कार्य को वार वार करता है, उतना ही अधिक वह उस कार्य के करने में प्रवीण होता जाता है। अब दूसरे लाभ को लीजिए। कुछ क़िस्म की चीज़ें ऐसी होती हैं जिनके ज्यादा दाम खड़े होते हैं और वह दिक़्क़त से तैय्यार भी होती हैं। अच्छा जुलाहा उस जुलाहे से ज्यादा उत्पादन कर सकेगा जो खराब चिरविरा और खुरखुरा कपड़ा बनाता है। अब कारीगर—जुलाहा जब स्वतन्त्रता से कार्य्य करता होता, तब चाहें वह कपड़े के महँगे होने के डर से वढ़िया कपड़ा न भी बनाता—पर कार्य्यालय में ऐसा कोई भय नहीं होता, इसलिए, वहां उसे अपनी पूरी कारीगरी दिखलाने का मौक़ा मिलता जाता है, क्योंकि, कपड़े को वेंचने का काम मालिक (कारखानेवाले) का हो जाता है। उसकी फ़िक्र उसे नहीं करना पड़ती।

यन्त्रों का उपयोग।

तब फिर, यह कहना चाहिए, कार्य्यालय की स्थापना से श्रम का विभाग होकर उससे काम लिया जाता है, इसलिए, उतने ही आदमियों से ज्यादा काम होता है और श्रम के विभाग के कारण मजदूर कार्य्य करने में प्रवीण हो जाते हैं, इसलिए, अच्छा अर्थात् सुन्दर काम होता है। दूसरा फ़ायदा यह होता है कि, मशीनों के व्यवहार का सुभीता रहता है। जिसने कभी वड़ी वड़ी मशीनें न देखीं हों, वह अगर किसी वड़े कार्य्यालय में जाकर मशीनों को चलता हुआ देखे तो, मशीनों के पुर्ज़ों की पेंच में डालनेवाली

चाल, भाफ और शोर गुल देख सुन कर वह चकरा जायगा। पर यदि उन्हें ध्यानपूर्वक देखा जाय तो शीघ्र ही ज्ञात हो जायगा कि, उन मशीनों में वही काम होता है जो हाथ से किया जाता है, फ़र्क़ है तो केवल इतना कि, मशीनों से काम बहुत जल्दी जल्दी होता है। उदाहरण लीजिए। आप अगर किसी कपड़ा बुनने वाले कारख़ाने में जाकर मशीन का करघा देखिएगा, तो आपको पता चल जायगा कि, उन मशीनों के करघे में भी सिटखनियां (Shuttle flies) उसी प्रकार आगे पीछे होकर चलती हैं, जिस प्रकार, हाथ के करघों में चला करती हैं। सिटख़नी जो तागा छोड़ जाती है, और उसके लौटने के पहिले ही जिस प्रकार वह तागा ठीक जगह पर दाब कर हाथ के करघे में बिठला दिया जाता है, ठीक उसी प्रकार मशीन के करघे में भी यह क्रिया होती है। फ़र्क़ है तो केवल इतना ही कि, हाथ के करघे, हाथ से चलते हैं और मशीन के यंजिन से। यंजिन भाफ से चलता है। तब फिर यह कहना चाहिए कि, करघा नया नहीं है, पर करघे को चलाने की विधि नई है। यही बात कारख़ानों की प्रत्येक मशीन के विषय में कही जा सकती है। ऐसी मशीनों का बनाना भी सम्भव है जिनसे, मनुष्यों की तरह नियमित रूप से कोई क्रिया हो सके। योरोप में इस प्रकार की मशीनें बनी भी हैं। वह मुसाफ़िरों को टिकट आदि बांटती हैं। पर उनका प्रचार भारतवर्ष में कम है, क्योंकि, यहां आदमियों की मज़दूरी बहुत सस्ती है। सबका सारांश यह है कि, कोई भी काम जिसे मनुष्य की मांसपेशियां कर

सकती हैं, मशीनों से भी लिया जा सकता है। सवाल है तो, सिर्फ़ धन का है, अगर धन हो तो, जिस काम के लिए चाहिए, मशीनें, मँगवा कर कार्य्यालय जारी कर दीजिए।

कर्य्यालाय का उदाहरण देते हुए हमने पहले उस सेठ का उदाहरण दिया था, जिसने हाथ से चलनेवाले करघों से अपना कार्य्यालय खोला था। अब कल्पना कीजिए कि, उस सेठ ने यह सोंचा कि, अगर यह हाथ के करघे हटा कर मशीन के करघे (जो भाफ के यञ्जिन से चलते हैं) रक्खे जांय, तो काम अच्छा हो, आदमियों की भी बचत हो जाय, और ज्यादा माल तैयार होने लगे। अब कल्पना कीजिए कि, उसने हाथ के करघे हटवा कर मशीन के करघे रखवा दिए। तो फिर आदमियों की इतनी ही ज़रूरत रह गई कि, वह उन मशीनों को खड़े खड़े देखा करें कि, काम ठीक तौर पर हो रहा है या नहीं। इस परिवर्तन के कारण अब जुलाहों के कौशल या प्रवीणता की आवश्यकता ही नहीं रही। उनका काम तो मशीनें करने लगीं। अच्छी मशीन पर आदमी से ज्यादा विश्वास किया जा सकता है। वह आदमी से ज्यादा साफ़ सुथरा कपड़ा बना सकतीं हैं। अब आदमी की इतनी ही जरूरत रह गई कि, जब काम शुरू होने को हो तब वह उसे एक बार चला दें, और जब थान पूरा बुन चुके तब बन्द कर दें। अब सेठ जी को अच्छे जुलाहों की जरूरत न रही, पर उन मशीनों को (जो कभी कभी बिगड़ जाती हैं) सुधारने के लिए अच्छे मिस्त्री की ज़रूरत पैदा हो गई। पुराने बढ़ई, जो पुरानी चाल के करघे

दुरुस्त किया करते थे, वेकार हो गये । उनकी जगह मिस्त्री जी आ विराजे । बस फिर सेठ जी उन जुलाहों को निकाल देंगे, और उनकी जगह थोड़े से लड़के और औरतें तनख्वाह पर रख लेंगे । वह सब होशियार मिस्त्रियों की निगरानी में काम किया करेंगे ।

केवल करघों में ही परिवर्तन हो सकता हो सो बात नहीं है । पहले जो जुलाहे लकड़ियां गाड़ कर उस पर सूत तान कर और सूत पर कुछ मसाला लगा कर जो काम किया करते थे, वह काम भी मशीनों से हो सकता है । अगर काफ़ी सूत मिलने में दिक़्क़त होती हो, तो बुनने का भी कार्य्यालय साथ ही खोला जा सकता है । इसके अलावा, और बहुत से छोटे मोटे काम जो हाथ से करना पड़ते हैं, मशीनों से हो सकते हैं । अब कल्पना कीजिए कि, इस प्रकार का एक बड़ा कपड़े का कार्य्यालय क़ायम हो गया, और उस में सब काम मशीनों की सहायता से होने लगा । अब इसका देश पर क्या प्रभाव पड़ेगा ? प्रभाव यह होगा कि, जितना कपड़ा जुलाहे पैदा किया करते थे, उस से ज्यादा कपड़ा पैदा होने लगेगा । जुलाहों के कपड़ों से वह अच्छा भी होगा और ख़ूब सस्ता भी । ऐसी दशा में लोग बाग जुलाहों का कपड़ा न ले कर मशीनों का बना हुआ लेने लगेंगे । उधर, न मालूम कितने जुलाहे अपनी रोटियों का ज़रिया खो बैठेंगे ।

मगर, इस उदाहरण से यह न समझ लेना चाहिए कि, समस्त कार्य्यालयों की उन्नति इसी प्रकार—धीरे धीरे—होती है,

जिस प्रकार उक्त उदाहरण में दिखलाई गई। आज कल जो नये कार्य्यालय स्थापित होते हैं, सो पहले से ही सब बन्धेज बांध कर, सब तैयारी कर—पूरे सामान के साथ स्थापित होते हैं— क्रम क्रम से उन में उन्नति की आवश्यकता नहीं होती। इस तरह के बड़े २ कार्य्यालयों का तख़मीना लगाने और उनके सामान आदि का बंदोबस्त करने का एक नया पेशा ही हो गया है। इस कार्य्य में जो लोग दक्ष होते हैं, वह सब पहले से ठीक ठाक कर के कार्य्यालय खोलते हैं। पर कार्य्यालय चाहें एकदम से स्थापित हों, या फिर, क्रम क्रम से उन्नति करें, दोनों का ख़ाका (General features) एक ही होता है, और उस का ऊपर के उदाहरण में बहुत कुछ वर्णन कर दिया गया। अब उसी की मुख्य मुख्य बातों को हम इस प्रकार संक्षेप से कह सकते हैं:—

(१) ख़रीदने, बेंचने और प्रबन्ध करने का काम उत्पादन के काम से अलग कर दिया जाता है। उक्त काम सेठ जी करते हैं (या नौकरों से करवाते हैं) और उत्पादन का काम मज़दूर करते हैं।

(२) मज़दूरों को पूंजी से कुछ भी मतलब नहीं रहता। उस का प्रबन्ध करना तो सेठ जी का काम हो जाता है। इसी तरह, उन्हें क्षेत्र से भी कुछ सरोकार नहीं रहता, उन्हें तो सिर्फ़ अपनी मज़दूरी से काम रह जाता है।

(३) श्रम के विभाग और मशीनों के व्यवहार के कारण ख़र्च बहुत घट जाता है और पैदावार बहुत बढ़ जाती है। यहां तक

कि, शिल्पावस्थावाले लोग चाहें जितना सरतोड़ परिश्रम करें, उस के मुक़ाबले में (कम दामों से ज्यादा माल तैय्यार करने में) ठहर ही नहीं सकते।

(४) यह कार्य्यालयावस्था, न मालूम कितने शिल्पियों की जीविका नष्ट कर देती है। जो केवल एक काम ही जानते थे, और उसी से अपनी रोटियां चलाते थे, उनका वह रोटियों का ज़रिया इस से टूट जाता है।

परिणाम।

अब यह बात स्पष्ट हो गई कि, कार्य्यालयावस्था में शिल्पावस्था से अधिक पूँजी की ज़रूरत होती है। इमारत, यञ्जिन, मशीन आदि क़ीमती चीज़ों की ज़रूरतें बढ़ जाती हैं। ऊपरदरा के ख़र्च के लिए भी (जैसे कच्चा माल ख़रीदने, तनख्वाहें देने) अधिक पूंजी की ज़रूरत हो जाती है। बिक्री का रुपया और मुनाफ़ा मिलने की नौबत बहुत पीछे आती है। असल बात तो यह है कि, देश में तब तक कार्य्यालयों की स्थापना नहीं हो सकती जब तक देशवासी काफ़ी तौर पर मालदार न हो जांय। दरिद्र देश में देशवासी अपने कार्य्यालय नहीं स्थापित कर सकते। यही कारण है कि, हमारे देश के कार्य्यालयों में बहुत कुछ विदेशियों की पूंजी लगी हुई है। इस से कार्य्यालयावस्था के लाभ तो विदेशियों को मिलते हैं, और उस से होनेवाली बेकारी देशवासियों के गले पड़ती है।

प्रश्न होता है कि, इस समय, हमारे देश में जो बेकारी और ग़रीबी का प्रभाव है, वह क्या इसी कार्य्यालयावस्था के असामयिक

और अस्वाभाविक प्रचार के कारण ही तो नहीं है ? क्या देशी और क्या विदेशी पूँजीपतियों ने कार्य्यालयों की स्थापना कर, देश में बेकारी तो नहीं बढ़ा दी ? इस प्रश्न का सही २ उत्तर क्य है।

दसवां परिच्छेद।

—:o:—

बैंक।

पूंजी के संगठन की आवश्यकता।

अर्थ-विज्ञान में उत्पत्ति के संगठन का विषय बड़े महत्व का माना गया है; पर भारतवर्ष की दशा को देखते हुए तो इसका महत्व और भी अधिक है। पिछले परिच्छेद में हम देख चुके हैं कि, देश की औद्योगिक उन्नति बहुत कुछ 'संगठन' पर ही निर्भर रहती है। भारत के कृषकों को भी संगठन की आवश्यकता है, पर उन्हें कम सूद पर पूंजी मिलने का सुभीता होना चाहिये। बिना इसके वह अपने खेतों में काफ़ी मज़दूर नहीं लगा सकते और जैसी चाहिये वैसी पैदावार नहीं कर सकते। केवल किसान ही क्या, सभी पेशेवालों को अगर उचित सूद पर पूंजी मिलने का सुभीता हो जाय तो देश की औद्योगिक उन्नति में बहुत बड़ी मदत मिले। यह सुलभता बिना पूंजी के अच्छे संगठन के हो नहीं सकती। और जब तक इसका संगठन न होगा तब तक औद्योगिक उन्नति में बाधायें उत्पन्न होती रहेंगी।

हम इस बात का वर्णन कर चुके हैं कि, मनुष्य में सम्पत्ति जमा करने की स्वाभाविक इच्छा होती है। इसका अर्थ यह है कि, सर्वसाधारण मनुष्य जब मौक़ा पाते हैं, तब कुछ न कुछ सम्पत्ति बचा कर अवश्य रखते हैं। यह बचत का मौक़ा उन्हें तब मिलता

है, जब उनकी तीव्र आवश्यकताएं बिना अपनी समस्त आय का व्यय किये ही पूरी हो जाती हैं। किन्तु वह मौक़ा पाते ही 'सम्पत्ति' बचाते हैं, इसमें तो कोई सन्देह नहीं; पर, 'पूंजी' बचाते हैं या नहीं, इसमें बड़ा भारी सन्देह है। पुराने ज़माने में लोगबाग प्रायः अपनी भविष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही सम्पत्ति बचाया करते थे। मतलब यह कि, वह 'सम्पत्ति' बचाते थे, 'पूंजी' नहीं। भारत में आजकल भी बहुत थोड़ी दौलत पूंजी के रूप में है। यहां अब भी अधिकांश सम्पत्ति भविष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही बचाई जाती है। जब चोरों और लुटेरों का भय होता है, तब लोगबाग प्रायः अपनी सम्पत्ति बहुत कम बचाते हैं; और यदि बचाते भी हैं तो उसे सोने चांदी के रूप में ज़मीन में गाड़कर या और किसी तरह से छिपा कर रखते हैं। जब न्यायशील सरकार बन जाती है, तब इस तरह का डर जाता रहता है। तब फिर धन को गाड़ कर रखने की ज़रूरत नहीं रहती। पर लोगों की पुरानी आदतें नहीं छूटतीं। इसीलिए, अब भी हम लोगों में दौलत को ज़मीन में गाड़ने की आदत मौजूद है। हमारे देश में पूंजी की बड़ी कमी है। राजाओं और महाराजाओं के ख़ज़ाने व्यर्थ ही पड़े रहते हैं। उनके व्यर्थ पड़े रहने के कुछ कारण ऐसे भी हैं जो राजनैतिक हैं, अतएव, अर्थ-विज्ञान की सीमा के बाहर हैं। परन्तु समय के अनुसार अब कई महाराजाओं ने भी कार्य्यालय खोल कर अपनी सम्पत्ति के एक भाग को पूंजी बना डाला है।

अन्य देशों की परिस्थिति दूसरी है । वहां ज़मीन में दौलत नहीं गाड़ी जाती । वहां सम्पत्ति नहीं, पूँजी बचाई जाती है । वहां की दौलत "दिन दूनी रात चौगुनी" बढ़ती है । अब इस बात का विचार करना चाहिए कि, पूँजी किस प्रकार बचाई जाती है । किसान और शिल्पियों को कुछ पूँजी की ज़रूरत होती है । ऐसे भी बहुत से किसान व शिल्पी होते हैं, जिनके पास उन की पूँजी से अधिक सम्पत्ति होती है । ज़मींदारों में तो ऐसे बहुत से होंगे, जिनके पास ज़रूरत से ज्यादा सम्पत्ति निकलेगी । सरकारी नौकरों के पास भी इसी तरह सम्पत्ति पाई जायगी । मजदूर भी कुछ न कुछ शाम तक बचा ही सकते हैं । यह लोग जब अपनी सम्पत्ति को खुद काम में नहीं ला सकते तब उधार दे देते हैं । जो ईमान्दार होता है और सूद के साथ ही मूलधन भी लौटाकर दे देता है उसी को उधार दिया जाता है । हमारे यहां के बहुत सेठ साहूकार उधार देने का ही व्यवसाय करते हैं । पर दिक्कत की बात यह है कि, जिसे रुपया लेने की ज़रूरत होती है उसे वक्त पर और आसानी से रुपया देनेवाला नहीं मिलता । जिसे देने की ज़रूरत है उसे रुपया लेनेवाला और ईमान्दारी से मय सूद के लौटा देनेवाला नहीं मिलता । इसी दिक्कत को दूर करने के कारण ही पूँजी के संगठन की ज़रूरत होती है । मतलब यह कि ऐसे लोग बीच में खड़े हो जाते हैं जिनका काम रुपयेवालों से रुपया लेना और ज़रूरतवाले को देना ही होता है । इसी प्रकार के 'संगठन' बैंक कहलाते हैं । यद्यपि बैंक और भी

काम करते हैं पर उनका पहला काम उन लोगों से रुपया उधार ले कर जिनके पास फ़ालतू रहता है, उन लोगों को देना ही होता है जिनको रुपये की, दौलत पैदा करने के लिए जरूरत होती है। बैंक महाजनों से किसी खास मियाद में अदा कर देने के वादे पर रुपया लेता है और उस पर महाजन को सूद देता है। जब उक्त मियाद निकल जाती है और महाजन अपने रुपयों को वापस लेने की सूचना देता है तब बैंक उसे उसका रुपया लौटा देता है। जिस बैंक की ईमान्दारी पर जिसका विश्वास होता है, वह उसी बैंक में अपना रुपया जमा करता है। जिन लोगों को रुपये की आवश्यकता होती है वह बैंकों में जाते हैं और उधार लेने की इच्छा प्रकट करते हैं। बैंक को यदि विश्वास हो जाता है कि, यह आदमी समय पर वादे के अनुसार रुपया दे जायगा तो फिर वह उसे उधार दे देता है। इसमें ध्यान देने की बात यह है कि, बैंक हमेशा कम से कम सूद पर उधार लेने की कोशिश करते हैं। और ज्यादा से ज्यादा सूद पर उधार देने की कोशिश करते हैं। इसमें जो नौकरों की तनख्वाह वग़ैरह का खर्च निकाल कर मुनाफ़ा होता है, उसे बैंक का मालिक ले लेता है।

बैंकों की कार्यप्रणाली।

भारत के बड़े बड़े शहरों में बैंकों की स्थापना हो गई है। वहां के लोग बाग बैंकों से अच्छी तरह से परिचित हो गये हैं। उनका (बैंकों का) काम सफलतापूर्वक चल भी निकला है। अब हिन्दुस्तानी भी बैंक खोलने लगे हैं। पहले पहल बैंकों की प्रणाली

भारत में योरपवालों ने ही चलाई थी। बैंकों से जितनी मदद सम्पत्ति के उत्पादन में मिलती है, उतने का ही हमें इस परिच्छेद में विचार करना है। बैंकों से उत्पादन के कार्य्य में बड़ी सहायता मिलती है, क्योंकि बड़े बड़े कारखानों को बैंक ही रुपया उधार देते हैं। बड़े बड़े कारखाने बैंकों से रुपया उधार लेकर मशीनें मंगाते, नौकरों की तनख्वाह चुकाते तथा अन्य आवश्यकीय कार्य भी करते हैं। उधर जब बिक्री के दाम आते हैं, तब बैंक का रुपया जमा करा देते हैं। इस प्रकार से कार्य्यालयों की कठिनाइयां बहुत कुछ बैंकों की मदद से सुलझ जाती हैं।

मामूली बैंक उन सब लोगों को पूंजी नहीं पहुंचा सकते जिन को पूँजी की ज़रूरत हुआ करती है, और न वह उन सब लोगों की सम्पत्ति जमा ही कर सकते हैं जिनके पास वह व्यर्थ पड़ी रहती है। बैंकों की दो विशेष सीमायें हैं—

[१] वह विना खतरे, बहुत से लोगों को मशीनें ख़रीदने और इमारतें बनवाने को रुपया उधार नहीं दे सकते।

[२] वह छोटी छोटी रक़मों का लेन देन भी नहीं कर सकते।

(१) अब पहली बात को लीजिए। हम ऊपर कह चुके हैं कि जो लोग बैंकों में अपना रुपया जमा करते हैं उन लोगों को अगर बैंक समय पर वादे के अनुसार रुपया अदा न करें, तो लोगों का बैंकों में से विश्वास ही उठ जाय। अब कल्पना कीजिए कि, बैंक ने लोगों की अमानत का सब रुपया कारखानेवालों को

काम चलाते हैं। जब कार्य्यालय का काम चलता है, और मुनाफ़ा होता है, तब वह मुनाफ़ा सब को हिस्सेवार वांट दिया जाता है। वक़ील, डाक्टर, या सरकारी नौकर अपने रुपयों से किसी भी कम्पनी के हिस्से ख़रीद कर फ़ायदा उठा सकता है। एक बात और है कि, हिस्सेदार अपने हिस्से के रुपयों को कार्य्यालय से मांग नहीं सकता। हां, वह अपने हिस्सों को दूसरे के हाथ वेंच सकता है। भारतवर्ष में अब हिस्सों की ख़रीद फ़रोख़्त का बाज़ार खूब चमक गया है। कलकत्ते बम्बई में तो इसके भी दलाल पैदा हो गये हैं। अगर किसी के पास रुपया हो और वह उससे काम लेना चाहे तो सबसे सीधे रास्ते उसके लिए दो ही हैं। एक तो यह कि वह उसे बैंक में जमा करादें; ऐसा करने से उन्हें सूद मिलेगा। दूसरा रास्ता यह है कि वह कार्य्यालयों के दलालों के पास जांय और उनकी मार्फ़त किसी कार्य्यालय के हिस्से ख़रीद लें; इससे कार्य्यालाय के मुनाफ़े का वह भाग मिल जाया करेगा जो उनके हिस्से का होगा।

कई प्रकार के कार्य्यालय होते हैं। उनके हिस्से भी भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। सवाल यह होता है कि, इन बड़े बड़े कार्य्यालयों का निर्माण किस प्रकार होता है, तथा, इनका प्रबन्ध कैसे होता है। इसका अगर विस्तार से वर्णन किया जाय तो पुस्तक का आकार बहुत बढ़ जायगा, तथा अन्य आवश्यक बातों का जिनका जानना इस से भी ज्यादा जरूरी है, वर्णन करना रह जाय। इस लिए इतने से ही अभी सन्तोष कर लेना चाहिये जितना ऊपर कहा गया है। अर्थात् बड़े बड़े कार्य्यालयों की स्थापना छोटी छोटी

रक़मों को इकट्ठा करने से हो जाती है ।

चाहे इन हिस्सों की रक़में छोटी ही क्यों न हों, पर इसमें सन्देह नहीं कि, ग़रीबों की छोटी छोटी बचत की रक़मों को इकट्ठा करने में इन हिस्सों से बड़ा काम होता है । इस काम के लिए और भी बहुत सी संस्थाएं अन्य देशों में खोली गई हैं, जैसे सेविंगबैंक (Savings Bank) पीपुल्स बैंक (Peopl's Bank) आदि । इन संस्थाओं में एक एक आने तक की रक़में जमा कर ली जाती हैं । लोगों ने कई प्रकार के ऐसे बैंकों की स्थापना करने की भी योजना की है जिनसे ग़रीबों को ज़रूरत पर छोटी मोटी रक़में उधार मिल सकें । भारतवर्ष में अभीतक इस प्रकार की संस्थाओं की स्थापना कम हुई है । छोटी हैसियत के लोगों की बचत का रुपया व्यर्थ पड़ा रहता है । जब उन्हें क़र्ज़ लेना पड़ता है, तब फिर महाजनों को बहुत ही अधिक सूद देना पड़ता है । अब सहयोग-समितियों (Co-operative societies) की स्थापना गत कुछ वर्षों से हुई है । आशा है कि, इस से लोगों की ज़रूरतें बहुत कुछ रफ़ा हो जायँगी । डाकख़ाने के सेविंग बैंकों से भी बड़ा काम हुआ है । पर इन में कमी यह है कि, यह सिर्फ़ रुपया जमा ही करते हैं किसी को उधार नहीं देते । अस्तु, इस आन्दोलन का (कि इस दिक़्क़त को दूर करने के क्या उपाय हैं) विचार तब करना पड़ेगा जब अर्थ-विज्ञान के समस्त साधारण नियमों का एक बार अध्ययन हो जायगा ।

ग्यारहवां परिच्छेद।

उत्पादन के साधनों का विशेषत्व।

संसार में उत्पादन की किस प्रकार क्रमोन्नति हुई है, इसका वर्णन हम कर चुके। हम यह दिखला चुके कि, उत्पादन की तीन आदर्श-सूचक अवस्थाएं कौन हैं। एक प्रकार से हमारा कार्य्य हो चुका। किन्तु अभी एक प्रधान नियम का और वर्णन करना है। ऊपर जिन तीन अवस्थाओं का वर्णन हुआ है, उन्हीं के सम्बन्ध का यह नियम है। इसे हम उत्पादन के साधनों के विशेषत्व का नियम कह सकते हैं। इस नियम के भाव को हम इन शब्दों में प्रकट कर सकते हैं कि, क्षेत्र, श्रम और पूंजी की प्रवृत्ति किसी खास आवश्यकता की पूर्ति की ओर अधिकाधिक होती जाती है, साथ ही, कई प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति से हटती भी जाती है, अर्थात्, कई प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति करने की क्षमता कम होती जाती है। नीचे के वर्णन से इसका अर्थ स्पष्ट हो जायगा।

क्षेत्र का विशेषत्व।

उत्पादन की प्रथम अवस्था (स्वयंभुक्तावस्था) में क्षेत्र से एक ही आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती, उस से कई प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। अर्थात् स्वयं-भुक्तावस्था में एक ही ग्राम के क्षेत्र से कई तरह की ज़रूरतें रफ़ा कर ली जाती हैं;

अन्न की आवश्यकता, कपड़ों की आवश्यकता और प्रकाश आदि अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति उसी ग्राम के क्षेत्र से होती है। यह स्वयं-भुक्ता-वस्था की बात हुई। पर जब उत्पादन की उन्नति होती है, अर्थात् स्वयं-भुक्ता-वस्था के बाद धीरे धीरे शिल्पावस्था आने लगती है, तब वहां पर उक्त 'विशेपत्व' का नियम देख पड़ने लगता है; अर्थात् एक प्रकार क्षेत्र से कई प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति होना धीरे धीरे कम पड़ने लगता है। इसे यों समझिये कि, पहले तो (स्वयं-भुक्ता-वस्था में) लोगबाग एक ही जमीन पर सब तरह की खेती करते थे; उसी में कपड़ों के लिए थोड़ी सी कपास लगा देते थे, तेल के लिए सरसों बो देते थे और खाने के लिए अन्न भी बोते थे। इसी प्रकार की भिन्न भिन्न आवश्यकताओं के अनुसार खेती कर लिया करते थे। पर आगे चल कर (शिल्पावस्था में) अनुभव से उन्हें ज्ञात हुआ कि, एक जमीन में किसी ख़ास तरह की पैदावार ज्यादा होती है; बस उसी चीज़ की खेती उस ज़मीन पर करने लगे और जो पहले उसपर भिन्न २ प्रकार की खेती करते थे वह बन्द कर दी। देखिये, अभी बहुत दिन नहीं हुए संयुक्त प्रान्त के किसान गन्ने की और कपास की खेती साथ ही साथ करते थे। कपास से कपड़ों की और गन्ने से शक्कर की ज़रूरतें वह गांव की खेती से ही रफ़ा कर लेते थे। पर अब यह बात नहीं है। दोनों तरह की फ़सलों को एक ही तरह की परिस्थिति अनुकूल नहीं होती। गन्ने की फ़सल की अच्छी पैदावार के लिए ज्यादा नम वायुमण्डल की आवश्यकता है। यही कारण है कि, गन्ने

की खेती हिमालय के आस पास के नम प्रदेशों में प्रायः ज्यादा होने लगी है। पर, कपास के लिए इतनी नम वायुमण्डल की ज़रूरत नहीं, इसीलिए, उस की खेती देहातों में वैसे ही हो रही है। अव, अपने गांव की ही पैदावार से किसान शक्कर की आवश्यकता पूरी नहीं कर सकते; कारण इसका यही है कि, अव उस की जहां खेती होती है, वहां से ख़रीदने में ही वह सस्ती पड़ती है; अगर उसकी खेती अपने गांव में की जाय तो वह मँहगी पड़े। इसी तरह से, गन्ने की खेती करनेवाले किसानों को वना वनाया कपड़ा ख़रीदना सस्ता पड़ता है; अगर वह कपास की खेती करें और फिर उस से वही कपड़े वनवाएँ तो वह मँहगे पड़ें। यही क्षेत्र के सम्वन्ध के उस विशेषत्व के नियम का ख़ुलासा है जिस का वर्णन ऊपर किया गया। उत्पादन के दृष्टिकोण से यह वड़े महत्व का नियम है, क्योंकि, क्षेत्र में उसी की खेती की जाती है जिस की पैदावार सब से अधिक (मुनाफ़े की) होती है। पर यहां पर यह वात ध्यान से न भुला देना चाहिए कि, यह सव होने पर भी, यह कठिनाई मौजूद ही है (जिस का वर्णन हो चुका है) कि, किसान नहीं जानते कि, दूर देश के लोग किस फ़सल को अधिक पसन्द करते हैं और किस फ़सल की खेती करने से उन्हें सब से अधिक लाभ होगा। अस्तु। इस प्रकार के क्षेत्रों के विशेषत्व का यह नियम केवल किसी क्षेत्रविशेष या देशविशेष पर ही नहीं किन्तु सब देशों पर लागू है। व्यापक है। योरप में जो चाय ख़र्च होती है, वह एफ़्रिका, अमेरिका, आस्ट्रेलिया और बङ्गाल में पैदा होती है।

बङ्गाल में जो सन पैदा होता है, उसी के बोरे बनते हैं और उन में नाज भर भर कर सारी दुनिया में नाज आदि का व्यापार किया जाता है।

उद्यम का स्थाई भाव।

और भी देखिए, उद्यम का एक स्थाई भाव होता है। (Localization of industries) अर्थात् कहीं किसी ख़ास जगह पर एक ही प्रकार का व्यापार होता है। शिल्पावस्था में ही यह उद्यम का स्थाई भाव प्रारम्भ हो जाता है। ख़ास ख़ास शहर, ख़ास ख़ास मुहल्ले और ख़ास ख़ास सड़कें कुछ ख़ास ख़ास व्यापारों के लिए प्रसिद्ध हो जाती हैं। शहर की किसी सड़क पर चमड़े की ही दूकानें ज्यादा होती हैं; किसी पर ठठेरों की; किसी पर कपड़ेवालों की; आदि। लोगों को जब जिस चीज़ की जरूरत होती है, तब वह उन्हीं उन्हीं स्थानों पर जाते हैं, जहां उनकी दुकानें अधिक प्रसिद्ध होती हैं। शिल्पी लोग अपनी बनाई चीज़ों के बेचने के लिए भी उन्हीं ख़ास सड़कों पर ही जाते हैं। मुरादाबाद के पीतल के काम और लखनऊ के चांदी के काम की प्रसिद्धि प्रायः सभी जानते होंगे। यह शहर अपने माल से सारे भारत की ही नहीं, किन्तु विलायत के देशों की भी आवश्यकताओं की पूर्त्ति करते हैं। यह तो शिल्पावस्था के क्षेत्र की बात हुई। अब कार्य्यालयावस्था को लीजिए। कार्य्यालयों की स्थापना जिन जिन बातों को सोचकर होती है, उसका भी परिणाम यही होता है कि एक ही स्थान पर प्रायः एकही तरह के

कार्य्यालय बहुत से हो जाते हैं। यही कारण है कि समस्त सन के कार्य्यालय कलकत्ते के समीप हैं। कपड़े के कार्य्यालय बम्बई, अहमदाबाद और कानपुर में ही बहुतायत से हैं। कार्य्यालयावस्था के इस औद्योगिक स्थाई भाव का सम्पत्ति के उत्पादन पर क्या प्रभाव पड़ता है, यह बहुत आगे की बात है। अभी तो हमारा उद्देश्य उद्यम के स्थाई भाव का वर्णन करना ही है।

श्रम का विशेषत्व।

अब श्रम के विशेषत्व का विचार कीजिए, इसमें भी वही बात है। देहातों में भी हमें श्रम के विशेषत्व के प्रमाण प्राप्त होते हैं। वहां के शिल्पियों के समुदाय में भी हमें बढ़ई, कुम्हार, धोबी किसान आदि भिन्न भिन्न प्रकार के ऐसे ही एक पेशेवाले लोग मिलते हैं। एक बात जरूर है कि, इस प्रकार के विशेष पेशेवाले भी और और काम करते हैं। जैसे बढ़ई, बढ़ईगीरी तो करता ही है पर साथ ही दो बीघे गेहूं की खेती भी कर लेता है। परन्तु साथ ही इन विशेष पेशेवालों के बिना गांव का आजकल काम चलना कठिन है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि, श्रम के विशेषत्व ने गांवों में भी जड़ जमा ली है। यह तो स्वयं-भुक्तावस्था की बात हुई; अब शिल्पावस्था की तरफ़ आइये। इस अवस्था में तो यह विशेषत्व और भी बढ़ जाता है। शिल्पी लोग अन्य पेशों का करना बहुत ही कम कर देते हैं, तथा अपने पेशों में ही अधिक दत्तचित्त हो जाते हैं। शिल्पावस्था के बढ़ई को अपनी बढ़ईगीरी के काम से ही फ़ुरसत नहीं रहती खेती कौन करे? उसे अपने उसी

काम में इतना मुनाफ़ा होता है कि खेती करके नाज पैदा करने से उसे अपनी बढ़ईगीरी की आमदनी से ही नाज ख़रीदने में सुभीता रहता है। कार्य्यालयावस्था में तो श्रम का विशेपत्व हद पर पहुंच जाता है। उत्पादन के भिन्न भिन्न विभागों के एक एक भाग में ढेर के ढेर मनुष्य रहते हैं। इस अवस्था में अपने काम को छोड़ कर अन्य काम मजदूर कर ही नहीं सकता। मशीन के करघे का निरीक्षक सिर्फ़ उसी निरीक्षण के काम को ही कर सकता है; पर, वह अपने पहिरने के लिए एक गज़ कपड़ा तक नहीं बना सकता। इस बात से आजकल के सभी लोग परिचित हैं कि, यदि कार्य्यालय के मजदूरों का एक विभाग अधिक समय के लिए, एक साथ काम बन्द कर दे, तो कार्य्यालय ही बन्द हो जाय। इसी का नाम हड़ताल है। यह बात श्रम के विशेपत्व की ही द्योतक है।

पूंजी का विशेपत्व।

क्षेत्र और श्रम के विशेपत्व का सरसरी तौर पर विचार हो चुका; अब पूंजी के विशेपत्व का विचार कीजिये। अर्थ-विज्ञानियों ने पूंजी के "चल" और "अचल" यह दो विभाग किये हैं। इसका विशेष वर्णन हम पूँजी के परिच्छेद में कर ही चुके हैं; इसके अनुसार जलाने का ईंधन, नौकरों को दी जाने वाली तनख़्वाहें आदि चल पूँज़ी हैं। ईंधन एक बार जलाने के बाद फिर काम का नहीं रहता। तनख़्वाह एक बार मजदूरों को दे देने के बाद फिर लौट कर नहीं आती। यह सब चल पूँजी के लक्षण हैं। उधर इमारतें मशीनें आदि अचल पूँजी हैं। एक बार व्यवहृत होने

से इनकी उपयोगिता नष्ट नहीं होती। अब व्यापार की उन्नति के साथ ही अचल पूँजी बढ़ती जाती है, और चल पूँजी कम होती जाती है। चल पूँजी से हम भिन्न भिन्न प्रकार का काम करा सकते हैं। उसे देकर हम नाज पैदा करा सकते हैं, पीतल का काम करा सकते हैं, लकड़ी का काम करा सकते हैं, आदि। पर अचल पूंजी से एक ही प्रकार का काम हो सकता है। बस, यही पूंजी का विशेषत्व है। दिन पर दिन पूँजी का विशेषत्व अचलता की ओर बढ़ता ही जाता है। स्वयंभुक्तावस्था के किसानों के पास बहुत ही कम अचल पूंजी होती है। किसानों के हल और चौपायों की गणना अचल पूंजी में ही की जा सकती है। पर उसमें विशेषत्व की मात्रा की बहुत ही कमी रहती है, अर्थात्, किसान उनसे अपनी अन्य आवश्यकताओं की भी पूर्ति करते हैं। शिल्पावस्था में अचल पूंजी की मात्रा बहुत बढ़ जाती है। शिल्पियों के हथियार अन्य कार्य्यों के मतलब में बहुत ही कम प्रयुक्त हो सकते हैं। वह स्थाई भी अधिक होते हैं। कार्य्यालयावस्था में तो अचल पूँजी बहुत ही बढ़ जाती है। यद्यपि मशीनों की भी उम्र होती है और इमारतें भी एक समय विशेष तक ही ठहरती हैं, तथापि, उनमें अचलता की मात्रा सब से ज्यादा होती है। उनमें विशेषत्व की भी कमी नहीं। कुछ कार्य्यालय मशीन के करघे ही बनाते हैं, कुछ सूत कातने की मशीनें ही बनाते हैं। मतलब यह कि कार्य्यालयावस्था में पूँजी में विशेषत्व की वृद्धि भी ठीक उसी प्रकार हुई है जिस प्रकार वह क्षेत्र और श्रम में हुई।

उक्त विशेपत्व के कारण ।

समस्त उत्पादन के साधनों की प्रवृत्ति ही विशेषत्व की ओर है। इसी सिद्धान्त—इसी नियम—का विचार दूसरी तरह से भी किया जा सकता है । स्वयं-भुक्त-जन-समुदायों की उन्नति और वढ़ती शीघ्रतापूर्वक होती है। सवसे पहले लोगवाग एक ही ग्राम में रहते थे और वहीं की पैदावार से अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति किया करते थे। धीरे २ सीमा विस्तृत हुई, शिल्पावस्था आई। गांववाले, शहरवालों की कुछ जरूरतों की पूर्त्ति करने लगे। उन्नति की यह लहर वढ़ती ही जाती है और समस्त भू-मण्डल एक विशाल-स्वयंभुक्त-जन-समुदाय वन रहा है । कोई भी शहर ऐसा नहीं है जहां बिना दूसरे देशों की पैदावार के मौजूदा हालत में काम चला सके। मतलव यह कि, अब कोई भी शहर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति खुद नहीं कर सकता । हिन्दुस्तान तक के देहातों में स्वीडन, नार्वे और जापान की वनी दियासलाइयां खर्च की जाती हैं। रूस, वर्मा, अमरीका आदि देशों का तेल जलाया जाता है। मैंचेष्टर का कपड़ा पहना जाता है। शहरों में तो प्रायः संसार के सभी देशों की चीजें बिकती हुई देख पड़ती हैं। अंग्रेज लोग तो दूसरे देशों का ही प्रायः अनाज खाते हैं । हमारा ग़रीब भारत भी समस्त संसार की सन की मांग को पूरी करता है । यहां पर यह प्रश्न कोई भी कर सकता है कि, क्या इस सार्वभौमिक-स्वयं-भुक्त जन-समुदाय की सृष्टि करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक देश के रहनेवाले पहले अपने को स्वयंभुक्त वना लें तव

स्वाभाविक रीति से सार्व-भौमिक-स्वयं-भुक्तता की सृष्टि करें? प्रश्न बड़े महत्व का है। इसका उत्तर यदि हम देने की चेष्टा करें तो निस्संदेह हमें विजयी जातियों की स्वार्थ-सिद्धि का वर्णन करना ही पड़ेगा जो हमारे विज्ञान की सीमा के बाहर है, इसलिए इसका भार हम पाठकों पर ही छोड़ कर आगे बढ़ते हैं।

एक दूसरा प्रश्न उत्पन्न होता है कि भारत में इस उन्नति का कारण क्या है? उत्तर में कई बातें कही जा सकती हैं। मुख्य बात देश में आने जाने के सम्बन्ध के स्थापित हो जाने की भी है। पहले यह सम्बन्ध देश के भीतर नदियों और सड़कों से स्थापित हुआ। फिर रेलगाड़ी चल जाने से इसकी और भी तरक्की हुई। अन्य देशों से हमारा सम्बन्ध बहुत प्राचीन काल से रहा है। पर अब नई चाल के जहाजों के चलने से वह और भी बढ़ गया है। यातायात (Transport) से किस प्रकार उत्पादन होता है, इसका वर्णन पहले ही हो चुका है। भारतवर्ष के आर्थिक इतिहास का यदि अध्ययन करना हो तो यहां की नदियों, सड़कों, तथा नए और पुराने चाल के जहाजों के क्रम-विकास का अध्ययन करना चाहिए।

इसके सिवा एक कारण और भी है। वह है पूंजीवाद। आजकल प्रत्येक देश इसी चिन्ता में रहता है कि, किस प्रकार उस का दांव लगे, और किस प्रकार वह दूसरे देशों के शिल्पियों और मजदूरों को बेकार कर दे। इन्हें बेकार करने की सबसे सीधी तरकीब यह है कि बड़े बड़े कारखाने स्थापित कर दिये जांय। ठीक

इसी वजह से भारत का ग्राम्यशिल्प मारा गया है—देश में दरिद्र छा रहा है। आश्चर्य की बात है कि यह सब होते हुए भी हमारे देश के धुरन्धर अर्थ-विज्ञानी तक देश की आर्थिक दशा सुधारने के लिए कार्य्यालय बढ़ाने की सलाह बहुत देते हैं ! शायद वह यह नहीं सोचते कि, उनके लिए पूंजी कहां से आयेगी और हमारे ग़रीब किसानों व मज़दूरों पर उसका क्या प्रभाव पड़ेगा ?

दूसरे अध्याय का

परिशिष्ट ।

—:०:—

अब से पहले कहा जा चुका है कि, सम्पत्ति की उत्पत्ति, क्षय और वितरण का ही अर्थ-विज्ञान में विवेचन होता है। इस हिसाब से हम उत्पादन का सरसरी तौर पर वर्णन कर चुके। अब हमें क्षय का वर्णन करना चाहिए। परन्तु इसके प्रथम हम कुछ सूचनात्मक बातें "उत्पादन" के सम्बन्ध में कह देना आवश्यक समझते हैं। संसार के आर्थिक इतिहास का अध्ययन कर विद्वानों ने जो तत्व प्राप्त किये हैं, उनका दिग्दर्शन मात्र कराने की चेष्टा पिछले परिच्छेदों में की गई है। जिस प्रकार समस्त संसार पर आर्थिक उन्नति का प्रभाव पड़ा है, उसी प्रकार, भारतवर्ष पर भी

पड़ेगा। भारत उससे अछूता नहीं बच सकता*। कार्य्यालयावस्था का प्रारम्भ हो चुका है। शिल्पावस्था, ध्वन्सोन्मुख है। परन्तु आर्थिक इतिहास का अध्ययन पराकाष्टा को अभी नहीं पहुंचा है। नये नये तत्व खोजने को अभी बाक़ी हैं। कौन कह सकता है कि कब ऐसा तत्व ज्ञात होगा, जिससे सारा पुराना जगड्वाल ही नष्ट हो जायगा? सब जातियां एक सी नहीं हो सकतीं। सम्भव है कि उत्पादन की कोई और ही "अवस्था" भारत के अनुकूल हो। इस-लिए अभी से यह न समझ लेना चाहिए कि, उन्नति करते करते भारत भी उसी अवस्था को प्राप्त होगा, जिसमें आज योरप है। और इसको भी अटल सत्य न समझना चाहिए कि शिल्पावस्था का नाश निश्चित है। मतलब यह कि, भारत के बिपय में अभी तक इस बात का अन्तिम निर्णय नहीं हो चुका है कि यहां के उद्योग धन्धों का विकास किस प्रकार हो।

साथ ही, यह बात भी नहीं है कि, कार्य्यालयावस्था का होना अनिवार्य्य रूप से आवश्यक है। प्रारम्भ में ही यह बात कही जा चुकी है कि, अर्थ-विज्ञान विधिनिषेध से परे है। यह तो, जो कुछ हो चुका है, जो हो रहा है, और जो सम्भवतः होनेवाला है, उसी का दार्शनिक वर्णन करता है। पर इसके लिखने और पढ़नेवाले

---

*कुछ लोग इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। कि भारत अछूता रह सकता है। इस तरह के विद्वान इसके लिए कुछ उपाय भी बतलाते हैं। यह लोग देश को 'पूंजीवाद' से बचाना चाहते हैं।

सिद्ध योगी नहीं हुआ करते, जो अपनी इच्छाशक्ति—राय—को एकदम दवा दें । उनकी भी कुछ न कुछ राय होती ही है और उसे प्रकट करने की उन्हें स्वाधीनता भी है । फिर प्रश्न होता है कि, अर्थ-विज्ञान के नवीन पाठक अपनी राय बनायें या क्या करें ? वह कार्य्यालयप्रणाली को देश के लिए लाभदायक समझें या क्या ? इसका सीधा उत्तर यह है कि, इस विषय में विद्यार्थी की दशा में अपनी कोई राय न बनाना चाहिए। मध्यस्थ हो दोनों तरफ़ की दलीलों का विचार कर के आत्मा जिस पक्ष के अनुकूल राय दे उसे ही ठीक समझें ।

पहली विचारणीय बात यह है कि, हमारे देश के निवासी बड़े ग़रीब हैं । यहां के लोगों के लिए पौष्टिक भोजनों की, तन ढकने के लिए कपड़ों की, रहने के लिए हवादार स्वास्थ्यकर घरों की, सु-शिक्षा की, और व्यापार के लिए पूँजी की बड़ी आवश्यकता है। यहां के लिए तो वही "उत्पादन की अवस्था" अनुकूल कही जा सकती है जिस से उक्त आवश्यकताओं की तुरन्त पूर्ति हो । यह पूर्ति चाहे कार्य्यालयप्रणाली से हो यां और किसी प्रकार ।

दूसरी ध्यान देने योग्य वात यह है कि, किसी प्रणाली विशेष से सम्पत्ति का वढ़ जाना वहुत सम्भव है; पर इस के मानी यह नहीं होते कि सम्पत्ति बढ़ जाने से ग़रीबों की ग़रीबी मिट जायगी । सम्भव है, अमीरों की सम्पत्ति बढ़ जाय, और ग़रीब उसी दशा में रह जांय । जब आप लोग सम्पत्ति के वितरण का अच्छी तरह से अध्ययन कर लेंगे तब इस बात को अच्छी तरह से समझ सकेंगे

तीसरा अध्याय।

सम्पत्ति का व्यय।

बारहवां परिच्छेद।

आवश्यकतायें।

अर्थ-विज्ञान के सम्बन्ध की आवश्यकतायें और उनका स्वरूप।

अब हमें सम्पत्ति के क्षय का विचार करना है। पाठकों को याद होगा कि (१) सम्पत्ति विनिमयसाध्य वांछित वस्तुओं को कहते हैं, और यह कि, (२) आवश्यकताओं की पूर्त्ति में सम्पत्ति का क्षय होता है, परन्तु, (३) कुछ ऐसी आवश्यकतायें भी होती हैं जिनकी पूर्त्ति सम्पत्ति से नहीं हो सकती। अर्थ-विज्ञान उन्हीं आवश्यकताओं का वर्णन करता है और उन्हीं आवश्यकताओं का अर्थ-विज्ञान के साथ सम्बन्ध है, जिनकी पूर्त्ति करने में सम्पत्ति का क्षय होता है। उन आवश्यकताओं का हमें विचार नहीं करना है जिनकी पूर्त्ति में सम्पत्ति का क्षय नहीं होता। व्यवहारिक कार्य्यों में हमें उन आवश्यकताओं की भी गणना करना पड़ेगी जिनकी पूर्त्ति में सम्पत्ति का क्षय नहीं होता; क्योंकि वह भी मनुष्य-जीवन की ही हैं। पर अर्थ-विज्ञान समस्त मनुष्य-जीवन का विवेचन नहीं करता। यह मनुष्य-जीवन के एक भाग का ही विवेचन करता है। उन आवश्यकताओं के सम्बन्ध में अर्थ-विज्ञान चुप है जिनकी पूर्त्ति करने में सम्पत्ति का क्षय नहीं होता।

मनुष्य-जीवन का वह भाग जिससे अर्थ-विज्ञान का सम्बन्ध है, बहुत ही महत्वपूर्ण तथा विशाल है। यह बात उन आवश्यकताओं का विचार करने से जिनकी पूर्त्ति सम्पत्ति के व्यय से होती है भली प्रकार विदित हो जायगी। भोजन, वस्त्र, गृह, उष्णता, प्रकाश आदि ऐसी चीज़ें हैं, जिनकी सर्वसाधारण मनुष्यों को बड़ी आवश्यकता रहती है। साधारण मनुष्यों की आमदनी का एक बड़ा भाग इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्त्ति में जाता है। बहुत सी ऐसी चीज़ें हैं जो साधारण मनुष्यों के सुभीते की होती हैं। लोग बाग उन्हें दुकानों पर ख़रीद सकते हैं। मनोविनोद की सामग्री, शिक्षा प्राप्त करने के अवसर, चिकित्सा, आदि इसी तरह की चीज़ें हैं। इस प्रकार अर्थ-विज्ञानियों को उन्हीं आवश्यकताओं का विवेचन करना पड़ता है जिनकी पूर्त्ति में मनुष्यों को धन ख़र्च करने की ज़रूरत होती है।

आवश्यकताओं की परिभाषा करना सहज नहीं। इस सम्बन्ध में केवल इतना कहा जा सकता है कि आवश्यकतायें मनुष्य स्वभाव की एक अंग हैं। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति करने के लिए जी तोड़ कर कोशिश करता है। पहिलेपहल जब हम आवश्यकताओं का विचार करते हैं, तब तो यही मालूम होता है कि इनके सम्बन्ध में कुछ ख़ास बातें कही ही नहीं जा सकतीं। पर आगे चल कर (अधिक गहरा विचार करने से) ज्ञात होता है कि, कुछ ख़ास बातें अवश्य कही जा सकती हैं। आवश्यकतायें बहुत ही भिन्न भिन्न प्रकार की होती हैं, इससे उनके सम्बन्ध में

बहुत अधिक विस्तार नहीं किया जा सकता। नीचे इस सम्बन्ध की कुछ ख़ास ख़ास बातों का वर्णन किया जायगा।

पहली बात यह है कि, समस्त आवश्यकतायें एक सी ही तीव्र नहीं होतीं। समय, स्थिति और मनुष्यों के अनुसार आवश्यकतायें कम ज्यादा (तीव्र, अति तीव्र, तथा साधारण) हुआ करती हैं। अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्त्ति कर सकने वाले मनुष्य शायद ही मिल सकें। "कौन सी जरूरत रफ़ा की जाय और कौन सी रहने दी जाय" बस, इसी के विचार में सर्व-साधारण मनुष्यों का जीवन व्यतीत होता है। मतलब यह है कि, लोग बाग यही सोचा करते हैं कि, कौन सी ज़रूरत की चीज़ ख़रीदी जाय और कौन सी न ख़रीदी जाय। फिर वह पहले वही चीज़ें ख़रीदते हैं, जिनकी उन्हें तीव्र आवश्यकता होती है। मनुष्य जब अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति करने का इरादा करता है, तब सबसे पहले उन्हीं आवश्यकताओं की पूर्त्ति करता है जिनकी जरूरत को वह औरों से अधिक समझता है। "तीव्र" शब्द की भी (जब आवश्यकताओं के साथ आता है) परिभाषा नहीं की जा सकती। यह भी मानव-स्वभाव की ही बात है। इसे मनुष्य स्वयं अनुभव करता है।

दूसरी बात यह है कि, अगर मनुष्य के पास काफ़ी धन हो तो प्रत्येक आवश्यकता की अलग अलग पूर्त्ति की जा सकती है। यह भी अनुभव की बात है। खाने, पीने की आवश्यकता से बढ़ कर और कोई आवश्यकता तीव्र नहीं हो सकती। भूख, और

प्यास से अधमरा आदमी अपनी भूख प्यास मिटाने के लिए अपना सब कुछ दे सकता है। पर एक बार भूख प्यास मिटने के बाद, फिर यह आवश्यकता थोड़ी देर के लिए दब जाती है। और देखिये अगर किसी को जूते, किताब और टेनिस के बैट की जरूरत है तो रुपया पास होने से वह अपनी उक्त जरूरतें एक एक करके रफ़ा कर सकता है।

अगर प्रत्येक आवश्यकता की पूर्त्ति पूर्णरूप से हो जाया करती, तो फिर, एक समय ऐसा अवश्य आता, जब मनुष्य की सम्पूर्ण आवश्यकतायें ही पूरी हो जातीं। कोई आवश्यकता पूरी करने को बाक़ी ही न रहती। पर मनुष्य के दुर्भाग्य से ऐसी बात नहीं है। ज्यों ज्यों वर्त्तमान आवश्यकताओं की पूर्त्ति होती जाती है, त्यों त्यों, नई आवश्यकतायें उत्पन्न होती जाती हैं। यह इस सम्बन्ध की तीसरी बात है। यह बात भी मानव स्वभाव पर ही निर्भर है। अर्थ-विज्ञानियों को इसे स्वीकार करना पड़ता है। भूखे की सन्तुष्टि पहलेपहल चने चबाने से ही हो जायगी, पर जब उसे चनों का पक्का सुभीता हो जायगा तब फिर उसे गेहूं की रोटियों की, अरहर की दाल की और आलू के साग की आवश्यकता हो जायगी। जब यह भी मिलने लगेगा, तब वह उसे अच्छे थाल में रख कर खाना चाहेगा; उसे फिर चौकी पाटे की जरूरत हो जायगी, मिट्टी के बर्तन जिन पर वह पहले भोजन करता था, अब उसकी निगाह में जचेंहींगे नहीं। इसी तरह से जिसके पास कोई कपड़ा न हो, सीधा उदयपुर के भीलों के बीच से चला आता

हो, उसे अगर एक गाढ़े का कोट या कुरता मिल जाय तो वह बड़ा सन्तुष्ट होगा, मगर, कुछ ही दिनों में उसे उम्दा कपड़े की सूझेगी। धोती, टोपी, आदि की फ़िक्र में रुपया जोड़ता फिरेगा। जब यह भी हो जायगा तब उसे भिन्न भिन्न मौसमों के लिए भिन्न भिन्न प्रकार के कपड़ों के जोड़ों की ज़रूरत होगी। जाड़े के कपड़ों के लिए वह ऊलन मिल के कपड़ों के नमूने मँगवाता फिरेगा। अगर किसी नये वकील को कचहरी तक जाने के लिए एक इक्के का सुभीता हो जाय, तो फिर क्या कहना है, जो उनके सो राजा के भी नहीं। और अगर वकील साहब की थैली और वज़नी हुई, फिर वह फ़िटन ढूंढ़ते फिरेंगे। आगे चलकर वह शीघ्र ही मोटर के लिए चिन्तित हो जांयगे। इसी तरह के उदाहरण संसार में चारों ओर भरे पड़े हैं। अगर जरा दिमाग़ को ज़ोर देकर दुनियां का हाल देखा जाय, तो ज्ञात हो जायगा कि, लोगों के पास जितना धन है, उससे ज्यादा आवश्यकतायें हैं, और ज्यों ज्यों आवश्यकताओं की पूर्त्ति होती जाती है, त्यों त्यों नई पैदा होती जाती हैं। मतलब यह कि; आवश्यकताओं की पूर्त्ति पूर्ण रूप से कभी नहीं हो पाती।

आवश्यकताओं की निवृत्ति नहीं हो सकती।

यह बात तो सिद्ध है कि सब लोगों की आवश्यकतायें बढ़ती हैं, परन्तु लोगों के रहन सहन के अनुसार इन आवश्यकताओं की वृद्धि में तेजी मंदी का फ़र्क़ पड़ जाता है। मतलब यह कि, किसी देश के किसी स्थान के मनुष्यों में आवश्यकताओं की

वृद्धि बड़ी तेजी से होती है, और कहीं के मनुष्यों में यह वृद्धि बहुत ही मंद गति से होती है। भारतवर्ष के लोगों में ही इसके उदाहरण अच्छी तरह से प्राप्त हो सकते हैं। ऐसे किसी गांव में जो रेल से बहुत दूर होता है, नई आवश्यकतायें बहुत ही मंद गति से उत्पन्न होती हैं। वहां के लोगों को 'सन्तुष्ट' कहा जा सकता है, क्योंकि, उनकी अत्यन्त तीव्र आवश्यकताओं का प्रायः अभाव ही रहता है। मतलब यह कि, स्वयंभुक्तावस्था को प्राप्त ग्रामों में आवश्यकताओं की वृद्धि बहुत ही कम होती है। देहातों में भी जब ज्ञान का प्रचार होता है तब आवश्यकतायें बढ़ती हैं। साफ़ साफ़ शब्दों में इसे इस तरह कह सकते हैं कि, आवश्यकतायें तभी तीव्रता का रूप धारण करती हैं, जब उनकी पूर्त्ति के उपायों का ज्ञान हो जाता है। जैसे जैसे लोगों का ज्ञान बढ़ता जाता है, वैसे वैसे, उनको अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति के साधन मालूम होने लगते हैं, और आवश्यकतायें तीव्र रूप धारण करने लगती हैं। उदाहरण लीजिये। मोटर के आविष्कार के पहले मोटर की आवश्यकता धनी लोगों को भी इतनी नहीं थी। वह अच्छे अच्छे घोड़े और बढ़िया बढ़िया गाड़ियों से ही तृप्त थे। मोटर का मज़ा जानते ही न थे। पर जब मोटरों का आविष्कार हुआ, और वे भारत में आईं, तथा लोगों ने उन्हें देखा, तब उनको उनकी ज़रूरत भी हुई। अब जो मोटर की ज़रूरत हुई उसे गाड़ी घोड़े पूरी न कर सके। बस मोटरों का प्रचार जगह जगह हो गया और अब बहुत से ऐसे लोग मिलेंगे

जो मोटर की आवश्यकता का अनुभव तो करते हैं पर पैसा पास न हाने से लाचार हैं। इस लाचारी से वह दुखी रहते हैं।

उक्त उदाहरण से यह अच्छी तरह स्पष्ट हो जायगा कि, ज्ञान की उन्नति से आवश्यकताओं में किस प्रकार उन्नति होती है। ज्ञान केवल शिक्षा से ही नहीं बढ़ता पर व्यापार के विस्तार से भी बढ़ता है। जितना अधिक ज्ञान बढ़ता है उतनी ही अधिक आवश्यकतायें भी बढ़ती हैं। * इसलिए इसे साफ़ तौर से समझ लेना चाहिये कि देश के व्यापार की उन्नति से आवश्यकताओं की पूर्णरूप से पूर्त्ति न होने की ही अवस्था उत्पन्न हो जायगी; इतना ही नहीं, किन्तु नई नई और भी आवश्यकतायें बढ़ जायँगी। और पूर्त्ति करने के लिए नई आवश्यकतायें मनुष्य की छाती पर सवार हो रहेंगी।

आवश्यकताओं के सम्बन्ध में पाठकों को यह जान लेना चाहिये कि, सर्वसाधारण लोगों में आवश्यकतायें तीव्र और साधारण होती हैं, और प्रत्येक आवश्यकता की एक एक कर के पूर्त्ति की जा सकती है; परन्तु, ज्यों ही पुरानी आवश्यकता की पूर्त्ति की जाती है, त्यों ही और नई नई आवश्यकतायें उत्पन्न हो जाती हैं। पूर्णरूप से सन्तुष्ट मनुष्यों का मिलना—औद्योगिक

* भारतीय ढंग की शिक्षा देने से आवश्यकतायें नहीं बढ़तीं, यह बात संस्कृत पढ़नेवाले और अंग्रेज़ी पढ़नेवाले विद्यार्थियों की ज़रूरतों का मिलान करने से ही प्रकट हो जायगी। इसलिए शिक्षा के मत्थे न मढ़ कर इसे पाश्चात्य शिक्षा के मत्थे मढ़ना अधिक उचित होगा।

उन्नति के विकास काल में—दिन पर दिन कम होता चला जाता है। अस्तु।

कुछ अपवाद।

ऊपर आवश्यकताओं का जो वर्णन किया गया, इसके कुछ अपवाद भी हैं। अर्थ-विज्ञान की दृष्टि में यह अपवाद बड़े महत्व के हैं। आगे के लिए इन अपवादों का वर्णन करना मुल्तवी किया जा सकता था, पर कहीं पाठकों को भ्रम न हो जाय, और आवश्यकताओं के ठीक ठीक स्वरूप के समझने में कमी न रह जाय, इसीलिए, उनका हम यहीं पर वर्णन करेंगे।

सबसे पहले, कुछ ख़ास मामलों में कुछ ख़ास आवश्यकतायें ऐसी होती हैं, जिनकी सन्तुष्टि हो ही नहीं सकती। ज्यों ज्यों मनुष्य उसके लिए चीज़ें जुटाता जाता है, त्यों त्यों वह आवश्यकतायें और भी बढ़ती जाती हैं। लोगों में अपनी शान जमाने की भावना की आवश्यकता इसी श्रेणी की है। कुछ लोगों की सदा यही भावना रहती है कि, लोग उनके मकान, कपड़े, ज़ेवर, और रहनसहन का ढंग देख कर प्रभावित हो जांय। इस तरह के लोग सदा अपने मकान, ज़ेवर और रहनसहन के लिए ख़ूब रुपया खर्च किया करते हैं। पर उनकी सन्तुष्टि कभी नहीं होती। यह एक अपवाद हुआ; क्योंकि, भोजन, पान, आदि के समान "शान जमाने की इच्छा" एक ही आवश्यकता नहीं है; किन्तु कई छोटी छोटी आवश्यकताओं को मिला कर यह एक आवश्यकता बनती है। बस, इसकी एक एक आवश्यकताओं की ज्यों

ज्यों सन्तुष्टि की जाती है, त्यों त्यों नई आवश्यकतायें उत्पन्न होती जाती हैं। जिसे और लोगों पर शान जमाने की इच्छा होती है उसके पास, अगर कोई सवारी न हो, तथा फिर कहीं से उसे सवारी मिल जाय, तो, वह कुछ दिनों के लिए सन्तुष्ट हो जायगा। परन्तु थोड़े ही दिनों में उसे फिर मोटर ख़रीदने का शौक़ होगा। यदि, इसी तरह के आदमी को एक कामदार कोट मिल जाय, तो, थोड़े ही दिन पहिनने के बाद वह फिर उससे भी ज्यादा क़ीमती कोट की फ़िक्र में पड़ जायगा। अपवाद होने के अलावा इस प्रकार के उदाहरण से यह बात अच्छी तरह से सिद्ध हो जाती है कि, पुरानी आवश्यकताओं को सन्तुष्टि होते ही नई आवश्यकतायें किस प्रकार पैदा हो जाती हैं।

दूसरा अपवाद "अधिकार की आवश्यकता" का है। कुछ मनुष्य चाहते हैं कि मेरी शक्ति, मेरे अधिकार, सबसे अधिक हो जांय। वह अपनी इस आवश्यकता की पूर्त्ति में कुछ उठा नहीं रखते। पुराने भारत के इतिहास को देखने से पता चल जायगा कि, कितने मामूली कर्मचारियों ने दिल्ली के सिंहासन पर बैठने के लिए कितने भीषण भीषण काम कर उठाए। यह सब अधिकार की आवश्यकता ही की करामात थी। अब भी सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र की ओर ध्यानपूर्वक देखने से इस आवश्यकता के अनेकों उदाहरण मिलेंगे। यह अपवाद बहुत सत्य है; इसका मतलब यह है कि, मनुष्य की इस आवश्यकता की सन्तुष्टि हो ही नहीं सकती। पर इस प्रकार के

आदमी सर्वसाधारण नहीं होते ; और अर्थ-विज्ञान उन्हीं लोगों की आवश्यकताओं का विचार करता है जो सर्वसाधारणकी हैं । अतः हमने इसका यहां पर प्रसंगवश ही वर्णन किया है ।

इसी तरह का तीसरा अपवाद " कंजूसी " है । मतलब यह कि कुछ लोगों को सबसे ज्यादा यही धुन रहती है कि, वह किस प्रकार ज़ेवर जवाहिरात और सिक्कों के रूप में अधिक से अधिक धन इकट्ठा करलें । इस तरह के आदमी, दूसरों पर अपनी शान जमाने के लिए, या शक्ति प्राप्त करने के लिए अथवा सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए धन नहीं इकट्ठा करते । वह तो केवल इसीलिए धन इकट्ठा करते हैं कि, जिसे देख देख कर, वह खुद खुश होते रहें । उन्हें यह जान कर कि उनके पास इतने अधिक रुपये मौजूद हैं, अपार आनन्द होता है । बस, जितना ही धन उनके पास बढ़ता जाता है, उतनी ही अधिक प्राप्त करने की आवश्यकता भी बढ़ती जाती है । किन्तु, सर्वसाधारण ऐसे कंजूस नहीं होते । इसलिए, हमको इस प्रकार के मनुष्यों की गणना अपवादों में ही करना चाहिये क्योंकि हमारा सम्बन्ध सर्वसाधारण मनुष्यों से है ।

अब हम उन लोगों का विचार करेंगे जिनकी आवश्यकतायें बढ़ती ही नहीं । धार्मिक मनुष्य इसी प्रकार के लोगों में से हैं । पाठकों ने अवश्य सुना होगा कि, बड़े बड़े अमीर आदमियों तक ने अपना सब कुछ छोड़ इस प्रकार का धार्मिकजीवन स्वीकार कर लिया, और अपने भोजनों तक के लिए दूसरों के मुहताज हो गये (भीख मांगने लगे) । हमारे भारतवर्ष में इस प्रकार के

वहुत से उदाहरण पाये जाते हैं पर यहां भी सर्वसाधारण मनुष्य इस प्रकार के नहीं हैं। मतलव यह है कि सव लोग इसी तरह के नहीं होते, इसलिए, इसकी भी अपवादों में गणना है। अव प्रश्न होता है कि, ऐसे लोगों की वह कौन सी धार्मिक आवश्यकता है, जिसके कारण वह सव संसार छोड़ देते हैं? ऐसी आवश्यकता का स्वरूप क्या है? इसका उत्तर यह है कि, चूंकि इस प्रकार की आवश्यकता की पूर्ति सम्पत्ति से नहीं हो सकती, इसलिए, इसका उत्तर देना ही अर्थ-विज्ञान के क्षेत्र के वाहर की वात है। अर्थ-विज्ञानी तो इसे सिर्फ़ "यह अपवाद है" इतना कह कर स्वीकार मात्र कर लेते हैं। वह इस प्रकार के लोगों की वावत कुछ भी नहीं कह सकते, क्योंकि, उनकी दुनिया ही दूसरी है।*

और भी कुछ ऐसी आवश्यकतायें हैं, जिनके कारणों का वर्णन करना अर्थ-विज्ञान का काम नहीं। अर्थ-विज्ञानी इसे स्वीकार करते हैं कि ऐसी आवश्वकतायें जव तीव्र रूप धारण कर लेती हैं, तव, अन्य आर्थिक आवश्यकताओं की तीव्रता उनके

---

* इस प्रकार के धार्मिक जीवन व्यतीत करने की प्रथा हिन्दुओं में अधिक है। यही प्रथा वौद्धों और ईसाइयों में भी रही है। इनका शुद्ध धार्मिक जीवन जो होना चाहिये वह आजकल नहीं। आजकल तो वहुत से गुंडे वदमाश साधुओं का रूप धरे फिरते हैं। इनका शुद्ध धार्मिकजीवन कैसा होना चाहिये, इस प्रश्न का इस पुस्तक में विचार नहीं हो सकता। पर यह प्रश्न है वहुत ही महत्वपूर्ण।

सामने मंद पड़ जाती है। उदाहरण के लिए "आत्म-प्रकाशन" का ही उदाहरण ले लीजिये। आत्म-प्रकाशन की आवश्यकता के कारण मनुष्य पुस्तक लिखने बैठता है, भिन्न भिन्न प्रकार के उत्तम चित्र बनाता है, न केवल बेंचने के लिए, न केवल नाम के लिए, किन्तु महज़ 'आत्म-प्रकाशन' के लिए। मनुष्य कवितायें करता है, परोपकार में जीवन व्यतीत कर देता है और इसके लिए—इस आत्म-प्रकाशन की आवश्यकता की पूर्ति के लिए—सारे सांसारिक वैभवों पर लात मार देता है। इस प्रकार की आवश्यकतायें बड़ी ही महत्वपूर्ण हैं; पर अर्थ-विज्ञान महज़ इसलिए उनका वर्णन नहीं करता कि वह आर्थिक नहीं होतीं। वह अर्थ-विज्ञान के क्षेत्र के बाहर की चीजें हैं।

अर्थ-विज्ञान स्वीकार करता है कि, बहुत सी ऐसी आवश्यकतायें हैं, जो, अर्थ-विज्ञान के क्षेत्र के बाहर हैं, पर हैं बड़ी महत्वपूर्ण—वह मनुष्य-जीवन के उच्चांश की द्योतक हैं। जिनको (मनुष्यों को) उक्त आवश्यकताओं का अनुभव होता है, जो उक्त आवश्यकताओं को महसूस करते हैं, ऐसे लोग, असाधारण मनुष्य होते हैं, उनके व्यवहार सांसारिक साधारण मनुष्यों के व्यवहारों से भिन्न हुआ करते हैं। पर अर्थ-विज्ञान केवल सांसारिक व्यवहारों का ही विवेचन करता है; इसलिए, वह उक्त आवश्यकताओं का विवेचन नहीं कर सकता; पर, इसमें कोई सन्देह नहीं कि, अर्थ-विज्ञान स्वीकार करता है कि, संसार में असाधारण लोग भी मौजूद हैं और उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति का मार्ग

साधारण लोगों से भिन्न है।

आवश्यकताओं की परिभाषा नहीं हो सकती।

इतने अपवादों को पढ़ने और मनन करने के बाद पाठक अवश्य सोचने लगेंगे कि, आवश्यकताओं की अर्थविज्ञान परिभाषा नहीं कर सकता। उनका यह सोचना बहुत ठीक होगा। अर्थ-विज्ञान मनुष्य-जीवन के केवल एक भाग से सम्बन्ध रखता है और यह उसके लिए असम्भव है कि मनुष्यजीवन के उस विभाग को अन्य भागों से काट कर एक स्वतंत्र विभाग ही बना दे। अर्थ-विज्ञान तो केवल साधारण मनुष्यों की साधारण भौतिक आवश्यकताओं और उनकी पूर्ति के भौतिक उपायों का ही मुख्यतः विवेचन करता है। इसी के सम्बन्ध में वह अपने सिद्धान्त बना सकता है। अब मज़ा तो यह है कि "साधारण" शब्द की भी कोई सीमा नियत नहीं। कहां साधारण जीवन का अन्त और असाधारण का प्रारम्भ होता है, इसके सम्बन्ध में भी भिन्न भिन्न सम्मतियां हो सकती हैं। यद्यपि अर्थ-विज्ञान के मुख्य विषय की सीमा स्पष्ट है, तथापि, उस विषय की बिल्कुल ठीक सीमा नहीं बताई जा सकती। इसीलिए, यह कहा गया है कि, अर्थ-विज्ञान के सिद्धान्तों को व्यवहार में आंख मींच कर स्वीकार न कर लेना चाहिये। उन्हें स्वीकार करने के प्रथम उन बातों का भी एक बार अवश्य ख़याल कर लेना चाहिये, जिन्हें अर्थ-विज्ञानी विचार करते समय भुला गये हैं।*

---

* इसका मतलब यह है कि अर्थ-विज्ञानी इस बात को शुद्ध हृदय से

एक बात यह है कि, भिन्न भिन्न समयों में भिन्न भिन्न जन-समुदाय भिन्न भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होते रहते हैं। इसी के कारण साधारण और असाधारण की परिभाषा बनाना कठिन काम है। अवस्थाभेद के कारण जो बात एक देश में साधारण है वही दूसरे देश में असाधारण हो सकती है। इसी वजह से एक समय के लोगों को दूसरे समय के लोगों की लिखी हुई किताबें पढ़ने में कठिनाई होती है।

पाठकों को अब अच्छी तरह से यह अनुभव हो गया होगा कि, अर्थ-विज्ञान की निश्चित सीमा निर्धारित करने में तथा आवश्यकताओं और "साधारण" "असाधारण" आदि शब्दों की ठीक ठीक व्याख्या करने में कितनी कठिनाइयां हैं। बस इस वर्णन का उद्देश्य इसी बात का अनुभव कराना था। हमारा उद्देश्य सिद्ध हो चुका, हम अब अपने विषय पर आते हैं। साधारण जीवन की साधारण आवश्यकताओं का विवेचन करते हैं।

स्वीकार करते हैं कि उनका शास्त्र अधूरा है और उसमें उच्च जीवन की बातें नहीं हैं। इसे न समझ कर कोई कोई अर्थ-विज्ञान के लेखक दान पुन्य करनेवालों और ललित कलाओं में धन ख़र्च करनेवालों को देशद्रोही कहते हैं!

तेरहवां परिच्छेद ।

ज़रूरत और विलास ।

अपनी आय दो चीज़ों में ख़र्च करना पड़ती है । पहले तो ज़रूरत की चीज़ों में और फिर विलास की चीज़ों में । 'ज़रूरत' और 'विलास' के भेद को समझाने की आवश्यकता है । जब हम किसी चीज़ के विषय में कहते हैं कि अमुक वस्तु ज़रूरी है, तब हमारा मतलब यह होता है कि वह वस्तु या तो आस्तित्व बनाये रखने के लिए ज़रूरी है, या फिर योग्यता के लिए ज़रूरी है । इस के अलावा जो और चीज़ें हैं वह सब विलास की हैं ।

आस्तित्व के लिए ज़रूरी चीज़ें वह हैं, जिन से, मनुष्य का जीवन क़ायम रहता है । इस तरह की चीज़ों में भोजन, पान, कुछ प्रकार के कपड़े, बचाव के लिए घर आदि आ जाते हैं । योग्यता की ज़रूरी चीज़ों में और भी बहुत सी चीज़ें हैं । जैसे, आरोग्यता नष्ट होने पर चिकित्सा करवाना, रोज़गार में प्रवीण होने के लिए कुछ व्यय करना, बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध करना आदि । मतलब यह कि सब से पहले पौष्टिक भोजन, फिर उस के बाद सर्दी और धूप से बचने के लिए यथेष्ट वस्त्र और ऋतुओं के आक्रमण से रक्षा करने के लिए स्वास्थ्यप्रद मकान, तदुपरान्त, रोगों की चिकित्सा का प्रबन्ध और बाल बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध आदि ज़रूरी चीज़ों में शामिल हैं ।

भारतवर्ष की इस समय दशा क्या है ? पौष्टिक भोजन—जाने दीजिये पौष्टिक भोजन को—पेट भर भोजन ही बहुत कम लोगों को मिलता है। धूप और शीत से बचने के लिए अधिकांश जनता के पास काफ़ी वस्त्र नहीं हैं। बचाव के मकान जिनके पास अच्छे हैं ऐसे लोग बहुत ही थोड़ी संख्या में पाये जाते हैं। अधिकांश निवासियों के घर बर्सात, गर्मी और सर्दी में धोका देनेवाले हैं। यह तो हुई ज़रूरी आवश्यकताओं की बात। अब योग्यता की आवश्यकताओं का विचार कीजिये। जब आस्तित्व के लिए ज़रूरी चीज़ों का यह हाल है, तब योग्यता के विषय में कुछ न कहना ही ठीक होगा। क्योंकि दुनिया जानती है, अशिक्षा भारत से बढ़ कर किसी सभ्य देश में नहीं है। रोग भारत से बढ़ कर किसी सभ्य देश में नहीं हैं। कहां की शिक्षा और कहां की आरोग्यता, यहां मजदूरों को भर पेट शाम तक भोजन भी नसीब नहीं होता !

आवश्यक रूढ़ियां।

साथ ही एक बात और है। भारतवासी ही क्या समस्त देशों के ग़रीब निवासी, वह ग़रीब निवासी जो अपनी योग्यता के लिए ज़रूरी चीज़ों में काफ़ी धन नहीं ख़र्च कर सकते, अन्य व्यर्थ के कामों में बड़ी बड़ी रक़में ख़र्च कर देते हैं। इस तरह के काम "आवश्यक रूढ़ि" कहलाते हैं। यह न तो आस्तित्व के लिए ही ज़रूरी होते हैं और न योग्यता ही के लिए। परन्तु लोगों में जो पूर्वकाल से प्रथा चली आती है उसी के अनुसार उनका करना

जरूरी हो जाता है । जन-समाज व जाति-बिरादरी के लोग इन्हें करने को मजबूर कर देते हैं। एक मजदूर की कई महीनों की आमदनी, उसके यहां शादी होने पर, किसी की मृत्यु होने पर अथवा बच्चा पैदा होने पर, खर्च हो जाती है । अगर वह खर्च न करे, तो लोग उस की थू थू करें । वह बेचारा उसी लानत मलामत के डर से अपना पेट काट कर भी इस प्रकार के काम करता है । और देखिये, बहुत से लोग ऐसे मिलेंगे जो महज़ अपनी हैसियत, और बाप दादों के नाम, तथा शान के लिए ही लक़दक़ बने फिरते हैं, पर अगर उनकी आन्तरिक अवस्था देखी जाय तो मालूम होगा कि उन को पेट भर खाने का भी ठिकाना नहीं है। उनके बच्चे काफ़ी पौष्टिक आहार तक नहीं पाते। शिक्षा मिलना तो बड़ी दूर की बात है !

मतलब यह निकला कि मामूली आदमी आवश्यक रूढ़ियों के कामों में अपना रुपया ख़र्च कर देते हैं और स्वयं कष्ट भोगते हैं ! अब कल्पना कीजिये कि यदि उन्हें कोई उदार मालिक मिल गया तो वह जरूर इस बात का ख्याल रक्खेगा कि उस के आदमियों को योग्यता की जरूरतों की कमी से कष्ट न उठाना पड़े। मतलब यह कि वह जो कुछ तनख्वाह देगा सो यह सोंच कर देगा कि इन में से प्रत्येक को कितना पौष्टिक भोजन के लिए चाहिए, कितना वस्त्र, गृहस्थी और चिकित्सा तथा आवश्यक रूढ़ियों के लिए चाहिए। यह सब सोंच कर यदि वह वेतन देगा तब तो उस के मजदूर मज़े में रहेंगे । पर कल्पना कीजिये कि उसने सब ख़र्च

को तो शामिल कर लिया पर "आवश्यक रूढ़ि" के ख़र्च को शामिल न किया, तो फिर क्या दशा होगी? दशा यह होगी कि मज़दूर बेचारा अपने भोजन वस्त्रों से बचा बचा कर आवश्यक रूढ़ि के लिए जमा करेगा, या फिर, कहीं से उधार काढ़ कर उस का, रूढ़ि का, काम चलावेगा और फिर तनख़्वाह में से धीरे धीरे अदा करेगा। जो कमी होगी, उसे भोगेगा। रूखा सूखा खायगा। फटे पुराने और मैले कुचैले कपड़े पहनेगा। गंदे मकान में रहेगा। बीमार होने पर काफ़ी चिकित्सा न करा सकेगा। आदि।

इन आवश्यक रूढ़ियों का भी विचार करना अर्थ-विज्ञान का कर्तव्य है। देश की आर्थिक दशा सुधारने के लिए इन रूढ़ियों को भुला देना सहज नहीं। जो लोग समाज-सुधारक हैं, उन के लिए तो इस विषय में कार्य्य करने का बड़ा क्षेत्र है। इस में सन्देह नहीं कि, इस मार्ग में कण्टकों की भी कमी नहीं है। लोग जिसे ठीक माने बैठे हैं, जिस के लिए वह अपने कष्टों की परवाह नहीं करते, उस के विरुद्ध आवाज़ उठाना सहज बात नहीं है। यह काम तभी हो सकता है जब समाज का समाज उसे बुरा समझने लगे, पर ऐसा बहुत धीरे धीरे होगा। इसलिए सफलता भी धीरे धीरे मिलने की आशा है।

केवल आवश्यक रूढ़ि ही नहीं; आदतें, रिवाज, और फ़ैशन सभी का विचार अर्थ-विज्ञानियों को करना पड़ता है। इन सबका सम्पत्ति के व्यय पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। अतः इन्हें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। यह नहीं कहा जा सकता कि इनका कारण

क्या है, केवल यही कह कर चुप होना पड़ता है कि मनुष्य के स्वभाव के ही यह परिणाम हैं। प्रत्येक घटनाओं को जब आप ध्यानपूर्वक देखेंगे, तो ज्ञात होगा कि, मनुष्य जिस काम को एक बार जिस प्रकार से कर लेता है, फिर बार बार उसे उसी तरह से करता है; उसमें परिवर्त्तन नहीं करता। एक बात और है, मनुष्य अपने आस पास के लोगों को जिस प्रकार व्यवहार करते देखता है, उसी प्रकार स्वयं भी करता है। उठने, बैठने, खाने, सोने, आदि में मनुष्य प्रायः अनुकरण ही करता है। अगर मनुष्य अकेला ही रहे तो उसे अनुकरण की जरूरत ही न हो, पर समाज में रहने से अनुकरण करना पड़ता है। हमारी आदतें, हमारे काम करने के ढँग, बचपन से ही बन जाते हैं। हम अपने मां, बाप, भाई बंधु और पड़ोसियों की चालों की नक़ल कर लेते हैं। बड़े होने पर भी यह हमारी "अनुकरण" करने की आदत क़ायम ही रहती है। नया विद्यार्थी पुराने विद्यार्थी का अनुकरण करता है। नया क्लर्क पुराने क्लर्क का अनुकरण करता है। नया दुकानदार पुराने दुकानदार का अनुकरण करता है। मनुष्यजीवन में अनुकरण की इतनी प्रधानता है कि यह कहना कि हमारे जीवन में अधिकांश अनुकरण ही भरा है अनुचित न होगा।

परन्तु इससे यही न समझ लेना चाहिए कि सब जीवन अनुकरणमय ही है। यदि ऐसा होता तो रस्मरिवाजों में तथा आदतों में कदापि परिवर्त्तन न होते। बात यह है कि, परिस्थिति के परिवर्त्तन से इनमें भी परिवर्त्तन हो जाते हैं। नई नई बातों

का ज्ञान होते ही लोग उन्हें करने लगते हैं। धीरे धीरे आगे चल कर वही नई बातें आदतें और रस्में बन जाती हैं। यदि हम किसी जनसमुदाय के जीवन को एक महीने के बाद तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो हमें उसमें बहुत ही कम फ़र्क़ मिलेगा पर दस बारह वर्ष में बहुत फ़र्क़ देख पड़ेगा। यही कारण है कि प्राचीन काल के इतिहास पढ़ने से पता चलता है कि, तब के संसार से अब के संसार में ज़मीन आसमान का फ़र्क़ पड़ गया है। इससे सिद्ध है कि आदतों और रस्मों में परिवर्त्तन तो होता है, पर वह बहुत धीरे धीरे होता है। फिर भी एक बात ध्यान देने की है, और वह यह है, कि कुछ जाति के लोगों के स्वभाव ही ऐसे होते हैं कि वह अपने में झट परिवर्त्तन कर लेते हैं और कुछ जाति के लोग परिवर्त्तन बहुत ही देर में करते हैं। अमेरिका के लोग अपनी आदतों, रस्मों और फ़ैशनों को बहुत ही शीघ्रतापूर्वक बदलते हैं, पर अंग्रेज़ लोग उनके बदलने मे इतनी शीघ्रता नहीं करते। भारतवासी अंग्रेज़ों से भी सुस्त हैं। अब भारतवासियों में भी, कायस्थ और बंगाली राजपूतों की अपेक्षा अपनी रीतिरस्मों और आदतों को शीघ्र बदल देते हैं।

नई नई चीज़ों के देखने सुनने पर ही परिवर्तन की गति निर्भर रहती है। देहातों में जहां के लोग निरक्षर हैं, जो कभी अपने घरों के बाहर (दूर देशों में) नहीं जाते, परिवर्तन बहुत ही मंद गति से होता है। पर शहरों में जहां के लोग शिक्षित होते हैं जहां समाचारपत्रों का प्रचार होता है, जहां तरह तरह की दुकानों

में नई चीजें आती रहती हैं, जहां दूर देश के मनुष्यों का आवागमन बना रहता है, परिवर्तन तीव्र वेग से होता है। आवागमन के सम्बन्ध (रेल जहाज़ तार आदि) के स्थापित होने से जिस प्रकार सम्पत्ति के उत्पादन पर उसका प्रभाव पड़ा है उसी प्रकार रीति रस्मों, आदतों और फ़ैशनों पर भी पड़ा है। इसके कारण परिवर्तनों की गति तीव्र हो गई है। देहात के लोगों पर भी नई सभ्यता का प्रभाव पड़ गया है। शहरों की तो बात ही क्या। परन्तु फिर भी अन्य देशों के देखते भारतवर्ष में परिवर्तन की गति बहुत ही मंद है । परिणाम इसका यह है कि सम्पत्ति के क्षय पर आदतों और रीति रस्मों का असर वैसा ही मौजूद है । समाज में आदतों और रस्मों के ही बदलने में सुस्ती नहीं है, पर योग्यता की ज़रूरी चीजों के सम्बन्ध की आदतें भी लोग बहुत धीरे धीरे बदलते हैं। मतलब यह कि, गांव में मदरसा खुलने पर भी लड़कों को तुरन्त पढ़ने के लिए नहीं भेजते । अस्पताल खुलने पर भी बहुत दिन तक उसमें इलाज कराने से डरते रहते हैं । रुपया पास होने पर भी नये ढंग के स्वास्थ्यप्रद मकान नहीं बनवाते, टूटे फूटे घर में ही सन्तोष करते हैं। *

---

* पाठकों को यह अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए कि जिस प्रकार परिवर्तन देर में होने से बुरी बातें देर में दूर होती हैं ठीक उसी प्रकार अच्छी बातें भी देर में निकलती हैं अतएव इस से सिर्फ नुकसान ही नुकसान नहीं है, फ़ायदा भी है। आगे चलकर ज्ञात होगा कि अपनी पुरानी परिपाटी को न छोड़ने में भी बड़े बड़े लाभ हैं।

विलास की चीज़ों में और ज़रूरत की चीज़ों में क्या अन्तर है !

परिच्छेद के प्रारम्भ में ही हम कह चुके हैं कि ज़रूरी चीज़ों के अलावा अन्य जिन चीज़ों की मनुष्य वांछना करता है वह सब विलास की चीज़ें हैं। विलास की चीज़ों को ही आराम की चीज़ें कहा जाता है। वास्तव में दोनों शब्दों में कोई ख़ास भेद नहीं है। दोनों से ही उन्हीं चीज़ों का बोध होता है जो न आस्तित्व के लिए ही ज़रूरी हैं और न योग्यता ही के लिए। परन्तु जब हम किसी मनुष्य के बारे में कहते हैं कि वह विलास की चीज़ें स्तेमाल करता है तब हमारा अभिप्राय प्रायः यह होता है कि वह अपनी सम्पत्ति को बुद्धिमानी से नहीं ख़र्च करता। पर जब हम यह कहते हैं कि अमुक मनुष्य आराम की चीज़ें स्तेमाल करता है, तब इस में हमारा निन्दात्मक भाव नहीं होता। इसका कारण यह है कि, वही चीज़ कम हैसियत, कम आमदनीवाले के लिए विलास की चीज़ हो सकती है तथा अमीर और हैसियतदार के लिए आराम की। उदाहरण लीजिए। अगर एक ग़रीब किसान बढ़िया रेशम के कपड़े पहने तो हम यही कहेंगे कि वह विलास की चीज़ पहनता है, पर अगर उसी चीज़ को कोई वकील पहने तो हम कहेंगे कि वह आराम की चीज़ पहनता है। इसी तरह से अगर कोई ज़मींदार अपने चढ़ने को गाड़ी रक्खे तो कहा जायगा कि वह आराम के लिए रखता है, पर अगर उसी को कोई कम आम-दनी का मनुष्य रक्खे तो लोग बाग कहेंगे कि वह विलास के लिए रखता है। बस विलास और आराम में व्यवहारिक दृष्टि से यही

अन्तर है। वैसे अर्थ-विज्ञान की दृष्टि में कोई फ़र्क़ नहीं। अर्थ-विज्ञान तो उन समस्त वस्तुओं को विलास तथा आराम की चीज़ें कहता है जिनकी ज़रूरत न अस्तित्व के लिए है और न योग्यता के लिए। एक बात इसके विषय में और जान लेने की है। आजकल के ज़माने में जो चीज़ पहली पीढ़ी में विलास की चीज़ कहलाती है, दूसरी या तीसरी पीढ़ी के लिए वही चीज़ आवश्यक चीज़ों में हो जाती है; क्योंकि, बहुत दिनों के बाद लोग उसके ऐसे आदी हो जाते हैं कि बिना उसके उनका काम ही नहीं चलता। इसका उदाहरण लीजिए, मेरे स्वर्गवासी बाबा साहब चाय पीते थे। उस समय लोगों की नज़र में चाय-पान विलास तथा आराम समझा जाता था। पर आज वही मेरे लिए ज़रूरत की वस्तुओं में से है।

चौदहवां परिच्छेद।

एक व्यक्ति की आवश्यकतायें।
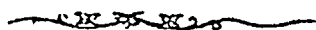
आवश्यकतायें क्या हैं, उनके अपवाद कैसे हैं, तथा वह कितने तरह की हैं, आदि बातों को हम पिछले परिच्छेद में खोल कर कह चुके। अब हम को इस बात का विचार करना चाहिए कि मनुष्य उन आवश्यकताओं की पूर्त्ति किस प्रकार करता है। मामूली आदमी के लिए यह प्रश्न होता है कि, वह अपनी आमदनी को किस तरह ख़र्च करे। यहां पर यह सवाल नहीं है कि उसने किस प्रकार दौलत पैदा की, क्योंकि, यह सवाल उत्पादन से सम्बन्ध रखता है। इस जगह तो हम यह मान कर आगे चलते हैं कि प्रत्येक मनुष्य के पास आमदनी मौजूद है। इससे भी कोई बहस नहीं कि वह आमदनी सिक्के के रूप में है या नाज आदि पदार्थों के रूप में। वह चाहे जिसके रूप में हो। साधारण आदमियों की आमदनी इतनी होती है कि, वह अपनी कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है (समस्त आवश्यकताओं की नहीं)। अब सवाल यह है कि किस तरह वह उतनी ही रक़म से सबसे अधिक मात्रा में सन्तुष्टि प्राप्त कर सकता है या सब से अधिक मात्रा में उसका मज़ा ले सकता है।

दो नए शब्द।

इस स्थान से हम दो ऐसे शब्दों का व्यवहार करेंगे जिन के

अर्थों को समझ लेना चाहिए। पहला शब्द है "जिनिस"। जिनिस से मतलब सिर्फ़ उस भौतिक पदार्थ से है, जिससे किसी आवश्यकता की पूर्त्ति हो सकती है। और कोई अर्थ इस शब्द के न लगाना चाहिए। अब तक हमने इस शब्द के स्थान में "चीज़" या "पदार्थ" शब्द का प्रयोग किया है, पर यह शब्द उतने स्पष्ट भाव के द्योतक नहीं हैं। इसलिए, अब "जिनिस" शब्द का प्रयोग करने की आवश्यकता है। आगे यह शब्द उसी अर्थ में आवेगा जिसका हमने ऊपर वर्णन कर दिया है। दूसरा शब्द है "उपयोगिता"। आवश्यकता की पूर्त्ति करते समय जो आनन्द या सन्तोष होता है, उसी को हम उपयोगिता कहेंगे। इस शब्द के भी और कोई अर्थ न समझना चाहिए। वस्तु का क्षय किस प्रकार होता है इसका वर्णन हम कर चुके हैं। वहां हम दिखला चुके हैं कि वस्तु का क्षय तो हो ही नहीं सकता, पर, उस की उपयोगिता का होता है। "उपयोगिता" शब्द से हमारा मतलब किसी चीज की प्रशंसा या निन्दा करने का कदापि नहीं। साधारण भाषा में जब हम किसी चीज के सम्बन्ध में "फ़ायदे की" या "उपयोगी" कहते हैं, तब परोक्ष रूप से उसकी प्रशंसा ही करते हैं। पर अर्थ-विज्ञान में जब "उपयोगिता" शब्द का व्यवहार हो तो उसका यह अर्थ न समझना चाहिए। इसका वही अर्थ करना चाहिए जिसका हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं।

आय का व्यय कैसे होता है।

तो फिर प्रश्न होता है कि, मनुष्य अपनी आय को क्यों ख़र्च

करता है ? उत्तर स्पष्ट है, और वह यह है कि, वह अपने आमदनी को अधिक से अधिक उपयोगिता प्राप्त करने के लिए खर्च करता है । मनुष्य पहले अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति का तख़मीना लगाते हुए यह सोचता है कि, उसकी कौन कौन सी आवश्यकतायें अधिक तीव्र हैं । फिर जिसे वह ज्यादा तीव्र समझता है उसी की पूर्त्ति सब से पहले करता है । किसी को कोई आवश्यकता अधिक तीव्र मालूम होती है और किसी को कोई । यह रुचि पर निर्भर है । मजदूर को लीजिए, वह आठ आने रोज पाता है । तख़मीने का काम उसके लिए सहज काम है क्योंकि, उसके पैसों का बहुत बड़ा भाग तो जीवनयात्रा के ख़र्चों में ही चला जाता है । अन्त में उसके पास मुश्किल से चंद पैसे बचते हैं जिनकी बाबत उसे सोचना पड़ता है कि, किस प्रकार से इनको ख़र्च करने में सबसे अधिक उपयोगिता प्राप्त हो सकेगी । बीस पच्चीस रुपये महीने की तनख्वाह पानेवाले की आमदनी भी, बहुत कुछ रोज़मर्रा के कार्यों में ही खर्च हो जाती है । किराया भोजन और अन्य ज़रूरी आवश्यकताओं के पूरा करने के बाद उसके पास मुश्किल से कुछ रुपये बचते होंगे । उन्हीं में वह चाहे जो खेल खेल सकता है । या तो उसे भविष्य के लिए बचा ले, या, कुछ विलास की जिनिस ले ले । बड़ी आमदनीवालों की भी रक़मों का बड़ा भाग इसी प्रकार की ज़रूरी आवश्यकताओं में ही ख़र्च हो जाता है और उनके पास भी अन्त में थोड़ी सी ही रक़म इस प्रकार सोच विचार कर ख़र्च करने को बचती है ।

आमदनी चाहें आनों ही की हो, चाहें रुपयों की, परन्तु जरूरी आवश्यकताओं को पूरा कर सभी कुछ न कुछ बचा कर अन्य किसी काम के लिए रखते ही हैं। इस प्रकार की बचत की बाबत प्रत्येक मनुष्य यह सोचता है कि इसे मैं किस तरह ख़र्च करूं ? मज़दूर अपनी मज़दूरी के बचे हुए पैसों के विषय में सोचता है कि, इनका क्या मैं थोड़ा सा और नाज ख़रीद लूं, या पीने की तम्बाकू ले आऊं ? दफ़्तर के बाबू साहब भी कुछ बचे हुए रुपयों की बाबत सोचते हैं कि इन रुपयों से क्या कुछ थोड़ा सा और घी ख़रीद लें, या कपड़े बनवा लें, अथवा एक जोड़ा धोती का ले आवें या बड़े दिन के लिए रख छोड़ें। वकील साहब सोचते हैं कि नई घोड़ों की जोड़ी ख़रीदें अथवा मोटर ही जी कड़ा कर मंगवा लें। मतलब यह कि सोचने की बातों में चाहें भेद हो, पर सोचने का ढंग सब का एक है। लोग इसीलिए सोच कर उसे ख़र्च करते हैं कि जिसमें उनको उस रुपये से जहां तक हो सके ज्यादा से ज्यादा मज़ा मिले।

अब एक उदाहरण लीजिए। कल्पना कीजिए कि, एक आदमी अपने ख़र्च की बाबत सोच रहा है, और उसके सामने सवाल यह है कि वह घर के लिए कितना घी लावे। अब पहली बात यह मालूम होना चाहिए कि घी है कितने सेर। अच्छा मान लीजिए कि रुपये सेर है। घर के आदमी तो महीने में १० सेर घी चाहते हैं, मगर वह दस रुपये सिर्फ़ घी में ही नहीं ख़र्च करना चाहता; क्योंकि उसे और भी ज़रूरी काम चलाने हैं। इन बातों

को सोच कर उसने ४ सेर घी ख़रीदने की ठानी। उसने सोचा कि घर वाले अगर ख़ुश न होंगे, तो उनका काम भी न रुका रहेगा। कुछ न कुछ घी तो घर में आवेगा ही। अब क्या वह घी में एक रुपया और ख़र्च कर सकता है ? उत्तर यह है कि अगर इस पांचवें सेर घी की उपयोगिता उन ज़रूरी चीज़ों से ज़्यादा हो जिसे वह एक रुपये में ला सकता है, तो अवश्य वह एक रुपया और ख़र्च कर देगा। यदि उसके घर में कई आदमी हुए, तो सम्भव है कि कुछ की राय इस मामले में दूसरी हो। सम्भव है कि कुछ लोग पांचवें सेर घी को ख़रीदने की राय दें, और कुछ लोग शायद यह कहने लगें कि, और ज़रूरी काम भी निपटाने हैं, इसलिए, इतना ही घी काफ़ी है। अब कल्पना कीजिए कि सर्व सम्मति से पांच सेर घी मंगाने की ही ठहरी और पांच सेर ५) रुपए का आगया। तो कहा जायगा कि उस कुटुम्ब में एक महीने के अंदर पांच सेर घी ख़र्च हो जाता है। बस इसी तरह से अन्य चीज़ों के व्यय का भी निश्चय कर लिया जायगा।

मांग का ख़र्रा।

सर्वसाधारण प्रायः जिनिस के भाव का बहुत कम विचार करते हैं। पर भाव में जब कोई बड़ा परिवर्तन होता है तब उन्हें उसका विचार करना पड़ता है। सम्भव है कि अगर घी बहुत महँगा हो जाय तो लोग उसका व्यवहार करना ही बंद कर दें। फिर तो घी दवा दारू में या होली दिवाली पर ही खाया जाय। साथ ही यह भी सम्भव है कि वह इतना अधिक सस्ता हो जाय कि लोग

उसे आसानी से विना किसी दिक़्क़त के जी भर कर व्यवहार करने लगें। अगर इन दो हद दर्जे की हालतों के अलावा घी मामूली दामों पर रहे, तो फिर उसके ख़रीदने में उसी प्रकार सोच विचार करना पड़ेगा जैसा कि ऊपर उदाहरण में दिखलाया गया है। अगर बुद्धिमानी से काम लिया जाय, तो एक ख़र्रा बनाया जा सकता है। ख़रीदनेवाला उसे देख कर घी सुगमता से ख़रीद सकता है। इस प्रकार के ख़र्रे कैसे हो सकते हैं, सो नीचे देखिये :—

जब	ʃ१	घी	का	दाम	६)	—	—	हो	तो	न	ख़रीदा जाय
"	"	"	"	"	"	४)	"	"	"	"	१ सेर ख़रीदा जाय
"	"	"	"	"	"	२)	"	"	"	"	३ सेर " "
"	"	"	"	"	"	१॥)	"	"	"	"	४ सेर " "
"	"	"	"	"	"	१)	"	"	"	"	५ सेर " "
"	"	"	"	"	"	॥।)	"	"	"	"	६ सेर " "
"	"	"	"	"	"	॥)	"	"	"	"	८ सेर " "
"	"	"	"	"	"	।)	"	"	"	"	१० सेर " "

(यह ख़र्रा उक्त उदाहरण को दृष्टि में रख कर बनाया गया है)

उक्त ख़र्रे के अंक काल्पनिक हैं और यह दिखलाने के लिए उनकी कल्पना की गई है कि, भाव के अनुसार माल की ख़रीद में किस प्रकार परिवर्तन हो सकता है। अगर किसी जिनिस का भाव ख़रीदार की आमदनी को देखते हुए ज्यादा बढ़ जायगा तो ख़रीदार उसको ख़रीदना ही छोड़ देगा अथवा, कभी कभी ख़रीदेगा। पर अगर दाम कम हो जायँगे तो फिर ख़रीदार उसे जी भर कर

ख़रीदेगा। पर उतना ही ख़रीदेगा जितने की उसे जरूरत होगी। दाम गिरने पर भी जरूरत से ज्यादा शायद ही कोई ख़रीदार ख़रीदे।

इस प्रकार के ख़र्रे—मांग के ख़र्रे (demand schedules) कहे जा सकते हैं। इससे यह ज्ञात हो सकता है कि, ख़रीदार किस भाव में कितनी चीज़ ख़रीद सकता है। इस तरह के ख़र्रे बिलकुल सही नहीं बनाये जा सकते। यह नहीं कहा जासकता कि कौन किस चीज़ का कितना आदी है और कहां तक मंहगी होने पर उसे ख़रीदने को तय्यार रह सकेगा। यदि आप अपने व्यवहार की जिनिसों के या कुटुम्ब के व्यवहार की जिनिसों के इसी तरह ख़र्रे बनाकर उनका व्यवहार करें, तो उक्त तमाम बातें समझ में आ जांयगी। इस प्रकार के ख़र्रे बनाने की तरकीब यह है कि, उन्हें मौजूदा भाव से बनाना चाहिये और वहां तक उनके भाव को बढ़ा कर लिख देना चाहिये जहां के आगे ख़रीदने में आपकी सामर्थ्य न हो। साथ ही वहां तक कम भी कर के लिख देना चाहिये जहां तक आप अपनी पूरी ज़रूरत रफ़ा करने के लिए काफ़ी समझें। इसमें भी दो बातें मान कर ख़र्रे बनाना पड़ते हैं, एक तो यह बात मान लेनी पड़ती है कि आमदनी जैसी की तैसी है। उससे कमती बढ़ती नहीं। दूसरी यह कि अन्य जिनिसोंके भाव में परिवर्त्तन नहीं हुआ। कारण यह है कि अन्य जिनिसों के भावों में फ़र्क़ पड़ने से व आमदनी में कमी बेशी होने से ख़र्रे में भी फ़र्क़ पड़ जाता है।

आमदनी में परिवर्त्तन।

ऊपर हमने इस बात को मान कर विचार किया कि, ख़र्च करनेवाले को एक समय में एक ही जिनिस का विचार करना पड़ता है। साथ ही हमने यह भी मान लिया था कि, ख़र्च करनेवाले की आमदनी में भी फ़र्क़ नहीं पड़ता। अर्थात् उसकी आमदनी भी कम ज्यादा नहीं होती। पर ऐसा होता बहुत कम है। प्रथम तो जिनिसों के भाव बदला करते हैं, इसलिए ख़र्च करने वालों को तमाम जरूरी जिनिसों को मय उनके भावों के ध्यान में रखना पड़ता है। कभी कोई चीज़ कुछ सस्ती और कभी कोई महँगी हो जाती है। ऐसी दशा में, ख़रीदनेवाले सस्ती चीज़ कुछ अधिक और महँगी कुछ कम ख़रीदा करते हैं। मगर उनका लक्ष्य यही रहता है कि, किस प्रकार अधिक से अधिक उपयोगिता प्राप्त हो सके। अर्थ-विज्ञान यह नहीं कहता कि सभी को अपना लक्ष्य मिल जाता है; नहीं, लोग चूकते हैं, ग़लती करते हैं, इसीको दौलत खोना कहा जाता है। पर मनुष्य अपने विचारों के अनुसार उक्त लक्ष्य सदा रखता है। कोई शराब में ही अधिक उपयोगिता देखता है; कोई किसी में। हमें इस स्थान पर केवल नियमों का विचार करना है। हम इस जगह किसी को यह सलाह देने नहीं बैठे कि अमुक वस्तु में ख़र्च करना दौलत खोना है। अस्तु। आगे चलिए।

उक्त परिवर्त्तन की मांग के खर्रे पर पड़नेवाला प्रभाव।

जब किसी मनुष्य की आय में परिवर्तन हो जाता है तब

उसके सामने की समस्या बड़ी गूढ़ हो जाती है। आमदनी के बढ़ने से पुराने रहन सहन भी बदल जाते हैं। रहन सहन की भी आदत होती है। आदत बदलना सहज नहीं बड़ा कठिन होता है। अगर किसी आदमी की आमदनी घट कर आधी रह जाय तो सोचिए कि उसे किन दिक़्तों का सामना करना पड़े। उसका सारा जीवन ही बदल जाय। उसे बड़ा मकान छोड़ कर छोटे और सस्ते मकान में रहना पड़े, अपने नौकरों को कम करना पड़े, सस्ते भोजन और मोटे झोटे कपड़ों से ही सन्तोष करना पड़े। जिन सड़कों पर पहले वह फ़िटन पर निकला करता था उन पर उसे पैदल चलना पड़े। इसी तरह की तमाम और अन्य बातों में भी घोर परिवर्त्तन करना पड़े। अब इस बात का विचार कीजिए कि इस प्रकार की आमदनी कम हो जाने पर मांग के ख़र्रे पर क्या असर पड़ता है। घी की मांग के ख़र्रे का जो अभी उदाहरण सहित वर्णन हुआ है उसी को ही लीजिए। अगर उसकी आमदनी घट जाय तो उसे घी भी कम ख़रीदना पड़ेगा। अगर, मान लीजिए कि, उसकी आमदनी घट कर आधी रह गई, तो उसे घी भी पांच सेर का दो सेर कर देना पड़ेगा। उसकी घी की मांग में कमी नहीं हुई, पर आमदनी के घट जाने से घी के ख़र्च को भी कम करने की ज़रूरत हो गई। साथ ही यह बात भी है कि, घी महंगा होने पर उसे अब जल्दी घी का ख़र्च कम करना पड़ेगा। अगर उसकी आमदनी बढ़ी हुई होती, तो वह घी ज्यादा महँगा होने पर जितना ख़रीद सकता, आमदनी कम हो जाने से, अब

उतना महंगा होने पर न ख़रीद सकेगा। दूसरी बात यह कि, घी कम ख़रीदने से उसकी सन्तुष्टि भी पूर्णरूप से न हो सकेगी। तो फिर सिद्ध यह हुआ कि, उसकी मांग का ख़र्रा तो वैसे का वैसा ही रहेगा पर ख़रीदार की ख़रीदने की शक्ति कम हो जायगी। वह किस प्रकार कम हो जायगी सो इस तुलनात्मक ख़र्रें से समझ लीजिए —

दाम	पहिले की मांग	मौजूदा मांग
६) रुपये सेर	०	०
४) ,, ,,	﹅१	०
२) ,, ,,	﹅३	﹅१
१।) ,, ,,	﹅४	﹅१।।
१) ,, ,,	﹅५	﹅२
।।।) ,, ,,	﹅६	﹅२।।
।।) ,, ,,	﹅८	﹅३।।
।) ,, ,,	﹅१०	﹅६
=) ,, ,,	﹅१०	﹅१०

इसी तरह का परिवर्त्तन अन्य जिनिसों के मांग के ख़र्रे पर भी पड़ेगा। परिस्थिति के अनुसार इन्हीं नियमों के अनुसार अन्य सब का भी आप विचार कर के देख सकते हैं। अब अगर उस शख़्स की आमदनी बढ़ने की आप लोग कल्पना करें, तो उसका परिणाम ख़र्रे पर ठीक इसके विपरीत होगा। अब वह ज्यादा मँहगाई तक घी ख़रीद सकेगा और मौजूदा तथा चलतू-भाव में (एक रुपये का

एक सेर) आवश्यकता भर घी ख़रीद सकेगा। मतलब यह कि जिस प्रकार मांग का चिट्ठा आमदनी कम होने पर घटा, उसी तरह आमदनी बढ़ने पर बढ़ जायगा।

जब एकाएक आमदनी में कोई बड़ा परिवर्त्तन हो जाता है तब मनुष्य को अपनी रहन सहन में भी परिवर्त्तन करना पड़ता है। उसे नये प्रकार से ख़र्च करना पड़ता है और उसी के अनुकूल नये सिरे से अपनी आदतें बनाना पड़ती हैं। ऐसा करने में वह अपनी सी हैसियत के लोगों की कुछ बातों का अनुकरण करने लगता है। इस प्रकार धीरे धीरे वह अपनी पुरानी आदतों को छोड़ कर नई आदतें स्वीकार कर लेता है। धीरे धीरे उसके ख़र्च का सिलसिला जम जाता है। उसकी मांगों के ख़र्रे या तो बढ़ जाते हैं या फिर घट जाते हैं। इसके सिवा और कुछ नहीं होता। जिन लोगों की तरक्क़ी धीरे धीरे होती है, जैसे वकील, सरकारी नौकर, डाक्टर आदि, उनकी मांगों के ख़र्रे की भी उसी प्रकार धीरे धीरे तरक्क़ी होती है। इस प्रकार के लोगों के जीवन एकदम से—एकाएक नहीं बदलते पर धीरे धीरे बदलते हैं।

अब यह बात स्पष्ट रूप से ज्ञात हो गई होगी कि, आमदनी के अनुसार मांग-के-ख़र्रे के अंकों में कितना फ़र्क़ पड़ जाता है, पर, ख़र्रे का ख़ाका किस तरह वैसे का वैसा ही बना रह सकता है। हर एक जिनिस की क़ीमत की ऊंची से ऊँची और नीची से नीची सीमा मानी जाती है; इसी के भीतर जब क़ीमत बढ़ जाती है, तब, मांग कम हो जाती है और जब क़ीमत घट जाती

है, तब, मांग बढ़ जाती है।

"मांग" और "आवश्यकता"।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे पाठकगण आवश्यकता (Want) और मांग (Demand) के अन्तर को भी समझ गये होंगे। आवश्यकता से और क़ीमत से कोई सम्बन्ध नहीं। मांग आवश्यकता से भिन्न वस्तु है और इसका क़ीमत से बड़ा सम्बन्ध है। मामूली क़ुली को भी घी की आवश्यकता होती है, पर वह उसे तभी ख़रीद सकता है जब खूब सस्ता मिले। बिना घी के सस्ता हुए, कुली को जो घी की आवश्यकता है, उसका प्रभाव घी के बाजार पर नहीं पड़ सकता। अगर घी सस्ता हो जाय, और कुली भी उसे ख़रीद सकें, तब अवश्य उसकी मांग का प्रभाव घी के बाज़ार पर पड़ सकता है। दूसरी तरफ़ भी देखिये, अगर घी का भाव बढ़ जाय, तो बहुत से कम आमदनीवाले लोग उसका व्यवहार करना ही छोड़ देंगे। अगर घी सोने के बराबर तौल तौल कर बिकने लगे, तो शायद ठाकुर जी के भोग में ही उसका उपयोग हो सके। सर्वसाधारण की घी की मांग तो उसकी क़ीमत पर ही निर्भर रहेगी। इस प्रकार से मांग और आवश्यकता का भेद स्पष्ट ही है।

पंद्रहवां परिच्छेद ।

समुदाय की मांग ।

व्यक्ति की मांगों का समुदाय की मांगों से सम्बन्ध ।

अब तक तो हमने व्यक्ति विशेष की मांगों का ही वर्णन किया। पर साथ ही समुदायों की मांग का वर्णन करना भी ज़रूरी है। पहले व्यक्ति विशेष के स्वभावों से तथा उनकी मांगों के स्वरूप से अच्छी तरह से परिचित हो जाना चाहिए। क्योंकि, बहुत से व्यक्ति विशेषों के इकट्ठे होने से ही समुदाय होता है। व्यक्ति विशेष के साथ अर्थ-विज्ञान का उतना सम्बन्ध नहीं है जितना समुदाय के साथ है।

अगर समुदाय के प्रत्येक व्यक्ति की एक ही आमदनी होती, और वह सब एकही ढंग से अपना योग-क्षेम करते होते, तो फिर एक व्यक्ति की मांगों का ख़र्रा बना कर और उसे उस समुदाय की जनसंख्या के अंकों से गुणा कर के, सारे समुदाय के मांग के ख़र्रे, आसानी से बना लिए जाते। उदाहरण लीजिए। जब रुपये का सेर भर घी बिकता है, तब अगर एक विद्यार्थी को महीने में दो सेर घी की जरूरत है, और कालेज में एक हज़ार विद्यार्थी हैं, तथा सब घी को बराबर ख़र्च करते हैं; तो उनके लिए २००० सेर घी चाहिए। अगर, कोई विद्यार्थी कम घी ख़र्च करेगा

तो कोई ज्यादा भी कर देगा। अन्त में लेखा जोखा बराबर रह कर वही दो हज़ार सेर का औसत आ जायगा। जिन समुदायों में प्रायः एक सी आमदनी के, समान जीवन व्यतीत करनेवाले लोग रहते हैं, उन समुदायों की मांगों का तख़मीना इस प्रकार के मांग के ख़र्रों के अनुसार बहुत कुछ किया जा सकता है।

मांग का नियम।

पर जिस समुदाय में एक सी आमदनी के एक से जीवन व्यतीत करनेवाले लोग नहीं हैं, वहां के ख़र्रे के तैय्यार करने में कुछ और भी बातों की जरूरत है। पहले तो भिन्न भिन्न प्रकार की श्रेणी के लोगों की मांग के ख़र्रे बना लेना चाहिए और फिर उनको एक में मिला देना चाहिए। उदाहरण के रूप में एक शहर का ही उदाहरण ले लीजिए। पहले हमें ६) से ८) माहवार की आमदनीवालों के ख़र्रे तैयार कर लेना चाहिए, फिर १०) से १२) के, इसके बाद २०) से ३०) और इसी तरह से क्रम क्रम से बढ़ कर ज्यादा आमदनीवालों के भी ख़र्रे बना डालना चाहिए। अब इतना कर चुकने के बाद, अगर हमें प्रत्येक प्रकार की आमदनी के मनुष्यों की संख्या भी मालूम हो जाय, तो फिर सारे शहर की मांग के ख़र्रे को बनाने में बड़ी सुगमता हो। इस प्रकार के ख़र्रे बनाने में "आंकड़ों" के ज्ञान की तथा तजुर्बे की बड़ी ज़रूरत है। आप लोग जब आगे चल कर आंकड़ों का अध्ययन करेंगे तब इसका अच्छी तरह से अनुभव हो जायगा। मगर मार्के की बात तो यह है कि, इस प्रकार के मांग के ख़र्रे चाहें जितने

बड़े हों पर ढंग उनका वही होता है—ख़ाका उनका वही होता है जैसा पहले परिच्छेद में व्यक्तिविशेष के एक घी की मांग के बारे में दिखलाया जा चुका है। प्रत्येक जिनिस के भाव की एक हद ऐसी ज़रूर होगी जिससे ज्यादा दाम बढ़ने पर शहर में उसे कोई न ख़रीदेगा। शहर में अमीर लोग भी रहते हैं, इसलिए, यह हद भी बड़ी होगी। पर होगी ज़रूर। साथ ही प्रत्येक जिनिस की एक ऐसी भी हद होगी कि, उस हद तक जब वह जिनिस सस्ता हो जायगी, तब फिर ग़रीब से ग़रीब लोग भी उसे अपनी आवश्यकता भर ख़रीद सकेंगे। इन दोनों हदों के बीच में, जब भाव बढ़ेगा, तब मांग घटेगी और जब भाव घटेगा तब मांग बढ़ेगी।

बस, यही मांग का मुख्य नियम है। यह प्रायः प्रत्येक जिनिस और प्रत्येक जनसमुदाय पर घटित होता है। जिनिस मँहगी होने से मांग कम होती है, और सस्ती होने से मांग बढ़ जाती है। इसी नियम के सम्बन्ध में कभी कभी अर्थ-विज्ञानी कहते हैं कि, मांग और क़ीमत में आनुपातिक (proportionate) सम्बन्ध है। मतलब यह कि, अगर दाम दूने हो जायँगे तो मांग आधी रह जायगी। और इसी क्रम से मांग और क़ीमत में चढ़ा ऊपरी रहा करेगी। पर यह बात निश्चयपूर्वक हम अभी नहीं कह सकते। प्रत्येक जनसमुदाय की सम्पत्ति के व्यय की बातों का ज्ञान हमें जब तक न हो जाय—जब तक हमें प्रत्येक जिनिस की बाबत पूर्ण रूप से अनुभव न हो जाय, हम जगह जगह के आंकड़ों का अध्ययन न करलें, तब तक, हम इस तरह के किसी नियम की रचना

नहीं कर सकते । भारतवर्ष में अर्थ-विज्ञान के ज्ञाताओं को इस ओर अधिक ध्यान देना चाहिए, इससे बड़े बड़े महत्वपूर्ण परिणाम निकलने की आशा है। इस तरफ़ ढूँढ तलाश करने के लिए यहां साधन भी काफ़ी हैं। प्रत्येक शहर की चुंगी के काग़ज़ों के अध्ययन से इस काम में अच्छी सहायता मिल सकती है। इस विषय की अधिक छानबीन होने से और भी छोटे छोटे उपनियम बनाये जा सकते हैं। पर वह जिनिस-विशेष और समुदाय-विशेष के ऊपर ही लागू होंगे। ऊपर जिस मांग के मुख्य नियम का वर्णन किया गया है, वह व्यापक है। उस मुख्य नियम से यही ज्ञात होता है कि, दाम गिरने से मांग बढ़ेगी, और दाम बढ़ने से मांग घटेगी। पर कितना दाम बढ़ने घटने से कितनी मांग घटे बढ़ेगी इस प्रश्न का उत्तर प्रत्येक जनसमुदाय की आवश्यकताओं की जिनिसों का अलग अलग विचार करने से ही मिल सकता है।

उक्त नियम के अपवाद।

जिस प्रकार अन्य नियमों के अपवाद होते हैं उसी प्रकार मांग के नियम के भी हैं। पर उनकी संख्या अल्प है और वह व्यावहारिक दृष्टि से बहुत ही कम महत्व के हैं। कुछ जिनिसें इस प्रकार की हैं, जिनमें एक दृष्टि से कुछ उपयोगिता नहीं होती, पर चूंकि वह कम प्राप्त होती हैं, इसीलिए, लोग बाग उन्हें उपयोगी मानते हैं। इस प्रकार की जिनिसें उक्त नियम की अपवाद हैं। लोग हीरे के टुकड़ों को बहुत दाम खर्च कर ख़रीदते हैं; क्यों? इसीलिए न, कि हीरे मिलने बहुत कम हैं? अच्छा तो, अगर हीरे की कोई ऐसी बड़ी

खान निकल आवे, जिससे हीरा कांच के भाव में बिकने लगे, तो फिर, उसे कौन ख़रीदेगा? ऐसी दशा में स्पष्ट है कि, दाम गिरने पर भी मांग नहीं बढ़ी। यह उक्त नियम का एक अपवाद हुआ। हां यह सम्भव है कि अगर टके सेर हीरे बिकने लगें, तो उनकी कोई और ही उपयोगिता निकल आवे, और उनकी मांग बढ़ जाय। ऐसी दशा में, यह दूसरी बात हो जायगी। हीरे की गणना फिर उन चीज़ों में न रह जायगी जिनकी क़ीमत सिर्फ़ उनकी संख्या की कमी के कारण ही रहती है। अब दूसरे अपवाद पर भी ध्यान दीजिए। यह भी कभी कभी सम्भव हो जाता है कि, क़ीमत बढ़ने पर मांग भी बढ़ने लगती है। अकाल के समय ऐसा ही होता है। नाज के दाम भी बढ़ते हैं और मांग भी। यह दूसरा अपवाद हुआ। यदि पाठक अन्य अपवादों को ढूंढ़ने की कोशिश करेंगे, तो सम्भव है कि, उन्हें और भी कुछ अपवाद मिल जांय पर वह बहुत नहीं होंगे और मांग के मुख्य नियम पर उनके कारण कोई गहरा धक्का नहीं लगेगा। क्योंकि, व्यावहारिक जीवन में मांग का मुख्य नियम व्यापक है।

दूसरे अपवाद के सम्बन्ध में, विषय को और भी साफ़ करने के लिए कुछ कह देना आवश्यक प्रतीत होता है। यह बात नहीं है कि एक ही जिनिस से एक ही तरह की आवश्यकता की पूर्ति हो सकती हो अथवा एक ही आवश्यकता की पूर्ति एक ही जिनिस से हो सकती हो। किसी ख़ास आवश्यकता की पूर्ति के लिए किसी अन्य जिनिस से काम लिया जा सकता है। गेंहू की रोटी और

अरहर की दाल तो लोग खाते ही हैं, पर जौ की रोटी और चने की दाल से भी क्षुधा की निवृत्ति की जा सकती है। ऐसी दशा में किसी एक ही जिनिस का, दूसरी वैसी ही उपयोगिता की जिनिस रहते हुए भी, ज्यादा चलन होने के दो कारण हुआ करते हैं; एक तो क़ीमत और दूसरा रिवाज या आदत। घी मँहगा होने पर उसका काम भिन्न भिन्न प्रकार के तेलों से लिया जा सकता है। कुछ लोगों को नशे की आदत होती है, उसी आदत की पूर्ति करने के लिए वह शराब पीते हैं। अगर शराब मंहगी मिलने लगे, या दिक़्क़त से मिले, तो लोग उसका काम अफ़ीम, भांग, गांजा आदि से लेने लगें। इस सिद्धान्त से किसी जिनिस की मांग के ख़र्रे का कोई बड़ा रद्दो बदल नहीं होता, पर, उसके अंकों में कुछ कमी बेशी हो जाती है। इस सिद्धान्त का प्रभाव भिन्न भिन्न देशों के लोगों पर भिन्न भिन्न रूप से पड़ता है। जिन देशों में रस्म रिवाज की अधिक प्रबलता है, वहां पर, लोग जहां तक हो सकता है, उसी चीज़ से अपनी ज़रूरत रफ़ा करते हैं जिसके वह आदी हैं। पर जहां रस्म रिवाज का प्राबल्य उतना नहीं है, वहां के लोग और और जिनिसों से भी अपनी ज़रूरत रफा करने की कोशिश करते हैं। मतलब यह कि, किसी ख़ास जिनिस का विचार करते समय हमें दो बातों का ध्यान भी रखना चाहिए, एक यह कि अन्य कौन सी जिनिसें उस जिनिस की स्थानापन्न हो सकती हैं। दूसरी यह कि, उस ख़ास चीज़ के साथ रस्म रिवाज और आदतों का अंश कितना है। प्रायः व्यावहारिक जीवन में यह बातें भुला दी

जाती हैं। पाठकों को मालूम होगा कि, देश के बड़े बड़े नेता शराव का चलन उठा देने का घोर प्रयत्न कर रहे हैं। ऐसे नेताओं में कुछ का ख़्याल है कि, विना सरकार की मदद के यह काम नहीं हो सकता। वह क़ानून के द्वारा शराब का बनना और बिकना बंद करवाना चाहते हैं। पर भारत के तथा अन्य देशों के इस सम्बन्ध के अनुभवों से पता चलता है कि, इस प्रकार के उपायों से कामियावी हासिल नहीं हो सकती। अगर लोगों को शराव न मिलेगी, तो वह अन्य हानिकर दवाइयों का सेवन करने लगेंगे। इसलिए ख़रीदारों को ही रोकने से सफलता प्राप्त हो सकती है*। चाहे जो हो, समाज सुधार के प्रश्न बड़े महत्व के हैं; पर, उनका वर्णन विना अर्थ-विज्ञान की सीमा से वाहर गये नहीं हो सकता।

ऊपर जो व्यक्तिगत मांगों के ख़र्रे का वर्णन हुआ है, उसके सम्बन्ध में एक बात ध्यान में रखने की है। वह यह कि, उन्हीं जिनिसों की मांग के ख़र्रे बन सकते हैं, जिन्हें, नियमित रूप से वारम्बार थोड़ा थोड़ा करके ख़रीदते हैं। पर जो जिनिसें कभी कभी ख़रीदी जाती हैं और बहुत दिनों तक चलती हैं, उनकी मांग के ख़र्रे नहीं बनाए जा सकते। मतलब यह कि, हम एक साधारण विद्यार्थी के जूते की मांग का ख़र्रा या घड़ी की मांग का, नहीं बना सकते। यह बात व्यक्तिगत मांगों के ख़र्रे की है। समुदाय अगर बड़ा हो, तो इस प्रकार की जिनिसों के ख़र्रे भी बनाए जा

---

* अब अमेरिका ने अपने यहां शराब बनना क़ानूनन बंद कर दिया है। वहां यद्यपि चुरा छिपा कर शराव विकती है, पर, उसका प्रचार कम हो गया है।

सकते हैं। एक हज़ार विद्यार्थियों के समूह में कुछ विद्यार्थियों को जूतों की आवश्यकता बनी ही रहती है। अगर जूते सस्ते हो जांय, तो वे शीघ्र ही खरीद लें, पर अगर मंहगे हो जांय तो जहां तक हो सके, पुराने जूतों को ही घसीटें। इस प्रकार की जिनिसों की मांग के सही सही खर्रे बनाना क़रीब क़रीब असम्भव है; अगर सम्भव भी होता, तो भी, उन खर्रों का खाका वही होता जिसका हम वर्णन कर चुके हैं। मांग का नियम इसमें भी घटित होता है। दस हज़ार लोगों की आबादी के शहर में बाइसिकिलों के खरीदारों की इतनी अल्प संख्या होती है कि, बाइसिकिलों के भाव के गिरने उठने का प्रभाव उनकी बिक्री की संख्या से नहीं जाना जा सकता। पर उस शहर में जहां लाखों की आबादी है, ज़रूर मंदी सस्ती का ग्राहकों के ऊपर असर पड़ेगा। उसका असर ठीक उन्हीं नियमों के अनुसार होगा जिनका विचार हम घी के उदाहरण में कर चुके हैं। सारांश यह कि कुछ अपवादों को छोड़ कर मांग का नियम उन सब प्रकार की जिनिसों के ऊपर घटित होता है जिनके खरीदार अधिक संख्या में होते हैं। जितने ही अधिक खरीदार बढ़ते जाते हैं, उतना ही मांग के नियम का प्रभाव भी बढ़ता जाता है।

सम्पत्ति का चय।

हम इस बात का विचार पहले ही कर चुके हैं कि प्रत्येक मनुष्य की आमदनी की दृष्टि से, उसकी आवश्यकताओं की चीज़ों को विलास की चीज़ या आराम की चीज़ कहा जाता है। अच्छी

आमदनी का वकील अगर रेशमी कपड़ा पहिनेगा, तो वह उसके लिए आराम की चीज़ और अगर १०) माहवार पानेवाला मज़दूर उसे पहिनेगा तो वही उसके लिए विलास की चीज़ हो जायगी। विलास की चीज़ों का अधिक व्यवहार करने से मनुष्य की सम्पत्ति का नाश होने लगता है। अतएव बुद्धिमान मनुष्य को विलासद्रव्यों का उपयोग करना अनुचित है।

जिस प्रकार व्यक्तिविशेषों के लिए यह बात है, उसी प्रकार देशों के लिए भी है। संसार के देशों में इस समय साम्पत्तिक वैषम्य बहुत बढ़ा हुआ है। कोई देश एकदम अमीर है, और कोई एकदम कंगाल। अमीर देश के लिए, जो द्रव्य आराम की चीज़ें कही जा सकती हैं, ग़रीब देश के लिए वही द्रव्य विलास की सामग्री हो सकते हैं। कांच के बर्तनों की अधिक बिक्री, थिएटरों और बायसकोपों तथा नाच रंग आदि की बढ़ती अगर लण्दन नगरी में हो, तो कहा जायगा कि, वहां आराम की चीज़ों की बढ़ती है; पर, भारत जैसे देश में उनकी बढ़ती होना विलास की बढ़ती है। विलास की सामग्री से जिस प्रकार व्यक्ति विशेषों की सम्पत्ति का क्षय हो जाता है, उसी प्रकार, देशों की सम्पत्ति का नाश होता है। भारत में विलास की बढ़ती हो रही है। यह इस बात की सूचना है कि, अगर शीघ्र ही इस बाढ़ को रोकने का प्रबन्ध न किया जायगा तो देश तबाह हो जायगा।

कोई समय था जब हमारे यहां के बड़े बड़े अमीर, राजे, महाराजे तक मोटा कपड़ा पहिनते थे। उनकी रहनसहन का ढंग

बहुत सादा था। जब ऐसा समय था, तब, हमारे देश अन्नपूर्णा देवी का कृपापात्र था। सारे संसार से यहां का व्यापार होता था। हम मोटा पहिनते थे, पर हमारे यहां की बारीक मलमलें विलायतों में बिकती थीं। हमारे यहां उस समय काफ़ी पौष्टिक भोजन था, काफ़ी कपड़े थे, काफ़ी विद्या थी और काफ़ी तन्दुरुस्ती थी। पर जब से हमने पराई सभ्यता सीखी, मोटे वस्त्र उतारे, तब से अच्छा भोजन खाते, अच्छे कपड़े पहिनते तथा सुभीते में रहते अवश्य हैं पर देश का अधिकांश भाग भूखों मर रहा है और काफ़ी कपड़ों से तन नहीं ढक पाता। ऐसा क्यों हुआ? हमारी सभ्यता हमसे किस प्रकार छिन गई? आदि प्रश्नों का पूर्ण रूप से हम इस पुस्तक में विचार नहीं कर सकते; इसके बहुत से कारण ऐसे हैं, जो अर्थ-विज्ञान की सीमा के बाहर के हैं, और उनका सम्बन्ध राजनीति से है। पर हमारी इस ग़रीबी का आदि कारण चाहे राजनैतिक ही क्यों न हो, पर आर्थिक भी है और वह यही है कि, देश की विलासिता बढ़ गई—आराम की सामग्री बढ़ती तो यह दशा न होती। विलासिता बढ़ गई इसी से देश कंगाल हो गया!

अगर आप किसी १५) माहवार पानेवाले दफ़्तर के बाबू की आंखों पर सोने का चश्मा, बदन पर १०० नं० की मलमल का कुरता, सिर पर ८) की फेल्ट कैप और पैर में हैल्थ का १५) वाला जूता पहने देखें, तो आप उसकी बाबत अपनी क्या राय क़ायम करेंगे? यही न कि, बाबू जी के शनिश्चर की दशा लगने वाली है;

शीघ्र ही बाबू जी ख़र्च से तंग आकर क़र्ज़दार हो जांयगे और रोटी के टुकड़ों को तरसेंगे ? तो फिर, हमारा कहना यह है कि, ठीक यही अनुमान उस देश के लिए भी कीजिए, जहां के नवयुवकों की प्रवृत्ति इस ओर हो, जहां की आधी आबादी भूखों मरती हो और बासठ बासठ करोड़ का विदेशों से कपड़ा आवे ! जिस देश में ५ फ़ी सैकड़े भी शिक्षित नहीं, जहां के लोगों की ५) महीने की भी आमदनी नहीं, जहां के लोग संसार के समस्त देशों से अधिक रोगी हैं, वहां पर अगर इस प्रकार की विलास सामग्री देख पड़े—वहां पर अगर बाज़ार के छज्जों से वेश्याओं के गान की ध्वनि सुनाई दे, तो क्या फिर भी उस देश के मर मिटने में कोई सन्देह का स्थान है ? आज हमारी पुण्य-भूमि की यही दशा है ! नतीजा यह है कि जहां दूध की धारें बहती थीं, वहां अब, उड़ती हुई तप्त बालुका के सिवा कुछ नहीं बचा !

देश में जब एक बार अवनति होना शुरू होती है तब वह बराबर होती ही जाती है। "छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति" आफ़त जब आती है तब अकेली नहीं आती। साम्पत्तिक अवस्था एक बार बिगड़ी कि फिर बिगड़ती ही चली जाती है। एक बार क़र्ज़ा चढ़ा और अगर तुरन्त ही उसकी काफ़ी रोक न की गई, तो फिर वह दिवाला ही निकाल कर मानता है। संसार की इस समय कुछ गति ही ऐसी है कि ग़रीब दिन पर दिन ग़रीब होते हैं। एक बात बुरी होने से फिर सैकड़ों बुरी बातें आप से आप पैदा हो जाती हैं। जिस प्रकार सांप का ज़हर सारे शरीर में फैलता जाता है और

अन्त में जीवन लेकर ही छोड़ता है। उसी प्रकार ग़रीबी भी ज़हर है— वह भी, अगर उसका काफ़ी प्रतिबन्ध समय पर न किया गया तो कंगाल बना कर ही छोड़ती है। इसका उदाहरण के साथ हम पुस्तक के पांचवें अध्याय में किसी जगह वर्णन करेंगे। अभी तो इतना जान लेना ही काफ़ी है कि, ग़रीब आदमी व ग़रीब जाति व ग़रीब देश, अगर अपनी ग़रीबी का पूरा प्रतिबन्ध नहीं करता, तो हद दर्जे की ग़रीबी की हालत का आह्वान करता है। आज हमारे भारत को भी इस दरिद्रता के सांप ने डस लिया है। वह भी दिन प्रति दिन क्षीण होता जाता है।

हमारे देश की इस दुर्दशा के कई कारण हैं। राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, और धार्मिक आदि कई तरह के कारण ग़रीबी को बढ़ा रहे हैं। औरों से हमारा सम्बन्ध नहीं, हमारा सम्बन्ध तो केवल आर्थिक कारणों से ही है, और इस परिच्छेद में विशेष रूप से विलास की मात्रा बढ़ने से। इसमें सन्देह नहीं कि भारत-वासी अगर विलास की मात्रा कम करदें, तो दरिद्रता बहुत कुछ कम हो सकती है। पर ऐसा हो कैसे सकता है। ऐसा तो तभी हो सकता है कि जब लोग आत्म-संयम करना सीखें—विलास छोड़ दें—क़िफ़ायतशारी की आदतें डालें— पश्चिम के रीति रवाजों की नक़ल करना छोड़ दें और अपनी पुरानी सादी चाल को ग्रहण करें; अपनी आवश्यकताओं को स्थिर कर, उनका बढ़ना रोक कर उत्पादन को बढ़ावें और तब तक, बढ़ावें, जब तक वह अन्य देशों के मुक़ाबिले सम्पत्तिवाले और पूंजीवाले न हो जांय।

पर सवाल तो यह होता है कि, ऐसा हो भी सकता है या नहीं। लोग विलास छोड़ने को तैय्यार हो जायँगे? देश के लिए क्या वह इतना त्याग कर सकेंगे? क्या उन में अभी इतना आत्मिक वल शेष है? इसका उत्तर वहुत सीधा उत्तर है और वह यह है कि यदि लोगों की समझ में यह वात अच्छी तरह से जमा दी जाय कि देश की दुर्दशा का कारण विलास का वढ़ना है तो वहुत से ऐसे स्वदेशप्रेमी उदार हृदय सज्जन निकलेंगे जो अपने वाल वच्चों के नाम पर विलाससामग्रियों का त्याग कर देंगे। वस धीरे धीरे उनका प्रभाव और लोगों पर भी पड़ेगा और खरवूज़े को देख कर खरवूज़ा रंग पकड़ेगा। विदेशी महीन चमक दमक व फैशन के कपड़ों के स्थान पर यदि स्वदेशी मोटे वस्त्रों का ही प्रचार हो जाने की कोई सूरत निकल आवे तो उतने से ही अन्य वहुत सी विलास की सामग्रियों का प्रचार कम हो सकता है। विलास की सामग्रियां परस्पर एक दूसरे पर अवलम्बित रहती हैं, और सव की जड़ है कपड़ा। अगर मोटे कपड़े का चलन हो जाय तो अन्य वहुत सी विलास की सामग्रियों की ज़रूरत ही न रहे।

चौथा अध्याय।

मांग और संग्रह।

सोलहवां परिच्छेद।

प्राथमिक-विचार।

मांग और संग्रह क्या है।

सम्पत्ति की उत्पत्ति और क्षय का विचार हम कर चुके। इस अध्याय में हमको इस बात का विचार करना है कि किस प्रकार किसी जिनिस विशेष की उत्पत्ति के बाद, खर्च करने के लिए रक़म आ जाती है। यह काम जिस क्रम से होता है उस का नाम है "मांग और संग्रह का समीकरण"। मांग के विषय में हम कह चुके हैं कि मांग उस जिनिस के परिमाण को कहते हैं जिसकी चाह हो। मूल्य के अनुसार इसके परिमाण में कमी वेशी हो सकती है। संग्रह जिनिस के उस परिमाण को कहते हैं जिस परिमाण में वह विक्री के लिए प्रस्तुत की जाती है। आगे के वर्णन से यह भी स्पष्ट हो जायगा कि संग्रह का परिमाण भी क़ीमत के साथ साथ कम ज्यादा होता है। विक्री के लिए प्रस्तुत जिनिस का परिमाण प्रायः जिनिस के उत्पादन के परिमाण पर निर्भर रहता है। इस प्रकार उत्पादन और संग्रह शब्द आपस में बहुत मिलते जुलते हैं और वेंचनेवाले के द्योतक हैं। इन शब्दों में सम्बन्ध ठीक वैसा ही है जैसा क्षय और मांग में है—क्षय और मांग शब्द भी खरीदार के द्योतक हैं। "समीकरण" का अर्थ समानता है। जब तराज़ू के दोनों पलड़े बराबर हो जाते हैं तब हम कहते हैं कि, दोनों पलड़ों के वज़न का समीकरण हो गया। ठीक इसी अर्थ में

यह शब्द यहां भी प्रयुक्त हुआ है, अर्थात, " मांग और संग्रह के समीकरण " का अर्थ है " मांग और संग्रह की समानता " अर्थात् मांग और संग्रह बराबर हैं।

प्रश्न होता है कि किस प्रकार कुछ परिमाण के गेहूं (मन दो मन अथवा कम ज्यादा) या घी, अथवा गाढ़े के थान, व कुछ घड़ियां तथा ऐसी ही, अन्य जिनिसें, उत्पन्न की जाती हैं और किसा मूल्य विशेष पर वेंची जाती हैं? उनके परिमाण और संख्या का किस प्रकार निर्णय होता है और उनका मूल्य किस प्रकार निश्चित किया जाता है? इस प्रश्न का उत्तर ही अर्थ-विज्ञान के केन्द्र का विषय है।

पाठक जान गये होंगे कि ऊपर के प्रश्न में एक नहीं दो प्रश्न हैं; उनमें से पहला परिमाण या संख्या के सम्बन्ध का है और दूसरा मूल्य के सम्बन्ध का। बड़ी दिक़्त की बात तो यही है कि, हम इन दोनों का अलग अलग वर्णन नहीं कर सकते। अर्थात् हम यह नहीं कह सकते कि मांग और संग्रह का निर्णय क़ीमत से होता है या मांग और संग्रह से क़ीमत का निर्णय होता है। आगे जो कुछ हम वर्णन करेंगे उससे यह बात अच्छी तरह से स्पष्ट हो जायगी कि यह तीनों भीतर ही भीतर एक दूसरे पर निर्भर हैं और इनमें से अगर एक में परिवर्त्तन होगा, तो उसके कारण अन्य दोनों में परिवर्त्तन अवश्य होंगे। अर्थात् दाम गिर जाने से उस जिनिस के उस परिमाण में जो बिक्री के लिए है, कमी होगी, साथही मांग के परिमाण में वृद्धि होगी। इसी प्रकार, बेचने के लिए प्रस्तुत

जिनिस के परिमाण के बढ़ जाने पर दाम गिर जांयगे और माँग के परिमाण में वृद्धि हो जायगी। माँग के परिमाण में वृद्धि हो जाने पर, दाम चढ़ जाँयगे और संग्रह के परिमाण में कमी हो जायगी। इसीलिए, इन दोनों प्रश्नों का एक साथ वर्णन करने के लिए हम मजबूर हैं। अगर हम इन तीनों (अर्थात् दाम, मांग और संग्रह) में किसी एक का विचार भी करें, तो, हमें यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि अन्य तीनों के परिमाणों में अवश्य परिवर्त्तन होना चाहिए। मतलब यह कि, एक में परिवर्त्तन होने से तीनों में परिवर्त्तन होंगे।

उत्पादन की प्राथमिक अवस्थाओं में "समीकरण"।

उत्पादन की प्राथमिक अवस्थाओं को दृष्टि में रख कर तो इस प्रश्न का उत्तर देना इतना कठिन नहीं है, पर, उत्पादन की विकसित अवस्थाओं (अर्थात कार्य्यालयावस्था आदि) को दृष्टि में रख कर इसका उत्तर देना बड़ा कठिन है। इसलिए, सबसे प्रथम सादे से सादे उदाहरण का लेना ठीक होगा। कल्पना कीजिए कि एक आदमी जंगल में रहता है। वृक्षों से फल तोड़कर खाता है और अपना गुजर करता है। वह घर से बहुत भूँखा चला। उसकी भूँख की मांग बहुत ही तीव्र थी। वह जंगल में पेड़ों से फल तोड़ तोड़ खाता हुआ आगे बढ़ने लगा। जैसे ही जैसे वह फल खा खा कर आगे बढ़ता जाता था, वैसे ही वैसे उसकी भूँख की मांग की तीव्रता भी कम होती जाती थी। यहां तक कि, वह चलने से और पेड़ पर चढ़ कर फल तोड़ने के परिश्रम से थक गया।

उसके आस पास इतने अधिक फल थे कि वह अपनी मांग की पूर्ति पूर्ण रूप से कर सकता था। फलों के वृक्ष दूर थे और फल भी इतनी दूर थे कि बिना चढ़ कर तोड़े मिल नहीं सकते थे। वह थक चुका था, सकी भूंख की मांग की पूर्ण रूप से पूर्ति हुई नहीं थी। अब उसे या तो चढ़ कर फल तोड़ने के परिश्रम को और या बची खुची भूँख की तीव्रता को —दो में से एक को— स्वीकार कर लेने का मौक़ा आगया। भूंख की मांग, जैसे जैसे वह फल खाता गया था, क्रम क्रम से कम होती गई थी और साथ ही थकावट (फल तोड़ने की) क्रम क्रम बढ़ती गई थी। इस थकावट को हम आराम की मांग कह सकते हैं। फलों से जैसे जैसे उसकी भूंख कम होती जाती थी वैसे ही वैसे उसके लिए फलों की उपयोगिता भी कम होती जाती थी। साथ ही आराम की उपयोगिता बढ़ती जाती थी। थोड़ी ही देर में आराम की मांग तीव्र हो गई और नींद लेने के लिए वह लेट गया। ऐसे मामलों में क्या होता है? ऐसे मामलों में मनुष्य भोजन की उपयोगिता और आराम की उपयोगिता की तुलना करता है। जब वह बहुत भूंखा होता है अर्थात् जब भोजन की उपयोगिता उसके लिए बहुत अधिक होती है, तब उसकी तीव्रता को देखते हुए आराम की उपयोगिता उसके लिए त्याज्य हो जाती है, पर क्षुधा के शान्त होते ही आराम और भूंख की मांग में समानता होने लगती है और फिर क्रम से आराम की उपयोगिता बढ़ जाती है।

उत्पादन की प्रथमावस्था अर्थात् स्वयं-भुक्तावस्था में मनुष्य

प्राय: अपने ख़र्च करने के लिए सम्पत्ति उत्पन्न करते हैं। यह बेंचने और खरीदने के लिए सम्पत्ति नहीं उत्पन्न करते। वह अपने परिश्रम और जिनिस की उपयोगिता की ही तुलना करते हैं। अगर किसी किसान के पास काफ़ी ज़मीन, काफ़ी चौपाये और काफ़ी सामान हो, तो फिर वह, विना अत्यधिक परिश्रम के अपने कुटुम्ब के लिए काफ़ी पैदा कर सकता है। पर जिसके पास काफ़ी ज़मीन नहीं है, पशु निर्बल हैं, उसे अपनी कुछ आवश्यकताओं को विना पूरी किये ही सन्तोष करना पड़ता है; क्योंकि, वह देख लेता है कि; इन आवश्यकताओं को पूरी करने में जो श्रम करना पड़ेगा उससे तो यही अच्छा है कि इन आवश्यकताओं के पूरा न करने से जो कष्ट होगा उसी को स्वीकार कर लिया जाय।

सम्पत्ति के उत्पन्न करने में जो असुख होता है, जो तकलीफ़ उठानी पड़ती है उसके भाव को प्रकट करने के लिए हमें एक शब्द ही नियत कर लेना चाहिए। यदि इस असुख का नाम हम अनुपयोगिता रख लें, तो फिर हमें कहना चाहिए कि, किसान जिनिस की उपयोगिता की उसके उत्पन्न करने में होनेवाली अनुपयोगिता से तुलना करता है और वहां तक वह उत्पादन का काम बराबर जारी रखता है जहां तक अनुपयोगिता उपयोगिता से बढ़ नहीं जाती।

परन्तु शिल्पावस्था में जाकर, (जिसमें मनुष्य अपनी समस्त उत्पन्न की हुई सम्पत्ति बेंच देते हैं और व्यवहार करने के लिए फिर ख़रीदते हैं।) कठिनाई बढ़ जाती है। इस मामले में ख़रीदार किसी जिनिस की उपयोगिता की तुलना उसके उत्पन्न

करने में होनेवाली अनुपयोगिता से न कर उसके मूल्य की अनुपयोगिता से करता है। इसलिए, उक्त प्रश्न का शिल्पावस्था के सम्बन्ध में विचार करने में हमें बेंचनेवाले के भी काम काज का विचार करना पड़ेगा। इस विषय में प्रवेश करने के पूर्व हमको "बाज़ार" शब्द के अर्थ को स्पष्ट कर लेना चाहिये; क्योंकि, अगले कुछ परिच्छेदों में इसका व्यवहार स्थान स्थान पर होगा। साधारण व्यवहार में जहां कई प्रकार के भोजनों के द्रव्य, भिन्न भिन्न प्रकार की चीजें बिक्री के लिए म्युनिसिपल्टी की मातहती में रहती हैं बाज़ार कहते हैं। अर्थ-विज्ञान का बाज़ार इस प्रकार का बाज़ार नहीं है। समाचारपत्रों के कालमों में प्रायः छपा रहता है, "गेहूं का बाज़ार", "कपड़े का बाज़ार", "चावल का बाज़ार" आदि। इस प्रकार के बाज़ार अर्थ-विज्ञान के बाज़ार से बहुत कुछ मिलते हैं। अर्थ-विज्ञान तो उस स्थान को जहां कोई जिनिस बिक्री के लिए होती है और जहां ख़रीदार और बेंचनेवाले स्वतंत्र रूप से आपस में मिलकर बातचीत करते हैं बाज़ार कहता है। ख़रीदार और बेंचनेवाले चाहे पास पास हों, या दूरदेश में, अगर रेल तार जारी है तो वह उसी प्रकार दूर रह कर भी सौदा ख़रीद और बेंच सकते हैं जिस प्रकार नज़दीक से। मतलब यह कि, उत्तरीय भारत का "हिस्से का बाज़ार" (शेयर मार्केट) कलकत्ते में है और समस्त उत्तरीय भारत के लोग तार और डाक के ज़रिये से दूर बैठ कर भी कलकत्ते में अपना कारबार कर सकते हैं।

बाज़ार का स्वरूप ।

बाज़ार के अर्थ को समझने के लिए, सब से प्रथम इस बात पर ध्यान देना चाहिये कि बाज़ार में ग्राहक और बेंचनेवाले एक साथ मिलते हैं । इस प्रकार के बाज़ार भारत के प्रायः सभी शहरों में हैं । कहीं नाज का व्यापार होता है, कहीं रुई का और कहीं शक्कर का । मतलब यह कि जो चीज़ जहां ज्यादा पैदा होती है, उसका बाज़ार मुख्य रूप से वहीं होता है । व्यापारियों के स्थान समीप समीप होते हैं, कोई व्यापारी कभी कोई चीज बेंचता है और कभी ख़रीदता है । प्रत्येक व्यापारी (चाहे वह ख़रीदार हो या बेंचनेवाला) उत्पादन के साधनों का ध्यान रखता है; बेंचनेवाले को ख़रीदार की मांग को जाने रहना पड़ता है अर्थात् उसे यह बात ध्यान में रखना पड़ती है कि कितनी वस्तु का क्या मूल्य होना चाहिये । ख़रीदार को बेचनेवाले के संग्रह का ध्यान रखना पड़ता है, अर्थात् उसे यह जानना पड़ता है कि, कितने मूल्य में कितनी जिनिस मिलेगी । प्रत्येक बेंचनेवाले को अन्य दूसरे बेंचनेवालों की और प्रत्येक ख़रीदार को अन्य दूसरे ख़रीदारों की परिस्थिति का ज्ञान रखना पड़ता है । इन बातों का ध्यान तो प्रायः सभी को रखना पड़ता है कि निकट भविष्य में दाम चढ़ेंगे या उतरेंगे, लोगों की मांग घटेगी या बढ़ेगी; कम संग्रह या ज्यादा संग्रह के क्या परिणाम होंगे आदि । छोटे बाज़ार में भी संगठन बड़े पेंच का होता है । किन्तु; जब वही जिनिस अन्य बाज़ारों से भी लाई जा सकती हो तो फिर उलझन बहुत बढ़ जाती है ।

उदाहरण लीजिये, कानपुर के एक गेहूं के व्यापारी को सिर्फ़ कानपुर के बाज़ार का ही, किन्तु, यथासम्भव, भारत के समस्त बड़े बड़े बाज़ारों का ध्यान रखना चाहिये। उसे कलकत्ता बम्बई दिल्ली हाथरस क़रांची आदि की बाज़ारों का भी ध्यान रखना चाहिये। इनके सिवा विलायत के देशों के बाज़ार पर भी ध्यान रखना चाहिये। इस प्रकार हमें बाज़ार के स्वरूप को धीरे धीरे समझने की चेष्टा करना उचित है।

बाज़ार के सम्बन्ध की दो मार्के की बातें हैं। पहली तो यह कि वेंचनेवाला यह चाहता है कि, उसे ज़्यादा से ज़्यादा दाम मिलें और ख़रीदार यह चाहता है कि, उसे कम से कम दामों में सौदा मिल जाय। जब तक ३=) मन का गेहूं का ख़रीदार मौजद होगा कोई भी व्यापारी ३) रुपये मन में और किसी ग्राहक को गेहूं नहीं देगा। इसी तरह से कोई भी ग्राहक जब तक तीन रुपये पंद्रह आने में मन भर गेहूं पायेगा, कभी ३) रुपये मन के दाम दूसरे दुकानदार को न देगा। ख़रीदार बेचनेवालों से क़ीमत जानना चाहता है, और वेचनेवाला यह जानने की कोशिश करता है कि, ग्राहक कहां तक दाम देने को तैयार है? दूसरी बात भी पहली बात के सम्बन्ध की ही है। एक समय में एक ही मूल्य होता है और उसी मूल्य पर विक्री होती है, साथही यह दूसरी बात है कि, दिन भर में ही मूल्य में अन्तर पड़ जाय। वेचनेवाले को केवल इतना जानना ही ज़रूरी नहीं है कि, ग्राहक कहां तक मूल्य देने को तैयार है, पर; उसे यह भी जाने रहना चाहिए कि, इसी जिनिस

को अन्य दुकानदार किन दामों पर वेंच रहे हैं । अगर वह इस बात का ज्ञान न रक्खेगा तो कभी वह कम ज्यादा मूल्य लगाकर नुक़सान उठाएगा । ठीक इसी प्रकार ख़रीदार को भी यह उचित है कि वह यह जाने रहे कि अन्य ख़रीदार इसे किन दामों में ख़रीद रहे हैं, यदि वह इस बात को न जानेगा तो वेवक़ूफ़ बनेगा और नुक़सान उठाएगा। अब हमें इस बात का विचार करना है कि, इस प्रकार की बाजारों में किस प्रकार से जिनिसों की क़ीमत स्थिर होती है।
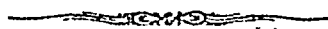
सत्रहवां परिच्छेद ।

बाज़ार का समीकरण ।

बाज़ार का एक सादा उदाहरण ।

हम को समीकरण का अध्ययन बाजार की बातों में करना चाहिए। हम यह कह चुके हैं कि जैसे जैसे हम आगे बढ़ कर विकसित अवस्थाओं के सम्बन्ध में इसका विचार करते हैं, वैसे ही वैसे हमारा काम पेंचदार होता जाता है । इसीलिए, हमें बाज़ार का भी सीधा-सादा उदाहरण लेना ठीक होगा । अब कल्पना कीजिए कि एक गेहूं का बाज़ार है, जो रेल से बहुत दूर है, और इसीलिए रेल द्वारा उसमें बाहर गेहूं नहीं आ जा सकता। यह भी कल्पना कीजिए कि, ऐसी बाज़ार में किसान खुद गेहूं नहीं ले जाते किन्तु गांव में ही बनिये के हांथ बेंच देते हैं। गांव के बनिये उसे बाजार में बेंचते हैं। प्राचीन काल में इसी प्रकार की बाज़ारें थीं पर जब से रेल चल गई है, तब से उन बाज़ारों में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया है । अच्छा; पुरानी चाल की बाज़ार के उदाहरण में इस बात की और कल्पना कर लीजिए कि, बेंचने वालों और ख़रीदनेवालों में परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु सब अपने अपने हित को दृष्टि में रखकर अपना अपना काम करते हैं। दिसम्बर का महीना लगा है। गेहूं की नई फ़सल बो दी गई

है । फ़सल अच्छी है । कोई नई बात नहीं है। बाज़ार के दिन सुबह के वक्त व्यापारी गाड़ियों में और टट्टूओं में गेहूं लाद लाद कर आते हैं वह उतना ही गेहूं लाते हैं, जितने की बिक्री का उनका अनुमान होता है । उनको और बाज़ार के दुकानदारों को यह बात मालूम है कि, गत बाज़ार के दिन गेहूं का भाव ३) मन था । साथ ही उन लोगों को अनुभव से यह भी ज्ञात है कि जब ३) मन गेहूं का भाव होता है तब, २००० मन गेहूं बिक जाते हैं, क्योंकि आस पास के ग्रामों में इतने ही गेहुंओं का प्रति सप्ताह ख़र्च रहता है। प्रत्येक दुकानदार बेचनेवाला इस बात की सदा कोशिश करता है कि उसके भेद गुप्त रहें, अर्थात कोई यह न जान पाये कि वह अपना गेहूं ज्यादा बेचना चाहता है या कम । अन्य दुकान दार और बाज़ार के ग्राहक सदा यह जानने की कोशिश किया करते हैं कि, इसका ध्यान क्या है, यह ज्यादा बेचना चाहता है या कम, इसके पास ज्यादा गेहूं है या कम । व्यापारी २००० मन प्रति सप्ताह गेहूं पहुंचाए जायेंगे और तब तक पहुंचाए जांयेंगे जब तक नई फ़सल तैय्यार न हो जायगी । नई फ़सल तैय्यार होने पर भी व्यापारियों के पास, २००० मन प्रति सप्ताह बेचते रहने के बाद भी, कुछ बचत का नाज रह जायगा । अब जब सवेरे बाज़ार खुलता है तब व्यापारी एक दूसरे से नाज का भाव पूंछते हैं, एकदम से ख़रीद फ़रोख्त नहीं शुरू कर देते। साथही वह इस बात को भी ध्यानपूर्वक देखते हैं कि प्रत्येक व्यापारी के पास कितना गेहूं है और कोई कम ज्यादा तो नहीं लाया है, तथा

कोई अपना माल वेचने के लिए उत्सुक तो नहीं है । वह आपस में एक दूसरे को खूब ध्यानपूर्वक देखते हैं और उक्त बातों का विचार करते हैं। वह इस बात का भी ध्यान रखते हैं कि, कोई दुकानदार अधिक ख़रीद करना तो नहीं चाहता । अब कल्पना कीजिए कि बाज़ार के दिन २००० मन गेहूं बाज़ार में हैं, और कोई भी व्यापारी माल ख़रीदने और वेचने के लिए उत्सुक नहीं है। तो फिर क्या होगा। थोड़ी देर तक स्थिति की परीक्षा करने के बाद व्यापारी भिन्न भिन्न भावों में ख़रीदने वेचने का लोभ देंगे पर अन्त में दोनों पक्षों के व्यापारियों को यह बात मालूम हो जायगी कि, भाव के अपने अनुकूल बदलने की कोई आशा नहीं है। इसके बाद बाज़ार में मौजूदा भाव में ख़रीद फ़रोख़्त होने लगेगी। दो पहर के बाद तक बाज़ार का कुल स्टाक ख़त्म हो जायगा।

मांग बढ़ जाने का प्रभाव।

यह समीकरण का सीधे से सीधा उदाहरण हुआ। दो हज़ार मन गेहूं का संग्रह था, और दो हज़ार मन की ही मांग थी । इसी लिए इसी भाव पर कुल गेहूं बिक गया। अब कल्पना कीजिए कि फिर दूसरे सप्ताह बाज़ार लगी । उसमें भी दो हज़ार मन गेहूं आया। उसमें फिर से वही बातें हुई जो पिछली बाज़ार में हुई थीं। पर अब की नई बात व्यापारियों को यह मालूम हुई कि कुछ व्यापारी माल को मौजूदा भाव, ३) मन पर शीघ्र ख़रीदने के लिए उत्सुक हैं। इसका कारण नहीं मालूम हुआ पर बाज़ार के व्यापारियों ने यह समझ लिया कोई न कोई ऐसी बात होगी ही जिससे

गेहूं की बिक्री बढ़ जाने की सूरत हो जायगी। इसे सोंचकर उन लोगों ने मन पर =) बढ़ा दिया। पर इस बढ़े हुए भाव पर किसी ने भी गेहूं न ख़रीदा, तब फिर कुछ व्यापारियों ने =) से घटाकर -) कर दिया, अर्थात ३-) का भाव रह गया। इस पर ख़रीद फ़रोख़्त शुरू हो गई। कुछ लोग ख़रीदने लगे और कुछ लोग इस उम्मीद पर कि दाम फिर गिरेंगे, चुप रहे। दिन बीता, शाम हुई, पता लगा कि पड़ोस में कुछ पलटन क़वायद सीखने के लिए आने वाली है। इसका पता कुछ व्यापारियों को पहले ही से लग गया था, इसी से वह मौजूदा भाव में ख़रीद करने के लिए उत्सुक थे। क्योंकि, वह जानते थे कि, फ़ौज के आने पर गेहूं का ख़र्च बढ़ जायगा। जिन व्यापारियों ने इस भेद को नहीं समझा था उन्होंने ख़रीद नहीं की, पर अब वह भी चिन्तित हो गये, माल बिक चुका था। तो भी उन्होंने ३-) मनके भाव में ख़रीदने की इच्छा प्रकट की। इस पर बेचनेवालों ने फिर भाव बढ़ा दिया। कुछ व्यापारियों ने भाव बढ़ जाने के कारण ख़रीद करने का विचार छोड़ दिया। इस पर भाव फिर एक आना घट गया। मतलब यह कि कुछ समय तक बराबर भाव चढ़ता उतरता रहा। अन्त में शाम तक कुल गेहूं जो बाज़ार में आया था बिक गया, मतलब यह कि गेहूं का भाव पिछली बार से कुछ चढ़ा हुआ रहा।

संग्रह बढ़ जाने का प्रभाव।

अब फिर कल्पना कीजिए कि, दिसम्बर में अच्छा पानी बरस जाने के कारण, जनवरी के प्रथम सप्ताह में अच्छी फ़सल के

चिन्ह मालूम होने लगे। यह बात स्मरण रखने की है कि, व्यापारियों के पास नाज का स्टाक काफ़ी रहता है, अर्थात् वह लोग फ़सल तक काम चलाने के लायक़ नाज से अधिक नाज स्टाक में रखते हैं। उन व्यापारियों को जिनके पास नाज का ज्यादा स्टाक रहता है, अच्छी फ़सल के चिन्ह देख कर चिंता होने लगेगी। अब सिवा उस गेहूं के स्टाक को बेंच देने के और कोई उपाय उनके पास न रह जायगा। वह डरेंगे कि कहीं अच्छी पैदावार होते ही गेहूं का भाव गिर न जाय, इसलिए, वह अपना स्टाक बेंच देने की कोशिश करेंगे। इस प्रकार के व्यापारी २००० मन से अधिक गेहूं बेचने के लिए बाजार में लायेंगे। पर अन्य दुकानदारों के भी तो समझ है। वह भी तो अगली फ़सल की अच्छी पैदावार को और उसके परिणामों को सोच सकते हैं; ऐसी दशा में, वह उसी भाव पर व्यर्थ में नाज क्यों ख़रीदने लगे। फिर जब संग्रह ज्यादा होगा, और मांग वैसी ही रहेगी तो भाव गिरेगा ही, लोग कम दामों पर गेहूं चाहेंगे ही। फिर उसी तरह सौदा होगा, अर्थात् कम ज्यादा दाम मांगे जांयगे, पर अन्त में गेहूं कुछ कम दामों में ही बिकेगा। ख़रीदनेवालों के लगाए हुए दामों में और बेचनेवालों के मांगे हुए दामों में फिर समीकरण हो जायगा। पर यह समीकरण गेहूं का भाव घटा कर होगा!

संग्रह कम हो जाने का प्रभाव।

अब एक और दिन की बाजार का दृश्य देखिए। कल्पना कीजिए कि इतना सब होने के बाद फसल में पाला पड़ गया।

नाज की पैदावार में बहुत कमी पड़ जाने की सूरत हो गई। दुकानदारों और व्यापारियों को पता लग गया कि फ़सल की बहुत हानि हो गई है, और अब की गेहूं इतना कम पैदा होगा कि, अगली फ़सल तक जनता के गुज़ारे को, क़ाफ़ी न होगा। अर्थात् उससे अगले साल में २००० मन प्रति सप्ताह के हिसाब से गेहूं बिक्री के लिए बाज़ार में न लाया जा सकेगा। अब व्यापारी यह सोचने लगेंगे कि अगर इस समय हमारा गेहूं न बिका तो आगे चल कर जब गेहूं की कमी पड़ेगी बिक जायगा, यह सोच कर वह गेहूं का भाव बढ़ा देंगे। साथ ही वह ज्यादा गेहूं भी बिक्री के लिए बाज़ार में न लायेंगे, क्योंकि, उन्हें अगली फसल की ओर देख कर अपना गेहूं सबका सब न बेचने का ख्याल पैदा होगा। २००० मन की जगह बहुत संभव है कि वह एक ही हज़ार मन गेहूं बेचने को बाज़ार में लायें। अब दूकानदार मजबूर होकर मँहगे दामों में गेहूं ख़रीदेंगे। खरीदार साढ़े तीन रुपये मन में गेहूं मांगेंगे। बेचनेवाले कहेंगे कि, हम बिना चार रुपये मन के दाम लिए न बेचेंगे। सम्भव है कि, पहले पहल कुछ गेहूं साढ़े तीन में ही बिक जाय, या चार में बिक जाय; पर थोड़ी देर बाद, बहुत सौदागरी करने पर, तीन रुपये बारह आने या तीन रुपये चौदह आने पर समीकरण हो जायगा।

बाज़ार की घटनाओं का ऊपर जैसा सीधा सादा वर्णन किया गया है—उसमें बहुत सी पेंचदार बातें जान बूझ कर छोड़ दी गई हैं। ऐसा इसीलिए किया गया है, जिससे मांग और संग्रह के

बीच के समीकरण का ज्ञान पाठकों को हो जाय। पेंचदार बातों के वर्णन करने से मांग और संग्रह के समीकरण में कोई बाधा उपस्थित न होती, पर उससे उक्त तत्व को समझने में दिक़्क़त हो जाती। जो लोग व्यापारियों से गेहूं ख़रीद कर सर्वसाधारण में बेंचते हैं, उन्हें इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि, कितना महंगा होने पर लोग कितना ख़रीदेंगे—इसका ज्ञान उन्हें अनुभव से हो जाता है। वह तो सिर्फ़ बेंचने के लिए ही ख़रीदते हैं, अगर वह ज्यादा ख़रीद लें तो उसी क़ीमत पर बेंचने में उन्हें दिक़्क़त हो और नुक़सान उठाना पड़े। अगर वह कम ख़रीदें तो वह अधिक माल की अधिक बिक्री के अधिक मुनाफ़े से वञ्चित रह जांय। * बेचनेवाले सदा यही चाहते हैं कि, उनका माल ज्यादा से ज्यादा क़ीमत पर बिके। इसलिए वह अपने माल के दाम भी वहीं तक बढ़ाते हैं, जहां तक उन्हें बेचने में दिक़्क़त नहीं होती। पाठकों को अब बाज़ार का मतलब समझ में आगया होगा कि किस प्रकार से बाज़ार में ख़रीदार और बेचनेवाले स्वतंत्ररूप से बात कर, अपने और पराये की स्थितियों का ज्ञान रख, क़ीमत का निर्णय करते हैं।

क़ीमत बढ़ जाने से जिनिस के व्यय पर उसका क्या असर होता है।

ऊपर के बाज़ार के वर्णन में जिन पेंचदार बातों को हमने छोड़ दिया है, उनका वर्णन होगा। यहां पर हम एक बात और

* यह भी संभव है कि दुकानदारों को थोड़ी बिक्री में भी ज्यादा मुनाफ़ा हो जाय। ऐसा अकाल प्रारम्भिक अवस्थाओं में कभी कभी हो जाता हैं पर साधारण नियम ज्यादा बिक्री और ज्यादा मुनाफ़े का ही है।

कह देना चाहते हैं। ऊपर जिस प्रकार, पाला पड़ जाने से गेहूं के महँगे हो जाने का उदाहरण दिया गया है, उसी प्रकार की घटना जब वास्तव में घटती है, अर्थात् अन्न मँहगा हो जाता है, तब लोग व्यापारियों को स्वभावत: भला बुरा कहने लगते हैं। वह कहते हैं "जब कि यह लोग ३) मन गेहूं बेचने पर तैय्यार थे और बेंच रहे थे, तब उन्हें भाव बढ़ा देने का और ग़रीबों के पेट काटने का क्या हक़ था।" पर हमारा कहना यह है कि, अर्थ-विज्ञान से और इस "हक़" से कोई मतलब नहीं। अर्थ-विज्ञान तो सिर्फ़ यही कह सकता है कि इस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न हो जाने पर क़ीमत बढ़ जाती है। अर्थ-विज्ञान नीति-शास्त्र या धर्म-शास्त्र नहीं है जो इस विषय में यह व्यवस्था देने को बैठ जाय कि ऐसी दशा में लोगों का क्या "कर्त्तव्य" है। अर्थ-विज्ञान इस बात का विचार अवश्य करता है कि, ऐसी महँगी में ग़रीब लोगों को किस प्रकार दिन काटने चाहिए। अब विचार कीजिए कि, उत्पादन की प्रथमावस्था (स्वयं-भुक्तावस्था) में, अगर इसी तरह फ़सल पर पाला पड़ जाय तो क्या दशा हो। किसान को तुरन्त पता लग जायगा कि अब की फ़सल में कम पैदावार होगी और जो कुछ पैदावार होगी उससे अगली फ़सल तक गुज़र बसर करना बड़ा कठिन काम होगा। ऐसी दशा में, अगर वह उसी प्रकार अन्न खर्च किए जायगा तो, बड़ी दिक़्क़त में फँस जायगा। अगर वह बुद्धिमान होगा तो पहले से ही अपना खर्च कम कर चलेगा (दो दफ़ा न खा कर एक दफ़ा ही खाएगा।) साथ ही कुछ कुछ फलों पर गुज़ारा

करेगा, और कुछ बाग़ बग़ीचों में सब्ज़ी वग़ैरह की खेती कर पेट पालने की सूरत निकाल लेगा। इस तरह वह अपने दिक़्क़त के दिनों को निकालने की कोशिश में व्यस्त हो जायगा।

अब जहां २००० मन गेहूं प्रति सप्ताह बिकता था, वहां के आस पास अगर पाला पड़ जाय और व्यापारी दाम न बढ़ा कर उसी दाम में गेहूं बेंचे जायं, तो फिर बिक्री भी २००० मन से कम न हो, और नतीजा अन्त में यह निकले कि थोड़े ही दिनों में गेहूं चुक जायँ। पर दाम बढ़ाने से होगा यह कि, मांग कम हो जायगी और गेहूं चुकेगा नहीं, तथा लोग गेहूं की जगह अपनी और किसी चीज़ से उदरपूर्ति करने की युक्ति निकालें गे। मतलब यह कि मँहगाई में भी कुछ न कुछ गेहूं तो मिलता ही रहेगा।

उत्पादन और क्रय करनेवालों की बाज़ार में उपस्थिति।

बाज़ार के स्वरूप का वर्णन करते समय कुछ कठिनाइयों को हमने छोड़ दिया था। इस से हमारा अभिप्राय केवल इतना ही था कि जिसमें बाज़ार के समीकरण के तत्व का ज्ञान पाठकों को अच्छी तरह से हो जाय। हमारे उक्त उद्देश्य की पूर्ति हो चुकी, इसलिए, अब हम उन छूटी हुई पेंचदार बातों का भी वर्णन किये देते हैं। पहिली बात यह है कि, हमने पिछले परिच्छेद में यही मान कर वर्णन किया था कि व्यापारी गांवों से गेहूं ख़रीद लाते हैं, और बाज़ारों में आकर बेंच जाते हैं। पर बात इतनी ही नहीं है। क़िसान भी सीधा बाज़ार में बेचने के लिए गेहूं ला सकते हैं और अक्सर लाते भी हैं। जहां पर किसान ख़ुद अपना गेहूं लेकर बेंचने

के लिए आते हैं वहां के खरीदारों और वेंचनेवालों दोनों की ही स्थिति वड़ी पेंचदार हो जाती है। वात यह है कि, किसान को व्यापारियों और दुकानदारों के समान मांग और संग्रह का ज्ञान नहीं हो सकता। वह वाज़ार में आकर जो भाव सुनते हैं, उसी से प्रभावित हो जाते हैं। साथ ही रुपये पैसे की ज़रूरत—ख़र्च की तङ्गी—से भी वह लाचार रहते हैं। कभी कभी (ख़र्च की तंगी होने से) वहुत से किसान अपना अपना गेहूं लेकर वाज़ार में आते हैं, और कभी काफ़ी सन्नाटा रहता है। जिस दिन ज्यादा किसान आ जाते हैं, उस दिन गेहूं के संग्रह का भाग वढ़ जाता है पर मांग तो वही २००० मन की ही होने से दाम गिर जाते हैं। कभी कभी जव कम किसान आते हैं, तव फिर गेहूं भी कम आता है, इस लिए दाम वढ़ जाते हैं। प्रायः किसानों को पूरी पूरी क़ीमत नहीं मिलती, क्योंकि वह ख़रीदारों की मांग का पूर्ण रूप से अनुमान नहीं कर सकते। वह इस मामले में व्यापारियों के समान चतुर नहीं हो सकते। नतीजा यह होता है कि, जव उन्हें रुपये की सख्त ज़रूरत होती है तव उन्हें वाज़ार भाव से भी कुछ कम में माल वेंच देना पड़ता है। इस प्रकार की घटनायें वाज़ार में वहुधा हुआ करती हैं। कोई कोई होशियार भी होते हैं और वह कभी कभी कम दामों में भी सौदा कर लेते हैं तथा ज्यादा दामों में भी वेंच देते हैं, पर इस प्रकार के लोग किसानों में कम होते हैं और अधिकांश किसान प्रायः नुक़सान ही उठाते हैं। परिणाम यह होता है कि, इस प्रकार की वाज़ारों में ऐसे वहुत कम कारवारी मिलेंगे जो

बिल्कुल सही सही समीकृत मूल्य पर सौदा करते हों। कुछ महँगा बेंच जाते हैं और कुछ सस्ता। पर, अगर सब का औसत लगा कर देखा जाय तो औसत के रूप में उनका मूल्य समीकृत मूल्य से अधिक भिन्न नहीं होता।

बाहर से माल आना और जाना।

दूसरी कठिनाई तब पैदा होती है, जब उक्त प्रकार की बाज़ारों में बाहर से माल आने और बाहर को माल जाने के ज़रिये खड़े हो जाते हैं। कल्पना कीजिये कि, उक्त प्रकार के बाज़ार के पास से रेल निकल गई। इससे माल के जाने आने में सुभीता हो गया। कलकत्ता, कानपुर आदि शहरों के गुमाश्ते माल ख़रीदने के लिए आने लगे। पहिले इस प्रकार के गुमाश्तों के आने से वहां की बाज़ार में बड़ी गड़बड़ी मच जायगी। क्योंकि, वहां के व्यापारियों को इन गुमाश्तों की मांगों का कुछ भी ज्ञान न होगा। पर धीरे धीरे उनकी चमक निकल जायगी और वह यह समझने लगेंगे कि यह गुमाश्ते भी ठीक उसी तरह सौदा करते हैं, जिस तरह वह लोग करते हैं। अर्थात् मूल्य बढ़ जाने पर वह भी कम में ख़रीदते हैं और कम हो जाने पर ज़्यादा, यद्यपि अब बाज़ार में ख़रीदारों की संख्या बढ़ जायगी पर उस सिद्धान्त में कोई भी फ़र्क़ न पड़ेगा जिसके अनुसार मूल्य का समीकरण होता है। वहां के स्थानीय व्यापारियों के लिए दूर के लोगों की मांग का अनुमान करना एक कठिन बात होती है क्योंकि उन बेचारों का सारा जीवन स्थानीय मांग और स्थानीय संग्रह के विचार में ही लग गया है। पर यह

गुमाश्ते कलकत्ता, कानपुर आदि बड़ी बड़ी बाजारों के रुख का भी अनुमान लगा लेते हैं। अगर कलकत्ते में भाव महंगा है तो वे वहां खूब खरीद करेंगे और वहां तक खरीदेंगे जहां तक मूल्य बढ़ न जायगा। अगर कलकत्ते में मंदी है तो वे वहां भी खरीद बन्द करके भाव में मंदी पैदा कर देंगे। मतलब यह कि, वहां के स्थानीय व्यापारी भी दूर देशों का रुख जानने के लिए मजबूर हो जाते हैं। अगर वह ऐसा न करें, तो उन्हें परदेशियों के मुक़ाबिले में ठोकर खा जानी पड़े—नुक़सान उठाने पड़ें।

पहिले की बाजारें स्वतन्त्र थीं पर अब परतन्त्र हो गईं। इस प्रकार की परतन्त्रता समस्त भारतवर्ष में फैल गई है। स्वतन्त्र बाजारें अब जहां कहीं हैं वहां अपवाद स्वरूप हैं। पुराने जमाने में परतन्त्र बाजारें अपवाद स्वरूप थीं। छोटे छोटे क़सबों की बाजारों का सम्बन्ध भी अब बड़ी बड़ी कलकत्ते, बम्बई की बाजारों से है। कलकत्ते, बम्बई की बाजारें विलायत के साथ संगठित हैं। सब में प्रायः खत पत्र और तारों के ज़रिये सम्बन्ध स्थापित है। प्रत्येक बाजार में दूसरी बाजारों के तार आना अब मामूली बात है, पर इससे समीकरण के सिद्धान्त में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

व्यापारियों के संघ या जत्थे।

तीसरी कठिनाई और पेंच की बात यह है कि बेचनेवाले और खरीदनेवाले परस्पर मिल जाते हैं। अपना अपना जत्था बना लेते हैं। हमने जिस बाजार का उदाहरण दिया था उसमें इस तरह के जत्थों की बात नहीं थी। इस प्रकार के जत्थे अंग्रेजी में Mono-

polies, rings, trusts, combines, आदि कहलाते हैं। क़ानून के द्वारा इस प्रकार के जत्थों को रोकने का प्रयत्न भी होता रहता है। इन जत्थों का संगठन कैसे होता है, यह प्रश्न ज़रा कठिन है और अर्थ-विज्ञान का एक विशेष अंग है। पर पाठकों को यह विषय आगे अच्छी तरह समझ में आसकेगा, अभी तो उन के लिए इतना जान लेना ही काफ़ी है कि, इस प्रकार के जत्थे क़ीमत में तथा जिनिस के परिमाण में बड़ा अन्तर उपस्थित कर सकते हैं।

उसी के समान गुणवाली दूसरी जिनिस का विचार।

चौथी बात वह है जिसका वर्णन तीसरे भाग में हो चुका है। अर्थात् एक ही आवश्यकता की पूर्ति करने की क्षमता कई प्रकार की जिनिसों में होती है और जब कोई ख़ास जिनिस ज्यादा मँहगी हो जाती है तब लोग मजबूर हो कर दूसरी का स्तेमाल करने लगते हैं। मतलब यह हुआ कि गेहूं के व्यापारी को जौं, चना, आदि के भावों पर भी ध्यान रखना पड़ता है। अगर गेहूं मँहगा है और जौं सस्ते हैं, तो लोग जौं खाने लगेंगे और इस प्रकार गेहूं की मांग कम होने से उसकी क़ीमत भी कम हो जायगी। अगर चावल की फ़सल ख़राब हो गई तो लोग गेहूं खाने लगेंगे और गेहूं की मांग बढ़ कर उसकी क़ीमत भी बढ़ जायगी। छोटी छोटी बाज़ारों के व्यापारियों को भी (जो गेहूं का व्यापार करते हैं) अपनी दृष्टि अन्य प्रकार के नाजों, जैसे जौं, चना चावल आदि पर रखना पड़ती है। पर इससे भी मांग और संग्रह के व्यापक सिद्धान्त पर कोई परिवर्तन नहीं होता। केवल उसके समझने की उलझन बढ़ जाती है।

स्टाक का रोक लेना।

अब पांचवीं महत्वपूर्ण बात की तरफ आइये। व्यापारी प्रायः अपने गेहूं के स्टाक को रोके रहते हैं। पिछले परिच्छेद में हमने यह बात मान ली थी कि व्यापारी जितना गेहूं बाजार में लाते हैं उतना बेंच कर ही जाते हैं। उसमें से वापस नहीं ले जाते। पर व्यवहार में प्रायः ऐसा नहीं होता। वे (ख़ास कर जिनके गोदाम बाज़ार के पास होते हैं) अपने माल को गोदाम में वापस भेज देते हैं। हमेशा यही ज़रूरी नहीं है कि जितना माल बेचना हो उतना बाज़ार में लाया ही जाय, यही कारण है कि, बाज़ार में आई हुई गेहूं की गाड़ियों को ही देख कर कोई यह नहीं कह सकता कि इतना ही नाज विक्री के लिए तैयार है। व्यापारी मांग की तेजी और मंदी देख कर माल बेचने का निश्चय करते हैं। साथ ही ख़रीदारों के पास भी स्टाक में उनकी ज़रूरत से कुछ ज्यादा ही गेहूं रहता है। अगर दाम चढ़े हुए होते हैं तो वह कम ख़रीदते हैं और दाम घटे हुए होने पर ज्यादा। यही हाल बेचनेवालों का भी है, वह भी अपना पड़त देख कर बेचते हैं, और जब पड़त नहीं खाता तब माल को बाजार में वापस भेज देतें हैं। मतलब यह कि, बाज़ार में आये हुए माल को ही देख कर मांग और संग्रह का अनुमान नहीं किया जा सकता। उसके लिए और बातों को विचारने की भी ज़रूरत होती है।

वही ख़रीदार और वही बेंचनेवाला।

अब छठी बात देखिये। हमने पिछले बाज़ार के वर्णन में

वेंचनेवाले और ख़रीदनेवाले अलग अलग लोग माने थे। पर व्यवहार में यह बात भी नहीं होती। बड़ी बड़ी बाज़ारों में एक ही आदमी बाज़ार के भाव को देख कर ख़रीदार और वेंचनेवाला दोनों ही हो सकता है। एकहा व्यापारी ३) मन में गेहूं ख़रीद सकता है। और ३≈) मन में वही वेंच भी सकता है। अगर कुछ दिन के लिए दाम गिर जांय, तो वह इस आशा में कि शीघ्र ही दाम बढ़ेंगे और भी गेहूं ख़रीद सकता है। अगर उस का ध्यान यह हो कि क़ीमत शीघ्र ही गिरेगी तो वह अपना माल शीघ्र ही बेंच भी सकता है। इस तरह से व्यापारी बड़ी बड़ी बाज़ारों में बहुधा मिलते हैं। वह सदा मालूमातों से यही अनुमान लड़ाया करते हैं कि आगे चल कर मांग और संग्रह की क्या दशा होगी और क़ीमत कितनी बढ़ेगी या कितनी घटेगी। सस्ते में ख़रीदने और मँहगे में बेचने के वह एक भी अवसर अपनी कोशिश भर नहीं छोड़ते। अगर उनके अनुमान सही होते हैं तो वह मुनाफ़ा उठाते हैं और अनुमान ग़लत होने से नुक़सान।

जिस बाज़ार में इस तरह के व्यापारी होते हैं, उसका भाव मांग और संग्रह के समीकरण के ही अनुसार रहता है, उस में ज़रा सी भी गड़बड़ी नहीं होती। अगर दाम बढ़ जाते हैं, तो कुछ व्यापारी फ़ौरन वेंचने को तय्यार हो जाते हैं। और कुछ ख़रीदना बंद कर देते हैं। मतलब यह कि उस समय संग्रह की मात्रा बढ़ जाती है और मांग की मात्रा कम हो जाती है। परिणाम यह होता है कि, मूल्य फिर कम हो जाता है। इस तरह की

बाज़ार में क़ीमत हमेशा चढ़ती उतरती रहती है। परन्तु मूल्य के कम होते ही उसके बढ़ने की सूरत हो जाती है और बढ़ते ही कम होने की। मतलब यह कि मूल्य मांग और संग्रह के नियमों के अनुसार ही सदा चढ़ा उतरा करता है।

भविष्य के भाव का अनुमान।

पहले से ही भाव के अनुमान लगाने का नतीजा यह होता है कि व्यापारी लोग एक और प्रकार से व्यापार करने लगते हैं। इसे भविष्य के वादे पर व्यापार करना कहते हैं। अगर आज गेहूं का भाव तीन रुपये मन है और किसी व्यापारी को यह आशा है कि अगले महीने में सवा तीन रुपये मन हो जायगा तो फिर वह जहां तक हो सकेगा गेहूं तीन रुपये के भाव में ख़रीद लेगा और अगले महीने में चार आने मन के मुनाफ़े पर बेच देगा। जब व्यापारी के पास नक़द काफ़ी रुपया खरीदने को नहीं होता तो वह किसी न किसी सूरत से किसी और से उधार ले लेता है। व्यापारी जिससे रुपया लेते हैं उससे यह समझौता करके लेते हैं कि हम अगले महीने में (या जब का वादा हो) रुपया गेहूं बेंच कर चुका देंगे। अब कल्पना कीजिये कि, रामदास और श्यामदास दो व्यापारी हैं। रामदास ने श्यामदास से एक हज़ार मन गेहूं ३) मन के भाव पर अगले महीने की पन्द्रह तारीख़ के वादे पर ख़रीद लिया। अर्थात् रामदास ने जून में श्यामदास से वादा किया कि १५ जुलाई को मैं १००० मन गेहूं तुम से ले लूंगा और तीन हज़ार रुपये गिन दूंगा। अब १५ जुलाई आई। रामदास के अनुमान के अनुसार गेहूं का

मूल्य ३) मन से चढ़ कर ३।) मन होगा। बस रामदास ने अपनी ३) मन की ख़रीद का गेहूं एक शिवदास नामक तीसरे व्यापारी के हाथ ३।) मन के भाव बेंच दिया। इसमें रामदास को ३२५० रुपये मिले। अब तक उसके पास गेहूं नहीं था पर श्यामदास का वादा था। १५ तारीख़ को जब वादे के अनुसार उसके पास गेहूं आये तब उसने शिवदास के हाथ तुरन्त बेंच दिये और बिक्री के ३२५० रुपयों में से ३००० रुपये श्यामदास को दे दिये तथा २५० मुनाफ़े के अपने पास रख लिये। देखिये, रामदास के पास गेहूं नहीं आये, पर उसे मुनाफ़ा हो गया।

इसी तरह के व्यापार का एक पहलू और देखिये। अगर रामदास के ध्यान में यह बात आई कि, अगले महीने गेहूं सस्ता हो जायगा, तो फिर वह श्यामदास के हाथ महीने भर के वादे पर गेहूं बेच देने का वादा कर लेगा। चाहे उसके पास गेहूं न भी हो पर वह इस उम्मीद में वादा कर सकता है कि अगले महीने गेहूं सस्ते हो जांयगे और वह सस्ते गेहूं ख़रीद कर श्यामदास को वादे के अनुसार दे देगा। अब उसी तरह फिर सौदा पक्का हो गया। अब कल्पना कीजिये कि १५ अगस्त के वादे पर रामदास ने श्यामदास के हाथ १००० मन गेहूं बेच दिया। १५ अगस्त के पहिले ही गेहूं का भाव गिर गया और उसने शिवदास से २८०० रुपये में ही १००० मन गेहूं ख़रीद लिया और उसे श्यामदास को देकर अपने वादे के अनुसार ३०००) रुपये ले लिये। इस प्रकार वह २००) के फ़ायदे में रहा। साथ ही यह भी सम्भव है कि रामदास से

अनुमान लगाने में ग़लती हो जाय। अगर ग़लती हुई तो उसे सस्ता गेहूं न मिलेगा। ऐसी दशा में या तो वह अपना वादा तोड़े या फिर जो भाव हो उसी भाव से ख़रीद कर श्यामदास को गेहूं का भुगतान कर अपना वादा पूरा करे। अब अगर रामदास को उस समय ३२०० रुपये में १००० मन गेहूं मिले तो उसे अपनी साख और वादा रखने के लिए ख़रीद कर श्यामदास को देना पड़ेगा और दो सौ रुपयों का नुक़सान उठाना पड़ेगा। मतलब यह कि अनुमान ग़लत होने से उसे लाभ के स्थान में हानि उठाना पड़ेगी।

पाठकों को इस प्रकार के व्यापार महज़ जुए के समान ही मालूम होंगे। जुए में भी इसी तरह हार जीत होती है। पर जुए में और इस प्रकार के व्यापारों में अन्तर यह है कि, जुए में किसी प्रकार का विचार नहीं होता, पर इसमें परिस्थिति का अच्छी तरह अध्ययन करना पड़ता है। यदि परिस्थिति का बिना अध्ययन किए ही इस प्रकार के व्यापार किए जांय तो बड़ी जल्दी दिवाला निकल जाय। क्योंकि वह लोग बाज़ी मार ले जांय जो अच्छी तरह से बाज़ार का अध्ययन कर सौदा करते हैं। बस, यही जुए में और इस प्रकार के व्यापारों में अन्तर है।

आजकल बड़ी बड़ी बाज़ारों के इस प्रकार के व्यापारी जिनिस की मांग और संग्रह का अध्ययन कर तथा, उन समस्त बातों का अध्ययन कर जिनका प्रभाव जिनिस की मांग या संग्रह पर पडता है, सौदा करते हैं। मौक़ा देखकर कभी वह ख़रीदते हैं, कभी बेंचते हैं। कभी उनके पास जिनिस का काफ़ी स्टाक रहता

है और कभी वह पास के स्टाक से भी "ज्यादा" वेचा कर देते हैं। पर व्यापार में उनकी सफलता, उनकी योग्यता और अनुमान लगाने की सच्ची शक्ति के ही ऊपर निर्भर रहती है। अब अगले परिच्छेद में हम इस बात का विचार करेंगे कि, जिनिसों को पैदा करनेवालों तथा उन्हें खर्च करनेवालों का बाज़ार के साथ क्या सम्बन्ध है।

ोक और फुटकर विक्री।

हम यह देख चुके हैं कि, आजकल की वड़ी बड़ी बाज़ारों में बहुत से व्यापारी मांग और संग्रह के नियमों का अध्ययन कर उस से क़ीमत के चढ़ने उतरने का अनुमान किया करते हैं। यही कार्य्य कभी कभी उत्पादन करनेवाले और क्रय करनेवाले भी करते हैं। पर वे ऐसा तभी करते हैं जब ख़रीदने व बेंचने की जिनिस अधिक परिमाण में होती है। जहां पर बड़े बड़े कारख़ानों में सूत कातने का काम होता है, वहां के सूत कातनेवाले आदमी बड़े बड़े व्यापारियों के साथ सूत का काम कर सकते हैं। अर्थात् वह बुने हुए सूत को ख़रीद कर, उसे उन उन स्थानों में भेज सकते हैं जहां उसकी ज़रूरत है। पर हाथ से कपड़ा बुननेवाला जुलाहा, उन बड़ी बड़ी बाज़ारों में जहां सूत की गांठ की गांठ बिकती हैं और जो (बाज़ारें) उस से सैकड़ों कोस की दूरी पर हैं, अपनी ज़रूरत के लिए थोड़ा सा सूत नहीं कात सकता। रुपये दो रुपये के गेहूं का ख़रीदार थोक गेहूं की बाज़ार में गेहूं नहीं ख़रीद सकता। मतलब यह कि थोकबंदी की बाज़ारें और होती हैं तथा फुटकर विक्री की और। फुटकर विक्री की बाज़ारों के व्यापारी

थोक बाजार से सौदा खरीद कर फुटकर में बेंचते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि, फुटकर के खर्च करनेवालों का सीधा सम्बन्ध थोक बाजार से नहीं होता, पर फुटकर की बाजार की मार्फत थोक बाजार से होता है। फुटकर के उत्पादन करनेवालों, और फुटकर के खर्च करनेवालों (जैसे किसान गेहूं को थोड़ी थोड़ी मिक़दार में पैदा करते हैं, और सर्वसाधारण उसे थोड़ा थोड़ा खरीद कर खर्च करते हैं) की स्थिति का (थोक बाजार के सम्बन्ध में) अब हम विचार करेंगे और यह देखेंगे कि फुटकर और थोक की बाजारों का इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि, हम कह सकते हैं कि समस्त संसार की एक ही बाजार है।

फुटकर बिक्री की क़ीमत।

जिस मनुष्य को अपने कुटुम्ब के लिए गेहूं की आवश्यकता होती है, वह मामूली दूकानदार के यहां से खरीद लिया करता है। वह क़ीमत स्थिर करने के लिए बहुत झक झक नहीं करता। दुकानदार ही क़ीमत स्थिर करता है और सस्ता मंदा जैसा हुआ, खरीदार को खरीदना पड़ता है। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि व्यक्तिगत खर्च करनेवाले का क़ीमत के स्थिर होने में कोई प्रभाव ही नहीं पड़ता, परन्तु, व्यक्तिगत लोगों की r पर भारतक्त स्थिर करने में प्रधान कारण होती है। दुकुत से गांवों में तो प्रा का पता रहता है कि अमुक भाव में.ह किसानों से उधार व्यवहबिक ----णा। बस फि---थाज़ आदि अन्य बातों से भी किसालेए दबे रहते ५ैं। जिस गांव की उक्त प्रकार की दशा हो, वहां अगरही

ज़्यादा क़ीमत लेता है, वह बहुत ज़्यादा क़ीमत नहीं ले सकता, क्योंकि उसे दूसरे दुकानदारों से भी प्रतियोगिता करना पड़ती है। और अगर कोई दुकानदार ज़्यादा क़ीमत रखदे तो ग्राहक उसकी दुकान पर गेहूं न ख़रीद कर ऐसे की दुकान पर ख़रीदेंगे जो वाजिब दाम लेता होगा; इसी भय से, फुटकर के व्यापारी उतना ही मुनाफ़ा लेते हैं जितना वाजिब होता है। अगर वह ग़ैरवाजिब मुनाफ़ा लें, तो उनकी बिक्री कम हो जाय। उनके ग्राहक टूट जांय।

ख़रीदारों की मांग का प्रभाव।

अगर बाज़ार में थोड़े से ही गेहूं वेचनेवाले हों तो वह मिल कर फुटकर बिक्री में गेहूं के दाम बढ़ा सकते हैं। किन्तु उनकी इस जालसाज़ी का पता ग्राहकों को भी लग जायगा, छिप नहीं सकता। इस स्थान पर इसका वर्णन करना उतना महत्वपूर्ण नहीं है। बाज़ार के दृष्टिकोण से फुटकर के दुकानदारों का मुख्य काम यही है कि वह लोगों की मांग को प्रदर्शित करें। जिस प्रकार से वह इस काम को करते हैं उसका वर्णन हो चुका है। छोटी छोटी बाज़ारों में जो बड़ी बड़ी बाज़ारों के व्यापारियों के गुमाश्ते रहते हैं, वह जो (बाज़ा... ...कर ख़रीदनेवालों की मांगों की सूचना अपने मालि...रत के लिए थोड़ा हैं। इस प्रकार बड़ी बड़ी बाज़ारों में सब स्था... गेहूं का ख़रीदार थोक ...चता रहता है। इससे स्पष्ट ही है कि ...सकता। मतलब यह कि थोकख़रीदारों की मांगों का ...ना ...फुटकर बिक्री की ओर। फुटकर बिक्री की बाज़ार ... व्यापारी

उत्पादन करनेवालों की स्थिति।

यह तो फुटकर ख़रीदारों की बात हुई। अब उत्पन्न करने वाले किसानों की तरफ़ आइये। इनका मामला निराला है। अगर किसान खुद ही बाज़ार मे अपना गेहूं बेचने जायगा तो वह घाटे में रहेगा। इस बात का वर्णन हम कर ही चुके हैं। बाज़ार में जा कर जब उसे मूल्य कम मिलता देख पड़ता है, तब वह अपना गेहूं लेकर घर वापस चला जाता है, और फिर अगली बाज़ार में बेचने के लिए लाता है। पर बार बार लाना और ले जाना भी उसकी नाकों में दम कर देता है। इसीलिए, जब वह अच्छी तरह उकता जाता है और जब साथ ही उसे रुपये की सख्त ज़रूरत हो जाती है तब वह मजबूर होकर अपना माल कुछ घाटे में ही बेच देता है। अब अगर वह व्यापारी के हाथ गांव में ही अपना माल बेचे तो भी उसके लिए कम दिक़तें नहीं हैं, क्योंकि, आज बाज़ार का क्या भाव है यह जानने के किसान के पास साधन नहीं रहते, और फल यह होता है कि व्यापारी उसे कुछ कम दाम देकर माल ले जाते हैं। अगर गांव में कई व्यापारी हों, और वे आपस में प्रतियोगिता कर किसानों को ठीक मूल्य देकर गेहूं ख़रीदें, तो फिर स्थिति किसानों के लिए ठीक हो सकती है। पर भारतवर्ष के देहातों में प्रायः कम व्यापारी होते हैं। बहुत से गांवों में तो प्रायः एक ही व्यापारी होता है, और वह क़िसानों से उधार व्यवहार भी करता है। उधार के व्याज आदि अन्य बातों से भी किसान दबे रहते हैं। जिस गांव की उक्त प्रकार की दशा हो, वहां अगर

अर्थ-विज्ञान के पाठक जाकर देखें तो उन्हें पता लगेगा कि बाज़ार के भाव से गांव के "फ़सली भाव" में बड़ा फ़र्क़ है। यद्यपि यह अँधेर की बात अब बहुत कुछ कम हो रही है तो भी अभी इसका प्रचार बहुत अधिक है। इस ओर अर्थ-विज्ञान के ज्ञाताओं को ध्यान देने के लिए बड़ा क्षेत्र है, उन्हें ध्यान देना चाहिए और किसानों के उक्त कष्ट को दूर करने के उपाय सोचना चाहिये।

यद्यपि यह अन्धेर जारी है, तथापि इस अंधेर की भी एक सीमा है अर्थात् एक सीमा तक ही गांव के व्यापारियों को सस्ता नाज मिल सकता है, उसके आगे नहीं। अर्थविज्ञान की दृष्टि में यह सीमा बड़ी महत्व की है। इसलिए यहां पर हम इसका भी कुछ विचार करेंगे।

क़ीमत की दर और उत्पादन में होनेवाले खर्च।

इस अध्याय के प्रारम्भ में हम इस बात का वर्णन कर चुके हैं कि किसान उसी सीमा तक मेहनत करके खेती करते हैं. जहां तक उत्पन्न की जानेवाली वस्तु की उपयोगिता का, उत्पन्न करने में होने वाली अनुपयोगिता से समीकरण नहीं हो जाता। जब तक वह उत्पादन का काम जारी रखते हैं तब तक यह समीकरण रहता है, पर यह समीकरण, उत्पन्न करने में होनेवाले श्रम की अनुपयोगिता और उत्पन्न किये हुए नाज के बेचने से मिलनेवाले रुपयों पैसों की उपयोगिता में ही होता है। किसान ने एक एकड़ ज़मीन में खेती की, खेती करने के बाद अगर देखा कि इससे पूरा नहीं पड़ा—श्रम सार्थक नहीं हुआ—तो निराश हो जायगा। अपनी फ़सल

की पैदावार को जहां तक हो सकेगा ज़्यादा दामों में बेंच कर चुप बैठ जायगा। आगे खेती करना ही छोड़ देगा। या कम खेती करेगा। मतलब यह कि, अगर नाज की क़ीमत बहुत गिर गई, अर्थात् इतनी गिर गई कि उससे किसान के श्रम का उपयुक्त पुरस्कार न मिला, तो फिर किसान क्यों अधिक खेती कर अधिक परेशानी का बोझ उठायेगा? जब किसान इस प्रकार से कम खेती करेंगे, तब नाज भी बाज़ार में बिकने के लिए कम जायगा। नतीजा यह होगा कि, व्यापारियों को नाज का मूल्य बढ़ाना पड़ेगा, और इस प्रकार किसानों को जब काफ़ी उजरत मिलने लगेगी तब वे काफ़ी खेती करने लगेंगे। तो इससे यह बात स्पष्ट हो गई कि गांव के अकेले व्यापारी को चाहें दूसरे व्यापारियों की प्रतियोगिता न भी करना पड़े, तो भी, उसे इस बात का ख़्याल तो रखना ही पड़ता है कि गांववालों को अगर काफ़ी उजरत न मिलेगी तो वह खेती ही क्यों करेंगे, और ऐसी दशा में, उसका व्यापार ही कैसे चलेगा? अगर बाज़ार का भाव गिर जायगा तो गांवों की खेती आप ही कम हो जायगी। क्योंकि, फिर कम उजरत मिलने के कारण किसान खेती करना ही कम कर देंगे। पर अगर बाज़ार का भाव चढ़ जायगा तो फिर किसान भी अधिक मूल्य मिलने के लोभ में खेती बढ़ा देंगे। खेती के कम ज़्यादा होने के और भी कई कारण हैं, उन्हीं कारणों में उक्त कारण भी है। यद्यपि सब तरह की खेतियों की बाबत यह बात नहीं कही जा सकती कि मूल्य बढ़ जाने से ही खेती का विस्तार और मूल्य घट जाने से ही खेती का संकोच होता

है, तो भी यह बात गेहूं, कपास, गन्ना आदि की खेती के सम्बन्ध में कही जा सकती है। इस प्रकार की खेती, जो सिर्फ़ पैदा करके बेच देने के ही लिए की जाती है, बहुत कुछ क़ीमत की कमी बेशी के साथ ही घटती बढ़ती रहती हैं। कितने भाव के बढ़ने पर देश में कितनी खेती का विस्तार हुआ, इस बात को जानने से बहुत कुछ मूल्य और खेती के विस्तार के सम्बन्ध में बातें जानी जा सकती हैं।

अब हम इस बात का विचार कर चुके हैं कि उत्पादन करनेवालों और ख़र्च करनेवालों का प्रभाव जिनिस के थोक बाज़ार पर किस प्रकार पड़ता है। ख़र्च करनेवालों की मांगों में परिवर्तन किस प्रकार होता है, किस प्रकार मूल्य का प्रभाव उत्पादन की कमी बेशी का कारण होता है। बड़े बड़े बाज़ारों के थोक व्यापारियों के पास छोटी छोटी बाज़ारों की ख़बरें किस प्रकार पहुंचती हैं और वह उन ख़बरों से (कि खेती कम हुई है या अधिक) संग्रह का अनुमान किस तरह लगा लेते हैं।

थोक बाज़ार में कई प्रकार के लोग होते हैं। उसमें बहुत से बेचनेवाले होते हैं। उन बेचनेवालों में भी बहुत से किसान या किसानों के गुमाश्ते (जो वास्तव में बेचना चाहते हैं) होते हैं। साथ ही ऐसे बेचनेवाले भी होते हैं जिनके पास मालवाल कुछ नहीं होता पर सिर्फ़ ज़ुबान पर काम करते हैं। यह लोग सट्टेबाज़ कहलाते हैं। कुछ ऐसे ख़रीदार होते हैं जो अपने कार्य्यालयों के ख़र्च के लिए ख़रीदना चाहते हैं। कुछ ऐसे होते हैं जो दुबारा

फिर वेचने के लिए खरीदते हैं। इस तरह के खरीदार और व्यापारी दोनों ही उन बातों की ओर बगुले की सी दृष्टि लगाये रहते हैं जिनसे मूल्य में परिवर्तन होने की सम्भावना होती है। यह लोग रोज रोज़ इस बात के गुन्ताड़े लगाया करते हैं कि अब एक दिन में, एक सप्ताह में और एक महीने में, या इससे कम ज्यादा में, बाज़ार के भाव में क्या परिवर्तन होनेवाले हैं। इस प्रकार के गुन्ताड़े जो सही सही लगाता है वह शीघ्र ही लक्ष्मीपुत्र बन जाता है। जिसके गुन्ताड़ों में ग़लतियां रह जाती हैं, वह दिवालिया हो जाता है। बाज़ार के भावों की खबरें अख़बारों में अलग ही छपती हैं। कलकत्ते, बम्बई के बड़े बड़े अंगरेज़ी के अख़बार व्यापार समाचारों को खूब विस्तार से छापते हैं। पर हिन्दी के अख़बारों में अभी उतने विस्तार के साथ व्यापार समाचार नहीं छपते।*

यद्यपि ऊपर के वर्णन से यह स्पष्ट है कि, थोक बाज़ारों में भिन्न भिन्न प्रकार के लोग रहते हैं, पर ध्यानपूर्वक देखने से ज्ञात होगा कि, उन सब का लक्ष्य एक ही है, अर्थात् वह सभी मांग और संग्रह के नियमों का अध्ययन किया करते हैं। प्रत्येक मनुष्य इसी विचार में डूबा रहता है कि अमुक जिनिस की कितने प्रमाण की कितने मूल्य में कितनी मांग होगी और कितने मूल्य में कितनी जिनिस वेचने के लिए प्रस्तुत की जा सकेगी। मतलब यह कि इस

---

* कुछ वर्षों से हिन्दी में भी कई ऐसे दैनिक पत्र निकलने लगे हैं। जिनके प्रकाशक बहुत रुपया खर्च करके व्यापार समाचार मंगाते हैं और छापते हैं लोगों की रुचि इस ओर बढ़ रही है।

मांग और संग्रह की समीकृत क़ीमत क्या होगी। बस प्रत्येक मनुष्य इसी प्रकार के विचारों में डूबा रहता है और यही उसकी जीविका होती है।

माध्यमिक समीकरण माध्यमिक क़ीमत।

हम इस बात का विचार कर चुके कि फुटकर की क़ीमतें बड़ी बड़ी बाज़ारों की थोक क़ीमतों के अनुसार ही होती हैं, साथ ही हम यह भी देख चुके कि, थोक की क़ीमतें भिन्न भिन्न कारणों से चढ़ा उतरा करती हैं। परन्तु, नित्यप्रति के अनुभव से हमें ज्ञात होता है कि, सर्वसाधारण लोगों की निगाह में प्रत्येक जिनिस की एक "माध्यमिक क़ीमत" (Standard price) होती है। जब उससे क़ीमत बढ़ जाती है तब लोग कहते हैं कि, अमुक वस्तु मँहगी हो गई, तथा, जब उससे उतर जाती है, तब कहा जाता है कि वस्तु सस्ती हो गई। केवल सर्वसाधारण लोगों में ही माध्यमिक क़ीमत का आस्तित्व नहीं, परन्तु थोक की बाज़ारों में भी है। इसे वहां भी "मामूली क़ीमत" या माध्यमिक मूल्य कहते हैं। इन दोनों का अर्थ एक ही है। हमारा कहने का मतलब यह नहीं है कि माध्यमिक मूल्य सदा वैसा ही बना रहेगा, पर हमारा मतलब सिर्फ़ यह है कि मूल्य का अपने माध्यमिकता से हटना अपवादों में गिना जाता है और जब कभी मूल्य इस प्रकार से हटता है तब यही आशा की जाती है कि वह शीघ्र ही फिर अपने स्थान पर आ जायगा। जब हम कहते हैं कि, क़ीमत बहुत बढ़ गई या बहुत कम हो गई, तब हमारा अभिप्राय यही होता है कि, क़ीमत अपनी माध्य-

मिकता से वढ़ गई, या कम हो गई। उत्तरीय भारत के लोग ७ सेर गेहूं की क़ीमत जब १) रु० होती है, तब कहते हैं कि, गेहूं की माध्यमिक क़ीमत है। जब गेहूं पांच सेर का रह जाता है, तब कहा जाता है कि गेहूं मँहगा हो गया, तथा जब ८ या नौ सेर का होता है, तब कहा जाता है कि गेहूं सस्ता हो गया।

माध्यमों में परिवर्तन।

माध्यमिक क़ीमत का विषय वड़े महत्व का है। हम इस वात का विचार करेंगे कि, वाज़ार भाव के साथ इसका कैसा सम्बन्ध है। इस जगह यह वात वतला देना ठीक होगा कि माध्यमिक क़ीमत भी वदला करती है और वह समय के अनुसार वदलती है। आज सात सेर का भाव या क़ीमत माध्यमिक क़ीमत है, पर कभी १६ सेर गेहूं की एक रुपये की क़ीमत मामूली क़ीमत थी। इससे भी पहिले कभी रुपये का २४ सेर गेहूं विकता था और उसे लोग माध्यमिक क़ीमत कहते थे। पुराने ज़माने के वह लोग जिन्होंने अपनी जवानी में १६ सेर का गेहूं खरीदा है ७ सेर की क़ीमत को वहुत मँहगा वतलाते हैं। जिन लोगों ने ७ सेर की क़ीमत को माध्यमिक क़ीमत मान लिया है उनकी निगाह में १६ सेर की क़ीमत वहुत ही सस्ती क़ीमत है। वाजार भाव तो रोज़ रोज वदलता है पर माध्यमिक क़ीमत वहुत दिनों में वदलती है, पर वदलती ज़रूर है। यह वात भी है कि वह धीरे धीरे और क्रमशः वदलती है।

शिल्पावस्था का उदाहरण।

माध्यमिक मूल्य का विचार करने के लिए गत परिच्छेद में

कही हुई उन बातों की ओर ध्यान देना आवश्यक है जिनमें कहा गया है कि उत्पन्न करनेवाला उत्पादन के मूल्य की उपयोगिता की तुलना उत्पन्न करने में होनेवाले परिश्रम की अनुपयोगिता से करता है। इस बात को अच्छी तरह समझने के लिए किसी ऐसे औद्योगिक उदाहरण को लेना चाहिए जो फ़सलों के ऊपर निर्भर न हो। गेहूं की उत्पत्ति के उदाहरण से बात अच्छी तरह समझ में न आयेगी; क्योंकि किसान, अपनी खेती को घटाने बढ़ाने या बंद करने का निश्चय साल भर में दो ही बार कर सकता है। यह ज़रा दिक़्क़त की बात है इसलिए हमें गाढ़ा (खद्दर) बनानेवाले का उदाहरण लेना चाहिए। जुलाहा अपने करघे पर सदा कपड़ा बुनता है, और उसके बेचने से जो आय होती है उसी से वह सूत ख़रीदता और अपनी जीविका चलाता है। जीविका चलाने भर को ही, कल्पना कीजिए कि, उसे आय होती है और उसके पास जमा करने के लायक़ आय नहीं होती। अब कल्पना कीजिए कि गाढ़े के थानों के दाम गिर गये और जुलाहे को अपनी जीविका चलाने में दिक़्क़त होने लगी। जितना कपड़ा उसके पास बना बनाया तैयार है, उसे तो वह बेचेगा ही, और अपने ख़र्च को किसी न किसी प्रकार से घटा कर वह दिन निकालेगा ही, पर यदि अधिक दिनों तक मूल्य न बढ़ा, गाढ़े का कपड़ा वैसा ही सस्ता रहा, महँगा न हुआ, तो फिर वह अधिक दिनों तक, अपने काम को जारी न रख सकेगा, वह अब उधार रुपया लगा कर घाटा न उठा सकेगा—उसे पेट के लाले पड़ने लगेंगे। जुलाहों के

पास यद्यपि यह जानने के साधन मौजूद नहीं हैं कि, मूल्य कम होने के कारण क्या होते हैं, तथापि, ऐसे मौक़ों पर वह इतना ज़रूर जान जाते हैं कि, अब इस काम से उदरपूर्त्ति होना कठिन है, इसलिए, कुछ और फ़िक्र करना चाहिए। जब ऐसा समय आ कर उपस्थित होता है, तब सब जुलाहे एकसा ही आचरण नहीं करते, कुछ (जिनके करघे पुराने होते हैं और मरम्मत चाहते हैं) अपने करघे एक तरफ़ उठा कर धर देते हैं और मज़-दूरी करने लगते हैं। कुछ मनचले, शहरों की तरफ़ निकल जाते हैं, और कुछ ऐसे भी होते हैं जो मौक़े पर—फ़सल पर—मज़दूरी भी कर लेते हैं और फ़ुर्सत के वक्त में अपना कपड़ा बुनते हैं। पर सबका नतीजा यही होता है कि गाढ़े का कपड़ा कम तैयार होता है, क्योंकि, काम करनेवाले कम रह जाते हैं, इससे गाढ़े के कपड़े की बाज़ार में कमी हो जाती है, तदनुसार जैसा कि हम पहले कह चुके कि कम संग्रह होने से दाम बढ़ जाते हैं। ऐसी दशा में, यह सम्भव नहीं कि क़ीमत उतनी ही गिरी रहे, वह बढ़ेगी—और यहां तक फिर बढ़ेगी जहां पर जाकर उस गाढ़े की बिक्री से इतनी आय होने लगेगी कि उसको बनानेवाले जुलाहों की उदर-पूर्त्ति मज़े में हो जाया करेगी।

अब दूसरी तरफ़ आइये, और कल्पना कीजिए कि, गाढ़े के दाम बहुत बढ़ गए। यहां तक बढ़ गए कि जुलाहों के पास अपना ख़र्च निकाल कर भी बहुत कुछ दाम बचने की सूरत होगई। तो क्या होगा? उत्तर यह है कि ऐसी हालत में दो बातें हो सकती हैं, एक

तो यह कि उद्योगी जुलाहे अधिक कपड़ा बुनेंगे और अधिक पैदा करेंगे, तथा अधिक ख़र्च कर आनन्द भोगेंगे व बचायेंगे, साथ ही जो आलसी जुलाहे होंगे वह सोचेंगे कि "यार, खाने को काफ़ी हो ही जाता है, अब काम की झंझट में कौन सर मारे।" यह सोच कर वह कम काम करेंगे और आलस्य में दिन बिताने लगेंगे।

विलायत के देशों में ऐसी दशा उत्पन्न होते ही पहिली हालत हो जायगी। वहां के जुलाहे खूब धन कमाने की लालसा में खूब जी तोड़ परिश्रम करेंगे। वह नये नये करघे लायेंगे। उत्तम उत्तम सूत लायेंगे और पहिले से भी बढ़िया थान बनाने की और पहले से भी ज्यादा कमाने की जीतोड़ कोशिश करेंगे। इस प्रकार कपड़े का उत्पादन बढ़ जायगा, और परिणामस्वरूप उसका मूल्य भी गिर जायगा।

पर भारतवर्ष की पतित दशा की ओर देख कर यह कहने का साहस नहीं होता कि यहां के लोग (जुलाहे) भी ऐसा ही करेंगे। यहां शायद आलसी ज्यादा निकलें। यहां के जुलाहे शायद अधिक धन कमाने में कष्ट उठाने से चुपचाप आराम करना अधिक पसन्द करें। शायद वह उत्पादन बढ़ाने के स्थान में घटा दें। अगर ऐसा हुआ तो संग्रह में और भी कमी हो जायगी। मूल्य और भी बढ़ जायगा। पर अब हम इसी विषय की अत्यन्त गहराई में चले गए, इतने गहरे में जाकर विचार करने से शायद पाठकों को कठिनाई प्रतीत हो। इसलिए हमारा निवेदन है कि इस प्रकार के मामले को अपवादस्वरूप समझ कर छोड़ दीजिए

और कल्पना कर लीजिए कि सर्वसाधारण जुलाहे ऐसा नहीं करेंगे, वह उद्योगी बनेंगे और धन कमाने का मौक़ा न छोड़ेंगे नतीजा यह होगा कि उत्पादन बढ़ जायगा ।

परन्तु यह कहने का साहस नहीं होता कि ऐसी दशा में उत्पादन बढ़ ही जायगा ; क्योंकि, भारत की दशा विचित्र है, यही कारण है कि हम माने लेते हैं कि उत्पादन बढ़ जायगा । अगर उत्पादन बढ़ गया तो (अगर न बढ़ा तो नहीं) नतीजा यह होगा कि कपड़े का संग्रह बढ़ जायगा और हमारे पूर्व के निर्णय किये हुए सिद्धान्तों के अनुसार बढ़ा हुआ मूल्य फिर उतर जायगा । इस प्रकार स्पष्ट है कि उत्पादन की दूसरी अवस्था शिल्पावस्था में भी उसी परिस्थिति में वही बात होती है । अर्थात् एक माध्यमिक मूल्य होता है। जब कभी मूल्य उस परिमाण से घट बढ़ जाता है तब उत्पन्न करनेवालों की स्वाभाविक क्रियायें ही ऐसी होने लगती हैं कि मूल्य फिर अपने परिमाण पर लौट आता है । अगर मूल्य गिर जाता है तो उत्पादन कम हो जाता है, इसलिए मूल्य को फिर बढ़ना पड़ता है। अगर मूल्य बढ़ जाता है तो उत्पादन भी बढ़ जाता है जिस से मूल्य को फिर घटना पड़ता है। मतलब यह कि मूल्य का माध्यम प्रायः वही रहता है जिसकी आय से शिल्पी का योगक्षेम चल सके।

"उसी परिस्थिति में" वाक्य पर जो छोटे अक्षरों में लिखे गये हैं अधिक ध्यान देना चाहिये। अगर नियमों को ध्यान से हटा दिया जाय तो यही ज्ञात होगा कि परिमाणित मूल्य कभी बदल

ही नहीं सकता। पर वास्तव में बात यह है कि, परिमाणित मूल्य भी बदलता है। चूंकि स्थिति बदलती रहती है, इसीलिए माध्यमिक मूल्य भी बदलता रहता है। यह बात शिल्पावस्था के सम्बंध में जिस प्रकार लागू है उसी प्रकार कार्य्यालयावस्था के सम्बन्ध में भी है। अब इसका विचार कीजिए।

कार्य्यालयावस्था का उदाहरण।

शक्कर का उदाहरण लीजिये, शक्कर के कार्य्यालय (शुगर मिल्स) बाज़ार से गुड़ ख़रीदते हैं और उस से सफ़ेद शक्कर बना कर बेंचते हैं। अब यह कल्पना करलीजिये कि शक्कर बनाने की विधि में जो शीरा तय्यार होता है उसकी बिक्री से मुनाफ़े पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। यह नहीं कहा जा सकता कि शिल्पियों की भांति कार्य्यालय भी अपने योगक्षेम मात्र का ही अर्जन करते हैं। यह ज़रूर कहना पड़ेगा कि कार्य्यालयावस्था में भी उसी प्रकार उत्पादन के ख़र्चों के अनुसार ही जिनिस का माध्यमिक मूल्य स्थिर होता है जिस प्रकार शिल्पावस्था में। उत्पादन के ख़र्च किसे कहते हैं इसका तो पाठकों को आगे चल कर स्वतंत्ररूप से अध्ययन करना पड़ेगा, पर अभी उन्हें इतना ही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, इसमें निम्न तीन बातें शामिल हैं। (१) साधनों का मूल्य, जैसे, कोयला आदि सामान। (२) इमारतों और मशीनों का मूल्य (३) काम करनेवाले मजदूरों और बाबू लोगों की तनख़्वाहें (४) मालिक का मुनाफ़ा। उक्त तीन बातों के कुल ख़र्च प्रत्येक कार्य्यालय में जोड़े जाते हैं और उनके खर्चों को जोड़

फ़र फिर शक्कर की कुल तय्यारी को देख कर ख़र्च में मालिक के मुनाफ़े के लिए कुछ रक़म मिला कर फिर अंकगणित के नियमों के अनुसार एक मन शक्कर का दाम निकाला जाता है। मालिक के मुनाफ़े के सम्बन्ध में हम "वितरण" का वर्णन करने के समय अपने विचार प्रकट करेंगे, अभी तो सिर्फ़ इतना समझना ही काफ़ी है कि कोई भी विना लाभ के अपनी पूँजी का उपयोग न करेगा और न कोई काम ही मुफ़्त में करेगा; इसलिए मालिक के मुनाफ़े की गणना भी करना चाहिये।

कल्पना कीजिये कि, एक ऐसे कार्य्यालय में जिसमें कोई जाल-फ़रेब नहीं है, एक मन शक्कर तैय्यार करने में ८) का ख़र्च पड़ता है, इसमें १) फ़ी मन मालिक के उचित मुनाफ़े को मिला कर ९) मन शक्कर का मूल्य होता है। अब अगर शक्कर का बाज़ार भाव ९) मन होगा तो कार्य्यालय के मालिक को सन्तोष रहेगा कि उसका रुपया एक अच्छी मद में लगा है। पर यदि शक्कर का बाज़ार भाव गिर कर ८) मन रह जाय तो क्या होगा? होगा यह कि कार्य्यालय का मालिक यह सोच कर कि अब इस काम में मुनाफ़ा नहीं रहा शक्कर बनाना कम कर देगा। इससे बाज़ार में शक्कर की कमी हो जायगी और फलस्वरूप शक्कर के दाम फिर चढ़ जांयगे। प्रायः जब थोड़े समय के लिए मूल्य गिरता है तब कार्य्यालयवाले शक्कर का बनाना कम नहीं करते किन्तु शक्कर को अपने गोदामों में भर लेते हैं और उस समय बेचते हैं जब बाज़ारभाव उनके अनुकूल होता है। कभी कभी ऐसा होता है कि भाव गिर

जाने पर कार्य्यालय में कम काम कराया जाता है—कुछ मशीनें बन्द की जातीं, वा काम के घन्टे कम कर दिये जाते हैं, मतलब यह कि कार्य्यालय का मैनेजर जैसा मौक़ा देखता है वैसा करता है।

जब मूल्य गिर जाता है तब कार्य्यालयों के मालिक ऐसी कोशिश करते हैं कि जिससे दाम फिर चढ़ जाते हैं। इस प्रकार के कारख़ानों की कोशिशें होशियारी और दूरदर्शितापूर्ण होती हैं। पर शिल्पी लोगों की इस प्रकार की कोशिशे दूरदर्शिता या चतुराई के कारण नहीं होतीं स्वाभाविक वुद्धि के अनुसार होती हैं। किन्तु नतीजे दोनों के एक ही होते हैं। अब कल्पना कीजिये कि शक्कर के दाम बढ़ कर १०) मन हो गये तो क्या होगा, इसे आप शिल्पियों के उदाहरण के अनुसार ही समझ लीजिए कि कारख़ानेवाले को ज्यादा मुनाफ़ा होगा और वह ज्यादा मुनाफ़े के लिए जहां तक होगा ज्यादा उत्पादन की कोशिश करेगा। ऐसा होने से संग्रह बढ़ जायगा और भाव फिर उतर जायगा।

तो फिर—यह स्पष्ट हो गया कि तीसरी अवस्था कार्य्यालयावस्था में भी माध्यमिक मूल्य होता है, और जब बाज़ारभाव इस से उतरता चढ़ता है, तब ऐसी कोशिशें की जाती हैं कि वह फिर उसी जगह पर आ जाता है। शिल्पावस्था में भी ठीक यही बात होती है, इसका वर्णन हम कर ही चुके हैं। शिल्पावस्था में माध्यमिक मूल्य का स्तम्भ शिल्पियों का योगक्षेम होता है, पर कार्य्यालयावस्था में उसी को हम उत्पादन के ख़र्च के नाम से कहते हैं।

ध्यानपूर्वक देखने से विदित हो जायगा कि, शिल्पियों के योगक्षेम में भी वही मद्दें हैं जो कार्य्यालयावस्था में उत्पादन के खर्चों में। तत्व की बात दोनों में एक ही है, शिल्पावस्था में छोटी सीमा में ही और कार्य्यालयावस्था में बड़ी सीमा में।

सब का मतलब यह हुआ कि, जब तक उत्पादन में किसी का ठेका नहीं होता—किसी का एकाधिकार नहीं होता—तब तक माध्यमिक मूल्य का आधार उत्पादन में होनेवाले खर्च ही होते हैं। जब तक उत्पादन के खर्चों में परिवर्तन नहीं होता, तब तक माध्यमिक मूल्य में भी परिवर्तन नहीं होते, थाड़े समय के लिए बाजार-भाव ऊपर नीचे हो जाता है, पर संग्रह की मात्रा में परिवर्तन होते ही फिर वह अपने माध्यम पर आ जाता है।

इसका एक अपवाद भी है और वह अपवाद तब उत्पन्न होता है जब दाम बढ़ जाने पर शिल्पी अधिक मेहनत नहीं करते और आलसी हो जाते हैं। इसका अधिक विस्तार से वर्णन करना हम स्थगित करते हैं।

जहां उत्पादन में किसी एक का ठेका—एकाधिकार—होता है, वहां की बातों में उक्त नियम नहीं लगा सकते। यह ठेके का एकाधिकार का विषय ही दूसरा है, और यह आगे चल कर पाठकों का ध्यान आकर्षित करेगा।

अगले परिच्छेद में हम इस बात का विचार करेंगे कि उत्पादन के खर्चों में परिवर्तन हो जाने से, खर्च करने वा क्षय करने की स्थिति बदलजाने से, किस प्रकार माध्यमिक मूल्य बदल जाता है।

अठारहवां परिच्छेद।

उत्पादन के व्ययों में परिवर्तन।

पिछले परिच्छेद में हम इस बात का विचार कर चुके कि जब तक उत्पादन और क्षय की परिस्थितियों में परिवर्त्तन नहीं होता तब तक माध्यमिक मूल्य उत्पादन के ख़र्चों के बराबर ही रहता है। अब हम इस परिच्छेद में इस बात का विचार करेंगे कि यह व्यावहारिक संसार में कहां तक सत्य है।

उत्पादन के ख़र्चों का प्रबन्ध।

इसका यह अर्थ नहीं है कि, कभी किसी समय उत्पादन की समस्त परिस्थिति एक सी ही रहती थी, अथवा उत्पादन के ख़र्च एक से ही समस्त कार्य्यालयों में रहते हैं। कार्य्यालय के प्रबन्धकों की दृष्टि में दो बातें रहती हैं। पहली बात तो यह कि वह सदा यही कोशिश करते हैं कि उनके कार्य्यालय के उत्पादन के ज़्यादा से ज़्यादा दाम मिलें, और दूसरी यह कि, माल तैयार करने में उनका कम से कम ख़र्च पड़े। होशियार प्रबन्धक सदा इसी कोशिश में रहता है कि किस तरह से सस्ते और होशियार मज़दूर मिलें। साथ ही उसे यह भी विचार करना पड़ता है कि अमुक कार्य्य मज़दूरों से कराने से सस्ता पड़ेगा या मशीनों से। कच्चा माल सस्ते दामों में ख़रीदने और जिस तरह से हो सके ख़र्च को कम करने का उसे सदा ध्यान रहता है।

चूंकि, प्रत्येक जगह के ख़र्चों में और प्रबन्धकों की योग्यता में समता नहीं होती, इसलिए भिन्न भिन्न कार्य्यालयों के ख़र्चे भी भिन्न भिन्न होते हैं। उदाहरण लीजिए, किसी कार्य्यालय में शक्कर के उत्पादन का ख़र्च ९) रु० मन, तो किसी में ८) रु० और किसी में ९॥) रु० हो सकता है। जिस कार्य्यालय में किफ़ायत से काम होगा, उसे मुनाफ़ा भी अच्छा होगा। परन्तु यह ख़र्चे समय समय पर भिन्न भिन्न कार्य्यालयों में घटते बढ़ते रहते हैं इसलिए अगर सब का औसत देखा जाय तो प्रायः एकसा ही मुनाफ़ा सब को रहता है। पर शर्त यह है कि, सब कार्य्यालयों की पूँजी भी बराबर हो। तब फिर सिद्ध यह हुआ कि कार्य्यालयों के खर्चों का भी एक माध्यम नियत होता है और उसी के अनुसार माध्यमिक मूल्य स्थिर होता है।

यहां पर एक बात याद रखने की है, और वह यह है कि, इस ख़र्च के परिमाण में माध्यम और व्यय की स्थिति में रद्दोबदल होने से बहुत कुछ परिवर्तन हो जाता है। यह कल्पना की जा सकती है कि, कोई स्थान ऐसा हो, जहां की आबादी स्थिर हो, वह घटती बढ़ती न हो, वहां के लोग एक नियत मात्रा में ही सम्पत्ति का व्यय करते हों, ऐसे देश में यह हो सकता है कि, उत्पादन के नियमों में परिवर्तन न हों, और माध्यमिक मूल्य कभी न बदले। अर्थविज्ञानियों को दलील के लिहाज़ से यह बात स्वीकार करनी पड़ती है कि इस प्रकार की स्थिर दशा का आस्तित्व हो सकता है, और उन्हें यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि यदि

ऐसी स्थिर दशा हो, तो फिर जिनिसों के दाम कभी न बदलें। भारतवर्ष के आर्थिक इतिहास में ऐसे युग का पता नहीं लगता कि जब यहां पूर्ण रूप से स्थिर दशा हो। इतिहास से प्रकट होता है कि परिवर्तन बड़ी शीघ्रता के साथ होते रहे हैं। स्थिर अवस्था का होना असम्भव प्रतीत होता है। स्थिर दशा का क्या स्वरूप है, अगर कभी वह संसार में फैली तो उसका रूप क्या होगा, आदि बातें हम निम्न प्रकार के उदाहरणों से सीख सकते हैं।

एक काल्पनिक उदाहरण।

एक स्वयंभुक्तावस्था के (स्वयं भुक्त) ग्राम की कल्पना कीजिए। ऐसे ग्राम की आबादी भी यदि स्थिर हो (उसका घटना बढ़ना बंद हो जाय) तो फिर उस ग्राम के कुम्हार के व्यापार की क्या दशा होगी। अब यदि लोगों की आदतों में परिवर्तन न हो तो मिट्टी के बर्तनों की उस ग्राम में साल भर में बहुत कम आवश्यकता होगी। कुम्हार उसी पुराने ढंग के बर्तन बनाया करेगा, और बदले में वही बंधा हुआ अन्न पाया करेगा। बर्तन ख़रीदने में सौदा करने की कोई जरूरत न होगी। साथ ही कुम्हारों के बाज़ार की भी कोई ज़रूरत न होगी। सारा काम क़दीमी रफ़्तार से हुआ करेगा। कुम्हार को अपने काम के ढंग को बदलने की ज़रा भी ज़रूरत न होगी, और वह मज़े में अपना गुज़र बसर करता रहेगा। बस न मांग में कमी बेशी होगी और न संग्रह में, दोनों पलड़े बराबर रहेंगे और परिणाम यह होगा कि माध्यमिक मूल्य भी वैसा

का वैसा बना रहेगा, उसमें भी परिवर्तन नहीं होगा ।*

उत्पादन के खर्चों में परिवर्तन कैसे होता है ।

अब अगर इस प्रकार के स्वयंभुक्त ग्राम के पास कोई नगर वस जाय, और उस नगर से इस गांव से खरीद फ़रोख्त भी शुरू हो जाय तो उसका कुम्हार के व्यापार पर बड़ा प्रभाव पड़ेगा । शहर वालों को भी मट्टी के बर्तनों की ज़रूरत रहती है । वह कुम्हार के यहां ज़रूर ही खरीदने आयेंगे । पर कुम्हार तो उतने ही बर्तन बना सकता है जितने उसके गांव में खप जाते हैं । तो फिर क्या होगा ? होगा यह कि शहर के लोग उस कुम्हार को उसके बर्तनों का मूल्य गांववालों के मूल्य से कुछ बढ़ा कर देंगे और बर्तन ले जांयगे । अब अगर गांववालों को बर्तन ख़रीदना होगा तो वह झक मारेंगे और बढ़े हुए दामों में ख़रीदेंगे । इस तरह से पुरानी रीति टूट जायगी और नई लहर फैल जायगी । एक बात और हो सकती है; सम्भव है कि गांववाले शहर में जाकर लोहे और पीतल के बर्तन खरीदने लगें, और इस प्रकार मट्टी के बर्तनों की मांग कम हो जाय । यह भी सम्भव है कि, शहर का कोई अच्छा कुम्हार नये तरह के चाक की सहायता से ज्यादा बर्तन बनाने लगे; अच्छे बनाने लगे और सस्ते बनाने लगे । तब फिर उसके मुक़ाबिले में पुराने कुम्हार के

---

* इस प्रकार के कुम्हार अब भी देशी राज्यों के बहुत से देहातों में मिलते हैं जो क़दीमी क़ायदे अनुसार ही मट्टी के बर्तन पहुंचाते हैं उन्हें फ़सल पर बंधा नाज मिलता है । इस से सिद्ध है कि ऐसी स्थिर दशा का होना असम्भव नहीं ।

वर्तन कोई नहीं खरीदेगा; अव कुम्हार को या तो अपना माल सस्ता वेचकर तंगी में गुज़र करना पड़ेगी या उस नये कुम्हार की नक़ल करना पड़ेगी अथवा अगर वह उसकी नक़ल न कर सका तो उसे गांव छोड़ शहर में जाकर कोई दूसरा काम करना पड़ेगा।

इस प्रकार के काल्पनिक उदाहरणों से यह वात स्पष्ट हो जाती है कि, कार्य्यालयावस्था के संसर्ग से शिल्पावस्था में किस प्रकार परिवर्तन होने लगते हैं। कार्य्यालयावस्था में स्वयंभुक्तावस्था के समान स्थिर दशा नहीं होती, किन्तु, लोगों की रुचि और मांग में परिवर्तन होते हैं। साथ ही उत्पादन के मार्ग भी वदलते रहते हैं। भारतवर्ष, शिल्पावस्था से कार्य्यालयावस्था में, वहुत धीरे धीरे आ रहा है पर अव उसकी गति तीव्र हो चली है। इस तरह के जव परिवर्तन होते हैं तव उत्पादन के व्यय में भी फ़र्क़ पड़जाता है, इसका नतीजा यह होता है कि माध्यमिक मूल्य का परिमाण वदल जाता है।

यह देखने के लिए कि, कौन कौन से कारण किस किस प्रकार से मूल्य में इस तरह परिवर्तन कर देते हैं, कि जिनिस के उत्पादन और व्यय में समीकरण हो जाता है, पाठकों को, अर्थ-विज्ञान की वड़ी वड़ी पुस्तकें पढ़ना चाहिए। यहां पर भी उक्त विषय को स्पष्ट करने के लिए कुछ उदाहरण दिये जाते हैं। यह वात सुप्रसिद्ध है कि, देहातों में खेत में काम करनेवाले मज़दूरों की मज़दूरी बढ़ गई है। यह वृद्धि कुछ वर्षों से ही हुई। यद्यपि खेती पर इसका प्रभाव पड़ा है, पर उस प्रकार की खेतियों पर तो जिस

में श्रम की अधिक आवश्यकता होती है, इसका बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ा। कपास की खेती इसी तरह की है। इसमें श्रम की बहुत ज़रूरत है। कपास के खेत को जोतने बोने में उतना खर्च नहीं होता जितना उसके तय्यार होने पर मज़दूर लगाने में होता है। मज़दूरी बढ़ जाने से कपास में ज्यादा खर्च करना पड़ता है। कपास मँहगी पड़ती है। गेहूं जौं चने आदि की खेती से कपास की खेती में ज्यादा श्रम की ज़रूरत है। पहिले जब मज़दूरी की दर बढ़ी हुई नहीं थी, तब किसानों को खेती करने के पूर्व सोंचना पड़ता था कि कपास की खेती करें या और क़िसी नाज की; पर जब से मज़दूरी बढ़ गई है तब से किसानों ने मज़दूरी की इल्लत की वजह से कपास की खेती कम कर दी है। बस, कपास की बाज़ार में कमी हो गई और उसका मूल्य बढ़ गया।

यह तो सिर्फ़ आरम्भ ही हुआ। कपास के कातनेवालों को ज्यादा मज़दूरों की आवश्यकता होने पर उन्हें मज़दूरी की दर बढ़ाना पड़ती है। इस तरह से कपास को मँहगा करने का एक और कारण उपस्थित हो जाता है। जो सूत कातनेवाले हैं उन्हें भी सूत इसी-लिए मँहगा ख़रीदना पड़ता है। मज़दूरी बढ़ने पर रुई की धुनकाई की मज़दूरी भी बढ़ जाती है। इस तरह रुई का सूत भी पहिले से महगा हो जाता है। मतलब यह कि-किसान ओटनेवाले या साफ़ करनेवाले तथा कातनेवालों की बढ़ी हुई मज़दूरियों के दाम उसी सूत पर चढ़ते हैं, और आगे चलकर जब उस पर जुलाहा रंगरेज़ व दर्ज़ी की मज़दूरी भी लग जाती तब कपड़ा बहुत मँहगा पड़ता है।

अब अगर और प्रकार के परिवर्त्तन न हों तो, कितनी मजदूरी बढ़ने से मूल्य में कितनी वृद्धि होगी इस बात का अनुमान किया जा सकता है। पर असल में दुनियां बड़ी पेंचदार है। जिस समय एक परिवर्त्तन होता है तो वह अकेला नहीं होता, किन्तु उसके साथ ही अन्य कई परिवर्त्तन भी होते हैं। मजदूर की जब मजदूरी बढ़ जाती है, तब उसके ख़र्च भी बढ़ जाते हैं। मजदूरी बढ़ने से कपड़े के दाम बढ़ते हैं और नतीजा यह होता है कि मँहगाई के कारण बेचारे मजदूर काफ़ी कपड़े नहीं पा सकते। इस के मानी यह होंगे कि, कपड़े की मांग बढ़ गई और तदनुसार उसका मूल्य भी बढ़ गया। अब दूसरी तरफ़ दृष्टि फेरिए। रेलें बन गई हैं और कारख़ानों में धुनी धुनाई रुई पहुंचने की सुगमता हो गई है। पुराने जमाने को देखते हुए जिनिसों को ले जाने और ले आने में बहुत कम ख़र्च से काम चल जाता है। इसके माने यह हैं कि, संग्रह की मात्रा में वृद्धि हो गई। मशीनों की वजह से ख़र्च कम हो गए। परिणामस्वरूप कपड़े के परिमाणित मूल्य में कमी हो गई, अर्थात् परिमाणित मूल्य गिर गया। अगर कोई नई तरह की मशीन निकल आये, और उससे काम करने के ढँग में सुगमता हो, तो फिर उत्पादन के ख़र्चों में तथा अन्य कई बातों में बड़े परिवर्त्तन हो जांयगे, और उन परिवर्त्तनों का माध्यमिक मूल्य पर भी प्रभाव पड़ेगा। मशीनों में कोयले का ख़र्च बहुत होता है, अब अगर कोयले के दामों में कोई बड़ा परिवर्त्तन उपस्थित हो जाय तो फिर उसका प्रभाव उत्पादन के ख़र्च पर पड़ेगा और

उत्पादन के खर्च के परिवर्त्तन का प्रभाव माध्यमिक मूल्य पर पड़ेगा। सब का सारांश यह है कि परिमाणित मूल्य की मात्रा उत्पादन के होनेवाले खर्चों के अनुसार होती है, और उत्पादन के खर्चों में अन्य कई प्रकार के कारणों से परिवर्त्तन हो जाते हैं। इसीलिए माध्यमिक मूल्य में भी परिवर्तन हो जाते हैं। जब तक उत्पादन के खर्चों में परिवर्त्तन नहीं होते, तब तक माध्यमिक मूल्य में भी नहीं होते।

मट्टी के तेल के व्यवसाय का एक और उदाहरण लीजिए क्योंकि ऊपर जो उदाहरण दिया गया है वह उतना स्पष्ट नहीं है। भारतवर्ष में मट्टी के तेल का प्रचार अभी थोड़े समय से हुआ है। पहले अंडी, तिल वा सरसों के तेल से ही रोशनी का काम लिया जाता था। अब भी देहातों में इन्हीं चीजों का व्यवहार होता है। जब उत्तरीय भारत में पहले पहल मट्टी के तेल का प्रचार हुआ, तब यह अन्य देशों से टीन के कनष्टरों में बंद करके भेजा जाता था और वह कनष्टर लकड़ी के बक्सों में बंद किए जाते थे। अब भी बढ़िया मेल का तेल इसी प्रकार भेजा जाता है। इस तरह बंद करके भेजने में बड़ा खर्च पड़ता है। रेल में इस प्रकार बंद कर के भेजने में बड़ा किराया लगता है। यह बात याद रखने की है कि, जिनिस के ले जाने का खर्च भी उसके उत्पादन के खर्च में ही शामिल किया जाता है। इसीलिए, शुरू शुरू में मट्टी के तेल की क़ीमत अधिक पड़ती थी और उसका व्यवहार कुछ ही मनुष्य करते थे। परन्तु, उससे एक आवश्यकता की पूर्त्ति होती थी।

इसका प्रचार बराबर बढ़ता गया, यहां तक कि, इसके व्यापारियों को मजबूर हो कर ऐसी हिकमतें निकालना पड़ीं कि, जिसमें रेल में माल भेजने का खर्च बहुत कम हो गया। आज कल तो इस तरह के तेल के गोदाम रेलों के स्टेशनों के पास ही होते हैं। ठेलों पर लदे हुए बड़े बड़े पीपों में पम्प की सहायता से तेल भर दिया जाता है और इसके बाद वह "डिपो" में पहुंचा दिये जाते हैं। इस तरह बंद कर के भेजने के बहुत से खर्चों की किफ़ायत हो गई है। तेल उन शहरों में बड़ी आसानी से पहुंच जाता है जहां रेल गई है। भाड़े में कमी होने के कारण अब वह बिकता भी सस्ता है।

इस जगह हमने उत्पादन के व्यय के परिवर्तन के एक ही कारण का वर्णन किया है। तेल के व्यापार के इतिहास में ऐसी बहुत सी बातें हैं जिनसे समय समय पर तेल के माध्यमिक मूल्य में घटती बढ़ती हुई है पर इस स्थान में उसका वर्णन करने से विषय बहुत क्लिष्ट हो जायगा।

'समय' का प्रश्न।

हम ऊपर कह चुके हैं कि हम उन तमाम कारणों का वर्णन नहीं कर सकते जिनके कारण माध्यमिक मूल्य में परिवर्तन हो जाता है। सब कारणों का वर्णन करना आसान बात नहीं है। इस प्रकार की चेष्टा करने के प्रथम पाठकों को सम्पत्ति के वितरण के सिद्धान्तों से अच्छी तरह से परिचित हो जाना आवश्यक है। इस दिक़्क़त के सम्बन्ध में हम एक बात कह देना चाहते हैं वह है समय की बात।

यदि हम किसी खास दिन व किसी ख़ास सप्ताह के ऊपर दृष्टि रख कर किसी जिनिस के माध्यमिक मूल्य या उत्पादन के ख़र्चों का विचार करें तो हमें बहुत कुछ उसके कारणों का पता चल जायगा, पर जितनी ही समय की अवधि बढ़ती चली जायगी उतना ही कारणों का पता लगना भी कठिन होता जायगा। कारण यह है कि उत्पादन के व्ययों में परिवर्तन क्रमशः होते चले जाते हैं, और माध्यमिक मूल्य भी तदनुसार ही कम ज्यादा होता रहता है। कुछ आर्थिक कारण ऐसे हैं, जिनका प्रभाव तुरन्त पड़ता है। कुछ ऐसे हैं जिनका असर बहुत धीरे धीरे पड़ता है और वर्षों के बाद समझ में आता है। मतलब यह कि किसी कारण से उत्पन्न हुए किसी प्रभाव का विचार करते समय हमें इस बात पर अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि इसके होने में कितने समय की आवश्यकता है। यह दिक्कत तब तक अच्छी तरह से समझ में न आवेगी जब तक समीकरण का पूर्ण रूप से अध्ययन न हो जायगा। हिन्दी में हमारे देखने में अभी तक कोई ऐसी पुस्तक नहीं आई जिसमें समीकरण का गहरा विवेचन हो, अतएव हमें इतने से ही सन्तोष कर लेना चाहिए।

चौथे अध्याय का

परिशिष्ट।

इस भाग के प्रारम्भ में हमने अर्थविज्ञान के केन्द्र—प्रश्न को निम्नलिखित शब्दों में उठाया था।

"प्रश्न होता है कि, किस प्रकार कुछ परिमाण में गेहूं (मन दो मन वा कम ज्यादा) या घी, अथवा गाढ़े के थान व कुछ घड़ियां तथा ऐसी ही अन्य जिनिसें, उत्पन्न की जाती हैं, और किसी मूल्य विशेष पर बेची जाती हैं? उनके परिमाण और संख्या का किस प्रकार निर्णय होता है और उनका मूल्य किस प्रकार निश्चित किया जाता है?"

पिछले परिच्छेदों के विषयों का अध्ययन कर हम जिस उत्तर पर पहूंचे हैं वह इस प्रकार लिखा जा सकता है।

(१) बाज़ार में जहां जिनिस का ख़रीदफ़रोख्त होता है, मूल्य बढ़ने से मांग घट जाती है और मूल्य घटने से मांग बढ़ जाती है।

(२) बिक्री के लिए प्रस्तुत वस्तु का परिमाण (अर्थात् संग्रह) मूल्य बढ़ने से बढ़ जाता है और घटने से घट जाता है।

(३) भाव ताव करने का प्रभाव यह होता है कि माध्यमिक मूल्य का निर्णय हो जाता है, अर्थात् मांग और संग्रह का समीकरण हो जाता है।

(४) इस प्रकार से स्थिर हुआ बाज़ार का भाव नित्यप्रति बदल सकता है। पर जब तक उसके उत्पादन और क्षय के मार्ग में कोई रद्दोबदल नहीं होता, तबतक (साधारण जिनिसों के सम्बन्ध में) कोई परिवर्तन नहीं होता। वह उत्पादन के ख़र्च के अनुसार ही रहता है। ज्यों ही यह घटता बढ़ता है त्यों ही, ऐसे कारण आकर उपस्थित हो जाते हैं कि उसे फिर माध्यमिक दशा में लौट आना पड़ता है। मतलब यह कि, माध्यमिक मूल्य उत्पादन के ख़र्चों के अनुसार ही रहता है।

हम ऊपर कह चुके हैं कि, व्यापार में एकाधिकार वा एक मनुष्य का स्वत्व जब होता है, तब उक्त नियम नहीं लग सकता, यह इसका अपवाद है। साथ ही भारतीय शिल्पियों के व्यापार के सम्बन्ध में भी इसके अपवाद मिल सकते हैं।*

(५) उत्पादन के और क्षय के मार्ग में परिवर्तन होते रहते हैं इससे उत्पादन के ख़र्चों में भी परिवर्तन हो जाते हैं और तदनुसार बाज़ार का माध्यमिक मूल्य भी बदलता रहता है। माध्यमिक मूल्य के परिवर्तन के कारणों का विचार क्लिष्ट होने के कारण स्थगित कर दिया गया—परन्तु समय के कारण जो कठिनाई उत्पन्न होती है उसका दिग्दर्शन करा दिया गया है।

इन उत्तरों से यह बात अच्छी तरह से स्पष्ट हो जायगी कि कोई भी सीधा सादा उत्तर नहीं दिया जा सकता। मनुष्य का

* इन अपवादों को ढूंढना और उन का विचार पाठकों को स्वयं करना चाहिये।

जीवन स्वयं उलझनों से भरा हुआ है, जैसे जैसे समय बीतता है इसकी उलझनें बढ़ती जाती हैं। तब फिर इस से सम्बन्ध रखने वाले विज्ञान को, और ख़ास कर अर्थविज्ञान को तो उलझन से भरा हुआ होना ही चाहिये। बात यह है कि एक समय में कई प्रकार के कारण उपस्थित हो जाते हैं, कुछ की गति एक तरफ़ होती है और कुछ की दूसरी तरफ़। हम तो सिर्फ़ इन कारणों के परिणामों का ही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। हां उस परिणाम को समझने के लिए हम उन कारणों का एक एक करके विचार अवश्य करते हैं कि परिणाम के साथ उनका क्या और कैसा सम्बन्ध है। सर्वसाधारण इस तरह का कष्ट नहीं उठाते और एक ऐसा कारण जान लेने से ही, जिसका उस परिणाम के साथ सीधा सम्बन्ध ज्ञात होता है सन्तोष कर लेते हैं। उदाहरण लीजिये। आजकल भारतवर्ष में नाज खूब मँहगा हो रहा है और सर्वसाधारण इस मँहगाई का कोई एक कारण ढूंढने की फ़िक्र में हैं। वह किसी एक ही कार के मत्थे सारी महँगाई मढ़ना चाहते हैं। कुछ कहते हैं कि मौसम बदलने से यह महँगाई है। कुछ कहते हैं कि रेलों के कारण ही यह हाय हाय है। कुछ कहते हैं कि सारा नाज विलायत में चला जा रहा है। मतलब यह कि इसी तरह की बातें लोग करते हैं। वह इसी तरह के बीसों कारणों का उल्लेख करते हैं। जितने मुँह उतनी बात की कहावत चरितार्थ है। मगर यह बातें उतनी सीधी सादी नहीं हैं जितनी बाहर से देख पड़ती हैं। उन लोगों को जो असली कारणों का ज्ञान प्राप्त

करना चाहते हैं समस्त कारणों का अध्ययन करना चाहिये और देखना चाहिये कि किस कारण का इस विषय से कितना सम्बन्ध है। विचार करने से मालूम होता है कि जो बात किसी एक परिणाम का कारण होती है, वही किसी दूसरे कारण का परिणाम भी होती है। मज़दूरी का बढ़ जाना नाज के भाव के बढ़ने का एक कारण है, पर मज़दूरी बढ़ने के भी और कारण हैं। (इसका विचार अगले अध्याय में होगा) इस प्रकार की कारण परम्परा का विचार बिना किये सही सही व्यवस्था नहीं दी जा सकती।

यह अनुभव-सिद्ध है कि हमारे दिमाग़ इस तरह के नहीं बने हैं कि हम कई कारणों का विचार एक साथ कर सकें। अर्थ-विज्ञानी को एक कारण का विचार एक समय में करना पड़ता है। उसे इस बात को अध्ययन के सुभीते के लिए मान लेना पड़ता है कि एक ही इसका कारण है और उसी का विचार करना है। उसे इस बात का अध्ययन करना पड़ता है कि अगर अन्य कारण अपना प्रभाव न डालें, तो अमुक कारण के क्या परिणाम होंगे। इसी प्रकार से एक एक कर के अन्य कारणों का भी विचार करना पड़ता है। उसे बहुत से ऐसे कारणों का विचार करना पड़ता है जो एक ही प्रकार के परिणाम उत्पन्न करते हैं। साथ ही उसे ऐसे ऐसे कारण भी मिलते हैं जो उसके विपरीत परिणाम उत्पन्न करते हैं। उन सब का विचार कर के तब फिर अन्त में अपने मूल प्रश्न का उत्तर निकालना पड़ता है। इस तरह के अनुमान भी गढ़ने पड़ते हैं कि किस प्रकार के कारणों के उपस्थित होने पर

किस प्रकार की स्थिति हो जायगी।

इस भाग में हमने जो कुछ जिस प्रकार से वर्णन किया है उसी से यह जाना जा सकता है कि इन विषयों का अध्ययन किस प्रकार करना चाहिए। हमने सब से पहले इस बात का विचार किया कि, उन बहुत सी रुकावटों के मौजूद होने पर जो साधारण जीवन में प्रायः नहीं होतीं, बाजार की क्या हालत होती है। साथ ही हमने इस बात का भी विचार कर लिया कि ऐसी दशाओं में बाज़ार के अनुसार माध्यमिक मूल्य किस प्रकार स्थिर होगा। फिर हमने अपने अध्ययन के क्षेत्र को विस्तृत किया और यह देखा कि अगर यह रुकावटें हटा दी जांय तो क्या हालत होगी; इस प्रकार हम सत्य के बहुत समीप पहुंच गये। इसके बाद हम उन कारणों के विचार में लग गये जिससे हमें यह ज्ञात हुआ कि एक माध्यमिक मूल्य होता है और बाजार भाव उसी के आस पास रहा करता है। इसके बाद हमने उन कारणों का विचार किया जिससे यह ज्ञात हुआ कि माध्यमिक मूल्य भी बदल सकता है। परन्तु अब भी विषय की समाप्ति नहीं हुई। व्यापार में एकाधिकार (ठेका आदि) का क्या प्रभाव होता है इसका वर्णन हमने आगे के लिए छोड़ दिया। हमने उन कारणों का विचार विस्तार से नहीं किया जिनके कारण माध्यमिक मूल्य में परिवर्त्तन हो जाते हैं। यही कारण है कि, हम अपने किए हुए प्रश्न का उत्तर पूर्णरूप से नहीं दे सके, पर उस सच्चे उत्तर के बहुत समीप पहुंच गये जो दिया जा सकता है।"

जब अर्थ-विज्ञानी इस प्रकार की ढूँढ तलाश करें, तो उनका यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह इस बात को स्पष्ट कर दें कि वह क्या कर रहे हैं। मतलब यह कि जब एक कारण का अध्ययन कर रहे हों, और इस बात को मान कर अध्ययन कर रहे हों कि दूसरे कारणों का कोई इसके साथ सम्बन्ध नहीं है तो उन्हें अपनी उस मानी हुई बात को स्पष्ट कर के कह देना चाहिये। यह लिखने की हमें जरूरत इसलिए पड़ी कि, बहुत से अर्वाचीन लेखकों ने अपनी मानी हुई बात को स्पष्ट कर के नहीं लिखा है कि, वह क्या मान कर लिख रहे हैं। ऐसी अवस्था में पाठकों का यह कर्त्तव्य है कि वह उनकी मानी हुई बातों को ढूँढ़ निकालें। किसी अच्छे लेखक की पुस्तक पढ़ते समय पाठकों को यह बात सदा ध्यान में रखना चाहिए कि वह क्या मान कर लिख रहा है। अगर ग्रंथकार ने साफ़ साफ़ इस बात को न लिखा हो कि उसकी मानी हुई बातें क्या हैं, तो उन्हें स्वयं उसकी मानी हुई बातों को ढूँढ़ निकालना चाहिए।

माध्यमिक मूल्य के विषय में एक मानी हुई बात ऐसी है, जिसका वर्णन यद्यपि हम पहले अध्याय में कर चुके हैं तथापि उसे फिर से कह देना आवश्यक प्रतीत होता है। वह यह है कि, हम इस बात को मान चुके हैं कि रुपये पैसे की ख़रीदने की शक्ति में परिवर्त्तन नहीं होता। जब तक बाजार भाव घटता बढ़ता रहता है, तब तक यह मानी हुई बात, कि रुपये पैसे की ख़रीदने की शक्ति में परिवर्त्तन नहीं होता है, सत्य है, क्योंकि, रुपये पैसे

की ख़रीदने की शक्ति में इतनी जल्दी परिवर्तन नहीं होता कि उसका कुछ वास्तविक प्रभाव पड़ सके। पर जब हम माध्यमिक मूल्य के परिवर्तन का विचार करते हैं, तब हमें यह जाने रहना चाहिए कि ऐसा समय भी आ सकता है जब रुपये पैसे की ख़रीदने की शक्ति में परिवर्तन हो जाय। अगर हम इस बात को भुला देंगे तो हम बड़े गोरखधन्धे मे पड़ जांयगे। अभी तो पाठकों के लिए इतना जान लेना ही काफ़ी है कि उक्त बात मान ली गई है। किन्तु जब वह अपने अध्ययन में आगे बढ़ जांय तब वह उक्त मानी हुई बात की सीमा को तोड़ कर भी आगे जा सकते हैं। अर्थात् वह माध्यमिक मूल्य के स्थान पर माध्यमिक मालियत का विचार कर सकते हैं।

इस अध्याय में जिस विषय का प्रतिपादन हुआ है उसे हमने अर्थ-विज्ञान के केन्द्र का प्रश्न कहा है। अब तक हमने मांग और संग्रह के उस समीकरण का ही विचार किया है जिसका सम्बन्ध जिनिसों के साथ है पर इस समीकरण का आस्तित्व उत्पादन के अन्य साधनों से भी है। अर्थात् अब आगे हमें इस बात का विचार करना है कि मजदूरों की मजदूरी, पूंजी का सूद, व्यापारियों की आमदनी और ज़मीन के लगान का बहुत घना सम्बन्ध इन भिन्न भिन्न प्रकार के साधनों की मांग और संग्रह से है। पुस्तक के अगले अध्याय में इन्हीं का विचार होगा। इस प्रकार की बातों को सम्पत्ति का वितरण कहते हैं।

हम इस समय वितरण सम्बन्धी समस्त बातों का वर्णन नहीं

कर सकते। इसकी समस्त बातों का वर्णन तो तभी हो सकता है, जब, मांग और संग्रह के समीकरण का पूरी तरह से ज्ञान हो जाय, और अभी तक इसका हम पूर्णरूप से वर्णन नहीं कर सके हैं। अभी तो हम केवल इतना ही दिखला सकेंगे कि उक्त साधनों की मांग और संग्रह के समीकरण का सादृश्य जिनिसों की मांग और संग्रह के समीकरण के साथ कितना है तथा उनमें परस्पर भेद क्या है। इस प्रकार के प्रारम्भिक वर्णन से पाठकों को यह ज्ञान तो हो नहीं सकता कि वह उन कारणों को अच्छी तरह से समझ लें जिनसे मजदूरी और सूद के दर का निर्णय होता है, पर हां, वह इतना अवश्य जान जायँगे कि इस प्रकार की बातों के अध्ययन का मार्ग कौन सा है और उनका महत्व कितना है।

पांचवां अध्याय ।

सम्पत्ति का वितरण ।

उन्नीसवां परिच्छेद।

परिचय।

हम इस बात का विचार कर चुके कि सम्पत्ति के उत्पादन में कुछ साधनों की आवश्यकता होती है, अब हमें इस बात का विचार करना है कि जो लोग इन उत्पादनों के साधनों का काम देते हैं, या, इन साधनों को जुटा देते हैं, उनमें, उत्पन्न की हुई सम्पत्ति का वितरण किस प्रकार होता है। अर्थ-विज्ञान के इस विभाग को सम्पत्ति का वितरण कहते हैं।

वितरण का स्वरूप।

ऐसे मामलों की कल्पना करना सम्भव है, जिनमें वितरण की ज़रूरत ही न हो। पर कल्पना करना ही सम्भव है, व्यवहार में उन्हें पाना प्रायः अब असम्भव है। अगर हम यह कल्पना करें कि, एक मनुष्य एक ऐसे क्षेत्र में रहता है, जिस पर कोई दावा नहीं कर सकता, और अपने योगक्षेम के लिए काफ़ी सम्पत्ति स्वयं ही उत्पन्न कर लेता है। उत्पादन में भी वह किसी की सहायता की परवाह नहीं करता, अतएव उसकी उत्पन्न की हुई सम्पत्ति का कोई साझीदार नहीं होता; तब फिर सम्पत्ति के वितरण की कोई ज़रूरत ही नहीं रह जाती। पर ऐसे उदाहरण हमें आज कल, कहना चाहिए कि नहीं मिल सकते। स्वयंभुक्तावस्था, शिल्पावस्था और कार्य्यालयावस्था के

जितने उदाहरण हमें वर्तमान समय में प्राप्त होते हैं, उनमें सबमें हम यही पाते हैं कि उत्पादन के साधनों के जुटानेवाले एक से अधिक लोग होते हैं, और जब सम्पत्ति का उत्पादन हो जाता है, तब वह साधनों के जुटानेवाले उत्पादन में अपना हिस्सा लेने को तैयार हो जाते हैं। स्वयंभुक्तावस्था में यद्यपि किसान अपनी ही पूंजी और अपना ही श्रम लगाकर उत्पादन करता है, तो भी प्रायः क्षेत्र तो ज़मींदार ही का होता है। ज़मींदार किसान से अपने क्षेत्र का लगान मांगता है। मज़दूर जो मज़दूरी करते हैं, वेतन चाहते हैं। अगर किसान पूंजी उधार लेकर खेती में लगाता है, तो, उसे उसका सूद देना पड़ता है। यह तो स्वयंभुक्तावस्था की बात हुई। अब शिल्पावस्था में देखिये कि यही बात वहां भी किस तरह है। शिल्पी को भी अपने काम के लिए किराये के आदमी रखना पड़ते हैं, अगर उसके खुद का मकान नहीं होता तो उसे उसका भाड़ा देना पड़ता है। मज़दूरों की मज़दूरी देना पड़ती है। अगर उधार लेकर उसने कारबार किया है, तो उसे उसका सूद देना पड़ता है। यही बात कार्य्यालयावस्था में भी है। कार्य्यालय के मालिक को इमारत का किराया देना पड़ता है, मज़दूरों की मज़दूरी और पूंजी के सूद से भी वह नहीं बचता, वह भी उसे देना ही पड़ता है। मतलब यह कि, कोई भी बिना कुछ उजरत के काम नहीं करना चाहता। ज़मीन का मालिक बिना कुछ दाम लिए ज़मीन का व्यवहार न करने देगा। पूंजीपति बिना सूद के किसी को अपनी पूंजी न देगा। मज़दूर बिना मज़दूरी के लोभ के श्रम न करेगा। अब सवाल यह है कि, इन सबके प्रति-

फल—उजरत—की मात्रा कितनी होना चाहिए ?

जब कोई जिनिस पैदा होती है, और उसके बेचने से जब आय होती है, तब, उसमें इतने दावेदार खड़े हो जाते हैं।

(१) सूद।

(२) किराया, या लगान।

(३) मज़दूरी।

(४) प्रबन्ध करने की आय।

इसके सिवा और भी दावेदार होते हैं। संक्षेप से हमें उन को भी जान लेना चाहिए, वह यह हैं।

(१) क्षय हुई पूंजी का भर्त।

(२) टैक्स वग़ैरह।

हम पहले वर्णन कर चुके हैं कि, पूंजी दो तरह की होती है। एक चल पूंजी, और दूसरी अचल पूंजी। चल पूंजी के सम्बन्ध में तो क्षय हुई पूंजी के भर्त की आवश्यकता स्पष्ट ही है। जुलाहा जब कपड़ा बुन कर बेचता है तब बिक्री में वह कपड़े की सिर्फ़ बुनाई ही नहीं लेता पर सूत का दाम भी लेता है। क्योंकि, सूत उसकी चल पूंजी थी। इसी तरह किसान नाज के दामों में बीज के दाम भी जोड़ देता है। क्योंकि बीज उसकी चल पूंजी थी। शक्कर के कार्य्यालय का मालिक, मज़दूरी, किराये और सूद के साथ कोयला आदि चीज़ों का भी मूल्य शक्कर की क़ीमत में जोड़ कर ले लेता है। यह तो चल पूंजी के क्षय के भर्त की बात हुई। अब अचल पूंजी को लीजिए। इमारतें, मशीनें, हथियार आदि अचल पूंजी में

हैं। यह बहुत दिनों तक नहीं बिगड़ते। लेकिन धीरे धीरे पुराने पड़ कर घिसते हैं। यहां तक कि कभी न कभी वह बिल्कुल नष्ट हो जाते हैं। उनकी जगह दूसरों की ज़रूरत हो जाती है। अगर उत्पादन करनेवाला इस अचल पूंजी के क्षय के भर्त के लिए कुछ न कुछ सम्पत्ति का भाग अलग निकाल कर न रखता जायगा, तो एक समय ऐसा आयेगा कि, उसके उत्पादन का काम ही रुक जायगा। क्योंकि, उसकी अचल पूँजी हो चुकेगी। इसीलिए बड़े बड़े कामों में अचल पूँजी के क्षय के भर्त के लिए काफ़ी सम्पत्ति समय समय पर अलग निकाल कर रख दी जाती है। यही कारण है कि. बड़ी बड़ी कम्पनियों का जब साल में हिसाब होता है, तब अपकर्ष (छीज बट्टा) के नाम से एक रक़म ही अलग निकाल दी जाती है। यह रक़म सब ख़र्चों से पहले निकाली जाती है। छोटे-मोटे काम करनेवाले प्रायः इस अपकर्ष की रक़म को भूल जाते हैं, और उनकी यह भूल ही उनके आर्थिक नाश का कारण होती है। एक किसान का उदाहरण लीजिए। वह ५० रुपये की एक बैलों की जोड़ी लाया। कल्पना कीजिए कि ये बैल उसे १० वर्ष तक काम देंगे। ऐसी दशा में स्पष्ट ही है कि उसे प्रतिवर्ष ५) के हिसाब से अलग निकालते रहना चाहिए। अगर वह ऐसा करता रहेगा तो १० वर्ष के बाद जब उसके ये बैल काम के न रहेंगे तब उसके पास ५०) हो जांयगे, और वह नई जोड़ी ख़रीद सकेगा।* पर इस

---

* अगर पास में कहीं बैंक वगैरह हों तो किसान का काम पांच रुपये

प्रकार की दूरदर्शिता से वहुत कम किसान काम लेते हैं; नतीजा यह होता है कि, जव उनके चौपाये बेकार हो जाते हैं, तब या तो उन्हें नई रक़म ही उधार लेना पड़ती है, या उन्हें अपना पेट काट कर लाना पड़ता है, अथवा, अपनी जीविका से हाथ धो लेने पड़ते हैं।

मतलब यह कि, जब सम्पत्ति का उत्पादन होता है, तब सब से प्रथम उसमें से पूँजी के क्षय के भर्त का भाग अलग कर दिया जाता है। वह पूँजी चाहें चल हो वा अचल। इस रक़म के निकालने के बाद जो कुछ बाक़ी बचता है, उसमें से और वितरण की मदों में जाता है।

टैक्सों की जो मद है, उसका रुपया सरकार या स्थानीय म्युनिसिपलटियों के ख़जाने में जाता है। यह रक़म शासन के निमित्त होती है, आर्थिक कारणों से इसका सम्बन्ध नहीं है। इस मद से जो आर्थिक प्रभाव होता है वह बड़े महत्व का है और उसके वर्णन के लिए एक अलग ही परिच्छेद लिखा गया है। इस समय

साल से कम जमा कराने से भी चल जाय, क्योंकि, तब उसका सूद भी तो चलने लगे।

एक बात और है। किसानों के बैल सम्भव है कि किसी महामारी के कारण पहिले ही मर जांय। तब तो फिर इस तरह से ५) के हिसाब से जमा कराने से भी काम न चलेगा। इस दिक़्क़त को दूर करने के लिए आवश्यक है, कि कुछ रक़म प्रति वर्ष इस प्रकार की अचानक आनेवाली आपत्तियों के बीमे के तौर पर निकाल दी जाया करे।

इसके सम्बन्ध में इतना कहना ही बस होगा कि जो रक़म टैक्सों की मद में दी जाती है, वह उसी के निमित्त होती है, और उसका वितरण उत्पादन के अन्य साधनों में नहीं हो सकता।

इन दो मदों के अलावा और जो चार मदे हैं, वह उत्पादन के साधनों के अनुसार ही हैं। व्याज पूँजी के लिए, किराया या लगान क्षेत्र के लिए, मज़दूरी श्रम के लिए, और मुनाफा मालिक के लिए है। हम किसी पिछले परिच्छेद में कह चुके हैं कि उत्पादन के भिन्न भिन्न प्रकार से संगठन हो सकते हैं, और सम्पत्ति के वितरण के भी कई प्रकार हो सकते हैं। परन्तु, हम यह मान कर आगे का विचार करेंगे कि उत्पादन की क्रिया को मनुष्य उत्पादन के साधनों के द्वारा सम्पादित करते हैं, अर्थात् वह क्षेत्र, श्रम, और पूँजी को किराये पर लाकर लगाते हैं। उत्पादन करनेवाला * उक्त साधनों को जुटा कर उत्पादन करता है और उत्पादन करने के बाद

---

* पहिले जब, अर्थ-विज्ञान की प्रारम्भिक दशा थी तब उत्पादन का काम वही लोग करते थे जिनके पास पूंजी होती थी। यही कारण था कि उस समय मुनाफा और पूंजी में फ़र्क़ नहीं माना जाता था। तबतो मुनाफ़े के ही अन्तर्गत पूंजी थी। इसका भेद तो तब स्पष्ट हुआ जब उधार लेकर पूंजी उत्पादन के कार्य्यों में लगाई जाने लगी। यही कारण है कि, अर्थ-विज्ञान की प्राचीन पुस्तकों में पूंजी और मुनाफे का अलग अलग वर्णन नहीं मिलता। पर उन्नति होते होते अब अवस्था ऐसी होगई है कि बिना इन दोनों का अलग अलग वर्णन किये काम ही नहीं चल सकता।

जो कुछ आय होती है उसका उक्त मदों में वितरण करके जो कुछ बचता है उसे स्वयं लेता है। अगर कुछ नहीं बचता तो घाटे में रहता है।

उत्पादन करनेवाले की स्थिति।

यहां पर यह बात ध्यान में रखने की है कि, उत्पादन करने वाले को जो कुछ आमदनी होती है वह उसके श्रम से कुछ अधिक ही होती है, अर्थात्, सारा ख़र्च निकाल कर उसके पास कुछ बच ही रहता है। उदाहरण लीजिये। जब कोई किसान अपना लगान दे चुकता है, सूद अदा कर देता है, और मज़दूरों की मज़दूरी चुका देता है, तब इतना करने के बाद भी उसके पास जो कुछ बच जाता है, वह उसके प्रबन्ध करने का प्रतिफल तो होता ही है, पर, उसमें और कुछ मुनाफ़े का भाग भी होता है। मज़दूरों से जो उसने कस कर काम लिया था, जो उसने पूंजी को उधार ला कर लगाकर ख़तरा अपने कंधों पर लिया था, सो उसका भी प्रतिफल उसे मिलता है। यह प्रतिफल उस प्रतिफल से भिन्न होता है जो उसे प्रबन्ध करने के उपलक्ष्य में मिलता है। इस प्रकार बचत में दो तरह की आमदनी होती है। यही हाल कार्य्यालयों के सम्बन्ध में भी है। कार्य्यालय के प्रबन्ध का मुनाफ़ा अलग होता है, और मालिक का अलग। मतलब यह कि, साधनों के प्रतिफल में रक़म को वितरित कर देने के बाद जो कुछ बच रहता है, वह प्रबन्ध करने के प्रतिफल से कुछ अधिक होता है।

केवल उत्पादन करनेवाले को ही दो मार्गों से आय होती हो

सो ही नहीं है, पर ज़मींदार भी जब किसानों को पूँजी उधार देता है, तब ज़मीन के लगान के अलावा सूद का भी लाभ उठाता है। जब वह क्षेत्र की उन्नति में कुछ व्यय करता है, तब भी वह उसका सूद नहीं छोड़ता। वह जो कुछ रक़म प्राप्त करता है, उस में कुछ तो ज़मीन के लगान का भाग होता है और कुछ सूद का भाग। कुछ कारणों से अर्थ-विज्ञानियों को इन दोनों में भेद करना पड़ता है, क्योंकि लगान के सम्बन्ध के नियम और प्रकार के हैं तथा सूद के और प्रकार के।

इस से यह सिद्ध है कि अर्थ-विज्ञानी को केवल मनुष्य की आय मात्र का ही विचार नहीं करना पड़ता, पर उसे इस बात का भी विचार करना पड़ता है कि, यह आय होती किस प्रकार से है। उसे आयके प्रत्येक मार्गों का अलग अलग विवेचन करना पड़ता है। कभी कभी लोगों को प्रतिफल इस प्रकार से दिया जाता है कि उसके समझने में बड़ी भूल हो जाती है। भारतवर्ष में सईसों को कहीं कहीं ३) मासिक वेतन मिलता है; अगर कोई आदमी बेपरवाही, अदूरदर्शिता से काम ले तो कहेगा कि भारत में सईसों की आमदनी तीन रुपये महीने की ही होती है। पर ध्यानपूर्वक देखने से पता चल जायगा कि बात ठीक ऐसी ही नहीं है। ऐसे सईसों को रहने को मुफ़्त जगह, तीज-त्योहारों पर भोजन और कपड़े मुफ़्त में मिलते हैं, तथा ब्याह शादी में जो कुछ आय होती है वह अलग। इन सब को भी तनख़्वाह में ही जोड़ना चाहिये। इसी तरह के बहुत लोग होते हैं, जिन्हें तनख़्वाह तो

नाममात्र की मिलती है, पर अन्य सुभीते बहुत रहते हैं; जैसे, किसी को मकान मुफ्त में रहने को मिलता है, किसी को चिकित्सा मुफ्त करवाने के सुभीते हैं; किसी को बुढ़ापे में पेंशन मिलने की आशा है, आदि। पर, ऐसे उन्हीं सुभीतों की गणना अर्थ-विज्ञानी कर सकते हैं जिनकी तुलना रुपये पैसे से की जा सकती है। अर्थात् जिनकी मालियत का अन्दाज़ा लगाया जा सकता है।

सम्पत्ति के वितरण का विचार करने में, अर्थ-विज्ञानियों को मनुष्य के तमाम उत्पादन के साधनों का विचार करना पड़ता है। जब मनुष्य के पास साधनों में एक ही प्रकार का साधन होता है, तब उसकी आय का मार्ग केवल वही होता है। पर जब भिन्न भिन्न प्रकार के साधन होते हैं, तो उसकी आय के मार्ग भी भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। हम इस बात का विचार करेंगे कि वह कौन कौन कारण हैं जिनका प्रभाव लगान, सूद और मज़दूरी की दर पर पड़ता है। इनका विचार हम उसी प्रकार करेंगे जिस प्रकार हमने जिनिसों का विचार किया है। जिनिसों की तरह ही क्षेत्र, श्रम और पूंजी की मांग और संग्रह में समीकरण होता है। उसी के अनुसार उनकी दर निश्चित होती है पर इससे यह न समझ लेना चाहिए कि जिनिसों में और इन साधनों में कोई भेद ही नहीं है। किन्तु भेद है और इतना बड़ा भेद है कि इन साधनों को हम जिनिस नहीं कह सकते।

ख़रीद और किराए का फ़र्क़।

इसके पूर्व, कि अगले विवेचन का प्रारम्भ किया जाय,

जिनिसों और उत्पादन के साधनों में जो भेद है उसे स्पष्ट कर देना चाहिए। फ़र्क़ यह है कि प्रायः जिनिसें ख़रीदी जाती हैं और उत्पादन के साधन प्रायः किराये पर लिए जाते हैं। परन्तु इसमें प्रायः शब्द की दुम लगी है। इसलिए, यह शास्त्रीय भेद-प्रदर्शन नहीं हुआ। व्यवहार में उत्पादन के साधन भी ख़रीदे जाते हैं। कहीं कहीं गुलामों को ख़रीद कर उनसे काम लेने की प्रथा अब भी है। तथा मकान ज़मीन आदि बिकते हैं। इसलिए इस सम्बन्ध में और भी कुछ कहने की ज़रूरत है। पर पाठकों को अभी इतने से ही सन्तोष कर लेना चाहिये और यही समझ लेना चाहिये कि उत्पादन के साधन प्रायः किराए पर ही चलते हैं। आगे चल कर इसके भेद को अच्छी तरह समझने में सुगमता होगी। क्योंकि, यह बात उन अन्य बातों के समझने के बाद ही समझ में अच्छी तरह आयेगी, जिनका वर्णन होने को है। यहां पर यह और जान लेना उचित है कि, जिनिस का मूल्य एक दफ़े में ही चुकाया जा सकता है पर उत्पादन के साधनों का किराया समय समय पर देना पड़ता है, जैसे सालाना छमाही व माहवारी आदि।

वीसवां परिच्छेद।

सूद।

कर्ज, और सूद की उत्पत्ति।

यह नहीं कहा जा सकता कि भारतवर्ष में पूंजी पर सूद चलने की प्रथा का कब से चलन हुआ। दूसरे अध्याय में हम इसका वर्णन कर चुके हैं कि, जब से धन इकट्ठा करने का चलन हुआ, जब से लोग जमा करना सीख गये, तब से ही, सूद की प्रथा का भी चलन हुआ होगा। सम्भव है कि पहले पहल इकट्ठा करने के बाद लोग उस पूंजी को अपने ही काम में लाते होंगे, और उसे दूसरों को सूद पर देने की प्रथा का क्रमशः विकास हुआ होगा। यद्यपि हमारे इस कथन के कोई भी प्रमाण नहीं हैं, तथापि, हम माने लेते हैं कि ऐसा ही हुआ होगा। अच्छा तो इस सम्बन्ध में एक काल्पनिक उदाहरण लीजिए जिससे इसकी बातों पर कुछ प्रकाश पड़े।

कल्पना कीजिये कि, एक किसान के हल का बैल मर गया। अब उसके पास ऐसी कोई पूँजी पहिले से इकट्ठा की हुई नहीं है जिससे वह नया बैल ख़रीद सके। उसके पड़ोस के किसान के पास बहुत सा नाज था। वह उसने कई वर्षों में इकट्ठा कर पाया था। ग़रीब किसान उस मालदार किसान के पास गया और कहा कि कृपा कर आप इस नाज में से मुझे इतना नाज उधार दे

दीजिये जिससे मैं बैल ख़रीद सकूं। अमीर किसान ने जवाब दिया कि, मैंने इसे अपना मकान बनवाने के लिए इकट्ठा किया है, यह मेरा है, और इसे मैं अपनी तबियत के माफ़िक़ ख़र्च करूंगा। इस पर उस ग़रीब किसान ने हाथ जोड़ कर कहा कि, भाई अभी आपका काम इसी पुराने मकान से साल भर तक चल सकता है, साल भर ठहरिये, और नाज मुझे दे दीजिये, साल भर बाद मैं आपको नाज अदा कर दूंगा। इसके बाद, उस अमीर किसान ने सोच विचार कर यह उत्तर दिया कि मैं साल भर क्यों ठहरूं।

सम्पत्ति के उपभोग की प्रतीक्षा।

अब ग़रीब किसान को जवाब देने के दो रास्ते हैं, एक तो यह कि वह कहे कि, आप हमारे पुराने मित्र और पुराने नातेदार हैं, हमारी इस दीनावस्था पर दया कर नाज उधार दीजिए, साल भर में आपका सब वापस आ जायगा। पर यदि इतना कहने पर भी अमीर किसान न पसीज़ा और वह बराबर यही कहता रहा कि मैं ख़ैरात नहीं करना चाहता, मैं साल भर तक क्यों ठहरूं? तो फिर ग़रीब किसान यह कहेगा कि आपका यह ठहरना मैं व्यर्थ में ही न जाने दूंगा, आपको कुछ लाभ भी हो जायगा अर्थात् आप जितना नाज मुझे दें, साल भर के बाद उससे ज्यादा ले लें। इस पर भावताव होगा कि कितना ज्यादा नाज साल भर के बाद दिया जायगा। अन्त में कल्पना कर लीजिए कि, इस बात पर दोनों राजी हो जायंगे कि २५ मन नाज दे दिया जाय, और साल भर के बाद तीस मन ले लिया जाय। तो फिर

यह २५ सैकड़े सालाना के हिसाब का क़र्ज़ हो जायगा।

पाठकों को इस उदाहरण की छोटी छोटी बातें भी ध्यान-पूर्वक देखना चाहिये, क्योंकि, इसमें सूद के कर्ज़ की मौलिक बातें हैं। क़र्ज़ लेनेवाले को कुछ धन की तीव्र आवश्यकता होती है और अपनी उस तीव्र आवश्यकता की पूर्ति के लिए वह कुछ खर्च भी कर सकता है। इस प्रकार की मांगों का वर्णन तीसरे अध्याय में हो चुका है। यह मांग ठीक उसी प्रकार की है जैसी घी की थी। जैसे घी को १) देकर ख़रीदा जा सकता है, और आवश्यकता की पूर्ति की जा सकती है, वैसेही इस आवश्यकता की पूर्ति भी कुछ देकर की जा सकती है। अब उधार देने वाला पूंजीपति यह देखता है कि साल भर में उसकी पूंजी बढ़ जायगी और तब वह उस बढ़ी हुई पूंजी से अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकेगा। इसीलिए वह साल भर के लिए रक़म उधार दे देता है।

जिनिस की दर के समान भाव ताव।

ऊपर हमने कहा है कि सूद की दर स्थिर करने में दोनों पक्षों में भाव ताव होता है। यह भाव ताव ठीक उसी तरह का होता है। जिस तरह का किसी जिनिस के सम्बन्ध में होनेवाला भाव ताव होता है। उधार लेनेवाला यही चाहता है कि, जहां तक हो सके उसे कम सूद देना पड़े। (ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार किसी जिनिस का ख़रीदार चाहता है।) पर इस "कम देने" की भी सीमा होती है। और साथ ही एक सीमा होती है, जिससे ज्यादा वह ब्याज

नहीं दे सकता। अगर क़र्ज़ लेनेवाले को यह ज्ञात हो जाय कि, उसे दूनी रक़म सूद के रूप में क़र्ज़ देनेवाले को देना पड़ेगी, तो शायद वह क़र्ज़ ही न ले। यहां तक कि, क़र्ज़ लेनेवाला अगर इतना विचार ले कि, वह पचास सैकड़े का क़र्ज़ अदा कर सकेगा तो भी जहां तक हो सकेगा उससे कम में ही क़र्ज़ लेने की कोशिश करेगा। उधर क़र्ज़ देनेवाला यही चाहेगा कि जहां तक हो सके उसे ज्यादा सूद मिले। इसके लिए भी एक सीमा है कि जिससे कम सूद में वह क़र्ज़ न दे सकेगा। हां, ज्यादा से ज्यादा जहां तक मिले वह लेने को हमेशा तैय्यार रहेगा।

पूंजी की बाक़ायदा बाज़ार।

उत्पादन के संगठन की प्रारम्भिक अवस्था में सूद की दर इसी तरह भाव ताव करके ही तै होती होगी। ऐसी दशा में क़र्ज़ लेने देने की कोई बाक़ायदा संगठित बाज़ारें न होती होंगी और इस प्रकार के क़र्ज़ भी बहुत कम लिये दिये जाते होंगे। भारतवर्ष में यही दशा देहातों में अब भी है। स्पष्ट ही है कि, अगर एक बार एक आदमी क़र्ज़ दे देगा और उसे उसका रुपया मय सूद के समय पर वसूल हो जायगा, तो फिर वह दुबारा भी देने को तैयार रहेगा। थोड़े दिनों के बाद उसका कुटुम्ब उधार देने के लिए प्रसिद्ध हो जायगा। उधार लेनेवाले उसका पता लगा लगा कर उधार लेने उसके यहां आने लगेंगे। इसी प्रकार देहातों में लेनदेन का काम होता है। वहां बहुत से लोगों को समय समय पर रुपया उधार लेने की ज़रूरत होती है। पर, वहां रुपया उधार देनेवाले

बहुत ही कम लोग होते हैं। इस प्रकार के इक्के दुक्के महाजनों की स्थिति उन फुटकर बेचनेवाले दुकान्दारों की स्थिति से बहुत कुछ मिलती जुलती होती है जिसका वर्णन हम चौथे अध्याय में कर चुके हैं। जिस प्रकार फुटकर का बेचनेवाला अपने नाज की क़ीमत स्थिर करता है उसी प्रकार यह लोग भी सूद की दर स्थिर करते हैं। परन्तु उनके सूद के दर की भी एक सीमा होती है। क्योंकि अगर सूद बहुत बढ़ जायगा तो उधार लेनेवाले कम आवेंगे और महाजन को सूद की आमदनी कम हो जायगी। इन लोगों के सूद की दर की भी एक माध्यमिक दर हुआ करती है, जब पूँजी की मांग बढ़ जाती है, तब वह सूद की दर बढ़ा देते हैं। और जब मांग घट जाती है, तब घटा देते हैं। यदि वह ऐसा न करें तो उनका रुपया बिना ब्याज का पड़ा रहे।

मामूली देहातों में जिस तरह नाज की कोई बाक़ायदा बाज़ार नहीं होती उसी तरह पूँजी की भी नहीं होती। शहरों में पूँजी की बाज़ार होती है। वहां पर बहुत से लोग ऐसे होते हैं जो उधार देना चाहते हैं। इन्हीं सब को मिला कर बाज़ार का निर्माण हो जाता है। उधार देनेवाले तो शहरों में प्रायः बैंक ही होते हैं, उनका वर्णन दूसरे अध्याय में हो चुका है। वह व्यक्ति विशेष की बचत के रुपयों को एकत्रित करते हैं, और उसका इस प्रकार से उपयोग करते हैं, जिससे, उनको मुनाफ़ा हो। बैंक जिस दर पर रुपया उधार लेते हैं, उससे अधिक सूद की दर पर उधार देते हैं। बैंक वाले उतना रुपया नक़द रख कर जितना उन्हें तुरन्त देना होता

है, बाक़ी का रुपया अधिक से अधिक (जहां तक वे ले सकते हैं) सूद पर वह उधार उठा देते हैं। मतलब यह कि, बैंकों की स्थिति ठीक नाज के दुकानदार के समान होती है जिस तरह दुकानदार अपनी जिनिस का ज्यादा से ज्यादा मूल्य चाहता है, उसी तरह बैंक भी अपने रुपयों का ज्यादा से ज्यादा सूद चाहते हैं। जिस प्रकार कई दुकानदार आपस में इसी बात में प्रतियोगिता करते हैं, उसी प्रकार बैंक भी आपस में प्रतियोगिता करते हैं।

कर्ज़ लेनेवाले अपने किसी न किसी मतलब से कर्ज़ लेते हैं। इन 'मतलबों' में भेद हो सकता है पर सब यही चाहते हैं कि उन्हें कम से कम सूद पर रुपया मिले। जिस प्रकार बैंकों में आपस में अधिक से अधिक सूद पर रुपया उधार देने में प्रतियोगिता होती है, उसी प्रकार उधार लेनेवालों में आपस में कम से कम सूद पर रुपया लेने में प्रतियोगिता होती है। बस यही सब बातें मिल कर बाक़ायदा पूँजी का बाज़ार बना देती हैं। यह बाज़ार थोक गेहूं के उसी बाज़ार के समान होता है जिसका वर्णन हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं।

उक्त बाज़ार में मांग और संग्रह।

इस पूंजी के बाज़ार में एक बात ध्यान देने की है। गेहूं की बाज़ार के वर्णन में हमने कहा था कि व्यापारी लोग अन्य देशों की मांग और संग्रह पर बगुले की सी दृष्टि लगाये रहते हैं। क्योंकि, गेहूं एक जगह से दूसरी जगह को ले जाया जा सकता है

और जहां पड़त हो वहां अधिक मुनाफ़े में वेचा जा सकता है। पर गेहूं को स्थानान्तरित करने से रुपये को स्थानान्तरित करना वहुत ही आसान है। इसका पूरा पूरा ज्ञान पाठकों को तभी होगा जब "साख" के विषय का अच्छी तरह अध्ययन कर लेंगे; पर अभी इतना ही समझ लेना चाहिये कि, एक लाख रुपये के गेहूं अगर कलकत्ते से कानपुर भेजे जांय तो उनके देखते एक लाख रुपयों को नोट या हुंडियों के रूप में भेजने में वहुत कम ख़र्च व कम दिक़्त होगी। गेहुंओं से रुपये जल्दी भी पहुंचेंगे। अव तो करेंसी नोटों का भेजना भी पुरानी चाल में दाखिल हो गया है। नई चाल के अनुसार तो एक तार का दे देना ही काफ़ी है। वस इतने से ही कलकत्ते का रुपया कानपुर, वम्बई, व लन्दन वात की वात में पहुंचाया जा सकता है। इस तरह से जहां ज्यादा मुनाफ़ा मिलने की सूरत हो वहां पूंजी तुरन्त भेजी जा सकती है। प्रत्येक स्थानों के पूंजीपति दूर दूर देशों की पूंजी की वाज़ारों के ऊपर सदा ध्यान रखते हैं। इस प्रकार स्पष्ट ही है कि पूंजी का वाज़ार गेहूं के वाज़ार से कहीं अधिक सुसंगठित है। अव भारतवर्ष की पूंजी के वाजार की मांग और संग्रह का भी जरा विचार कर लीजिये।

हम मामूली वाजारों के सम्वन्ध की इस वात को देख चुके हैं कि, जव मूल्य घट जाता है तव मांग वढ़ जाती है, और मूल्य वढ़ जाता है तव मांग घट जाती है। ठीक यही वात पूंजी की वाजार के सम्वन्ध में भी है। क़र्ज़ लेनेवाले किसी न किसी मतलव

से ही क़र्ज़ लिया करते हैं । प्रायः वह उत्पादन के लिए ही क़र्ज़ लेते हैं। और उत्पादन करनेवाले सम्पत्ति को उत्पादन के कार्य्य में तभी तक लगाते हैं जब तक उन्हें उससे लाभ होने की आशा रहती है। सर्वसाधारण यही सोचा करते हैं कि, कहां तक अधिक सम्पत्ति मुनाफ़े के साथ काम में लगाई जा सकती है। (उदाहरणार्थ कल्पना कीजिए) कोई मनुष्य विचारता है कि १००००)रु० लगा कर और उससे मशीन मँगवा कर वह २०००) सालाना की आमदनी कर लेगा । ऐसी दशा में वह सोचता है कि, इन दो हज़ार में १०००) सालाना छीज बट्टे के निकाल कर १०००) रुपये बचने पर वह मुनाफ़े में रहेगा या नहीं । इसका उत्तर बहुत कुछ सूद की दर पर निर्भर है । अगर चार रुपया सैकड़ा सूद उसे देना पड़े तो उसे ६००) का मुनाफ़ा रहा करेगा, इतना मुनाफ़ा होने की उम्मीद में वह चट से रुपया उधार लेकर मशीन मँगवा कर काम जारी कर देगा । मगर यदि उधार देनेवाले ने १०) सैकड़ा सूद मांगा, तो वह यह सोच कर कि, अब कुछ बचत की गुंजायश नहीं, रुपया उधार लेकर काम करने का इरादा छोड़ देगा । अब कल्पना कीजिये कि १०) सैकड़े से कुछ कम सूद मांगा गया तो फिर क्या होगा । ऐसी दशा में, बहुत कम मुनाफ़े की सूरत रह जायगी, और इतने कम मुनाफ़े पर इतनी जोखिम का काम सम्भव है, वह करे या न करे ।

मतलब यह कि, कम लेन देन होना वा ज्यादा लेन देन होना बहुत कुछ सूद की दर पर निर्भर है। कल्पना कीजिए कि, एक

व्यापारी को किसान से फ़सल पर गेहूं ख़रीद कर उसे बाज़ार में बेंचना है। अब गेहूं ख़रीदने में उसे नक़द रुपये की ज़रूरत है। मान लीजिए कि देहात से गेहूं ख़रीद कर बाज़ार में बेंचने पर दो महीने के अरसे में कुल लाने लादने का ख़र्चा निकाल कर उसे सैकड़ा पीछे २) की बचत होगी। अर्थात् एक रुपये सैकड़े महीने का उसे मुनाफ़ा होगा। ऐसी दशा में उसे उधार रुपया लेकर रोजगार करना चाहिए या नहीं? दो रुपये दो महीने में जब उसे १००) के रोजगार पर मिलेंगे तो यह १२) सैकड़ा सालाना का मुनाफ़ा हुआ, अब अगर उसे बारह के बारह रुपये सूद में ही महाजन को देने पड़ जायंगे, तो फिर, उसके लिए मुनाफ़े की सूरत कहां रही? फिर वह क्यों रुपया उधार लेगा? यदि उसे ५) सैकड़ा के सूद पर उधार रक़म मिल जाय तो वह उधार ले ले। क्योंकि, फिर उसे १०) की आमदनी होगी. पांच ख़र्च और ५) बच जायँगे। मतलब यह कि, सूद की दर गिरते ही रुपये के उधार लेनेवाले बहुत हो जाते हैं और गिरते ही कम हो जाते हैं।

प्राय: प्रत्येक उधार लेनेवाले की यही हालत होती है। सूद की एक बड़ी से बड़ी सीमा होती है, उस सीमा से आगे कोई भी सूद देकर रुपया उधार नहीं लेता। क्योंकि, उतना सूद देने के बाद मुनाफ़ा कुछ होता ही नहीं। यद्यपि, यह सीमा सभी प्रकार के उधार लेनेवालों के लिए एक समान नहीं है, भिन्न भिन्न लोगों की हैसियत और भिन्न भिन्न रोजगारों के अनुसार भिन्न भिन्न है, तथापि, इसमें सन्देह नहीं कि, सूद घटते ही उधार लेनेवाले अधिक

हो जाते हैं। यही कारण है कि, बड़ी बड़ी बाज़ारों में बहुत लोग इसी विचार में पड़े रहते हैं कि रुपया उधार लें या न लें। कुछ लोग इस विचार में रहते हैं कि लें तो कितना लें। जहां ज़रा सा सूद में फ़र्क़ पड़ गया कि, उनके निश्चय पर उसका बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। जहां तक सूद का मांग के साथ सम्बन्ध है, वहां तक साधारण जिनिसों की मांग के सब नियम सूद की मांग में चरितार्थ हो जाते हैं।

अब पूंजी के संग्रह की तरफ़ आइये। वह रुपया जो उधार देने के निमित्त होता है या तो बैंकों के हाथ में रहता है या लेन देन करनेवाले महाजनों के पास। बहुत ही कम सूद पर यह लोग रुपया कदापि उधार न देंगे, पर जैसे जैसे सूद की दर बढ़ती जायगी, वैसे वैसे ही यह रुपया भी उधार में अधिक फैलाते जायंगे। जिस प्रकार गेहूं का भाव चढ़ जाने पर, बिक्री के लिए प्रस्तुत गेहूं को मात्रा (गेहूं का संग्रह) बढ़ जाती है, उसी प्रकार सूद के बढ़ जाने पर उधार देने के लिए प्रस्तुत पूंजी की मात्रा (पूंजी का संग्रह) भी बढ़ जाती है। बल्कि यों कहना चाहिये कि, सूद बढ़ जाने पर उधार देने के लिए प्रस्तुत पूंजी की मात्रा गेहूं से अधिक बढ़ जायगी; क्योंकि, पूंजी को स्थानान्तरित करने में गेहूं से अधिक सुभीते हैं। इस प्रकार बाज़ार में एक तरफ़ तो उधार लेनेवाले कमसे कम सूद में पूंजी उधार लेना चाहते हैं, और दूसरी तरफ़, उधार देनेवाले, अधिक से अधिक सूद लेकर उधार देना चाहते हैं। इन दोनों में जब भाव ताव होकर एक विशेष सूद की दर स्थिर होती है

तो उसको "पक्का सूद" (Net interest) कहते हैं।

"पक्का सूद" शब्द के प्रयोग करने से हमारा ध्यान "क़ीमत" और "सूद" के भेद की ओर जाता है। इसलिए इसका वर्णन करना भी उचित है।

पक्का सूद और सम्मिलित सूद।

पाठकों को स्मरण होगा कि जिस समय हम जिनिसों की वाज़ार का विचार कर रहे थे उस समय हमने कहा था कि चाहे क़ीमत में शीघ्रता के साथ परिवर्तन क्यों न हो, पर एक समय के लिए वाज़ार का एक ही समीकृत मूल्य होता है। मतलब यह कि एक ही समय में ५ सेर और ७ सेर के गेहूं नहीं विक सकते, इतना वड़ा अन्तर नहीं हो सकता। पर पूंजी के वाज़ार के सम्बन्ध में यह वात नहीं है। एक ही दिन में एक ही समय पर कुछ लोग ५) सैकड़े के सूद पर उधार लेते हैं, साथ ही कुछ लोग ८), १०) और १२) तथा इससे भी ज्यादा का व्याज देकर उधार लेते हैं। इससे यह सिद्ध है कि गेहूं के वाज़ार में और पूँजी के वाज़ार में वड़ा फ़र्क़ है। इस भेद का कारण यह है कि, जो सूद के नाम से रक़म ली जाती है, उसमें केवल सूद का ही भाग नहीं होता, पर और तरह की रक़मों का भी भाग होता है। अर्थ-विज्ञानियों का काम है कि, वह इस सम्मिलित सूद (जिसमें और तरह की रक़में सूद के रूप में शामिल होती हैं) और पक्के सूद (जिसमें सिवा सूद के और कुछ नहीं होता) के भेद को स्पष्ट कर दें।

बीमे की रक़म ।

सम्मिलित सूद में पक्के सूद की रक़म के अलावा और भी दो मदों की रक़में होतीं हैं। उनमें से पहली मद की रक़म उस बीमे की होती है जो रक़म के डूब जाने के लिए होता है। जिनिस वेचनेवाले को जिनिस की क़ीमत में इस तरह के वीमे की रक़म जोड़ने की ज़रूरत नहीं रहती, क्योंकि, उसे रक़म डूवने का ख़तरा नहीं रहता। एक वार सौदा बिक चुकने पर फिर उसका काम पूरा हो जाता है। पर क़र्ज़े की वात ऐसी नहीं है। क़र्ज़ में सदा इस वात का भय रहता है कि कहीं स्थिति उधार लेनेवाले के प्रतिकूल न हो जाय और उधार लेनेवाला वक्त पर रुपया चुकाने में कहीं असमर्थ न हो जाय। उदाहरण लीजिए। अगर किसी ने मशीन ख़रीदने के लिए रुपया उधार लिया है, तो सम्भव है कि मशीन ख़राव निकल जाय और उसमें नुक़सान हो जाय। अथवा यदि उसने नाज की ख़रीद फ़रोख़्त के लिए उधार लिया है तो सम्भव है कि उसके ख़रीदने के बाद नाज की दर गिर जाय और उसे लेने के देने पड़ जांय। ऐसी दशा में रुपया उधार देनेवाले को रुपये की तरफ़ से ख़तरा हो जायगा। ऐसे मामले होते भी हैं। इसलिए इस तरह के नुक़सानों को पूरा करने की तरकीब यह निकाली गई है कि, प्रत्येक क़र्ज़दार से पक्के सूद के अलावा कुछ रक़म इस प्रकार के ख़तरे के उपलक्ष्य में वीमे के ढंग पर लेली जाती है। इस प्रकार की अतिरिक्त आय से कभी कभी रुपये डूब जाने के नुक़सान का टोटा पूरा हो जाता है। अव कल्पना कीजिए कि एक महाजन ने

१००००) रुपया बहुत से आदमियों को थोड़ा थोड़ा करके उधार दे दिया। सूद के अलावा २००) साल के अनुसार उक्त ख़तरे की पूर्ति के लिए उसने सब पर सूद में भी बढ़ा दिया। साल ख़त्म हुआ। रक़में आईं। उसमें उक्त २००) की बीमे की रक़म भी आई पर मूल पूँजी में ५००) नहीं वसूल हुए। तो फिर कहना पड़ेगा कि इस पांच सौ की रक़म मे २००) तो उसने बीमे के रूप में सूद में बढ़ा कर निकाल लिया पर ३००) का घाटा रहा ही।

बैंकर लोग प्रत्येक उधार लेनेवाले की हैसियत देख कर और उसकी साख का विचार कर तब उक्त बीमे की रक़म की मात्रा का निर्णय करते हैं। अगर बैंकर देखेगा कि उधार लेनेवाला मालदार भी है और ईमान्दार भी है तो वह उक्त बीमे को बहुत कम मात्रा में सूद में जोड़ेगा। जितनी ही ईमान्दारी और उसकी जायदाद में कमी देखेगा उतना ही वह बीमे की रक़म को बढ़ाता चला जायगा। मामूली आदमी, अगर वह अपने क़र्ज़ों को समय पर दे देते हैं, तो अच्छी साख के कहे जाते हैं, पर यदि वह समय पर अपने क़र्ज़ अदा नहीं करते, तो उनकी साख अच्छी नहीं समझी जाती। मतलब यह कि, उसकी साख के ऊपर ही उसके सूद की रक़म का घटना बढ़ना अवलंबित है। दूसरी बात यह है कि, रक़म उधार लेते समय जो उसकी जमानत दी जाती है सो उस जमानत के ऊपर भी बीमे की रक़म का कम ज्यादा होना मुनहसिर है। अगर कोई किसी भले आदमी की जमानत देकर रुपया उधार लेना चाहे तो उसके लिए बीमा की रक़म कम न होगी, क्योंकि उस जमानत का तो

सिर्फ इतना ही अर्थ होगा कि यह आदमी ईमान्दार है और समय पर रुपये अदा कर देगा। मातवर आदमियों की ही ज़मानतें दी जाती हैं। अगर तीन चार मातवर आदमी इस बात की ज़मानत दे दें कि इसके (उधार लेनेवाले के) क़र्ज़ न चुकाने पर हम चुका देंगे, तो फिर बीमे की रक़म की मात्रा बहुत कुछ कम हो सकती है। पर यदि स्पृश्य ज़मानत दे दी जाय, अर्थात ज़मानत के तौर पर कुछ जेवर जवाहिरात, मकान, ज़मीन आदि गिरवी कर दिए जांय, तो फिर बीमे की रक़म बहुत ही कम हो जायगी, क्योंकि ऐसी दशा में रुपया डूबने का डर बहुत ही कम रहेगा। मतलब यह हुआ कि मामूली क़र्ज़ों के सूद में कुछ न कुछ बीमे की रक़म की मात्रा रहती ही है।

प्रबन्धक की रक़म।

दूसरे मद की रक़म जो सूद में सम्मिलित रहती है वह प्रबन्धक के प्रबन्ध करने के मद की है। प्रबन्धक को देखना पड़ता है कि जो चीज़ गिरवी रक्खी गई है, वह कहीं चोरी की तो नहीं है। अथवा मुलम्मे की तो नहीं है। उसे आदमी की साख की भी जांच परताल करना पड़ती है। इस प्रकार सूद में बीमे की और प्रबन्ध की रक़में मिली रहती हैं।

पक्का सूद और बैंक की दर।

एक छोटे से उदाहरण से यह बात अच्छी तरह से समझ में आ जायगी। कल्पना कीजिए कि, एक बैंक ने एक दिन चार आदमियों को ६) ८) १०) और १२) सैकड़े सालाना के सूद की दर पर

क्रमानुसार रुपया उधार दिया। इसमें से २) रुपये सैकड़े उसने अपने प्रबन्ध के ख़र्च के लिए लिया। तो फिर भिन्न भिन्न क़र्ज़दारों को ४) ६) ८) और १०) का सूद देना रहा। इस घटी हुई रक़म में प्रबन्ध की रक़म निकल गई। सूद और बीमे की ही रक़म रह गई। सूद की रक़म सब की एक सी रहती है, पर बीमें की भिन्न भिन्न। अब कल्पना कीजिए कि ३॥) सैकड़ा पक्के सूद की रक़म है। तो फिर इस रक़म को घटाने से जो रक़म रह जाय उसे बीमे की रक़म समझना चाहिए। पहले क़र्ज़दार को इस हिसाब से बीमे के रूप में सिर्फ़ ॥) सैकड़ा देना पड़ा। दूसरे को २॥), तीसरे को ४॥) और चौथे को ६॥) सैकड़ा बीमा के लिए देना पड़े। इसी से समझ लीजिए कि पहले की साख और ज़मानत सब से अच्छी होगी, दूसरे की उससे कम, तीसरे की उससे भी कम, और चौथे की सब से कम। बैंक के प्रबन्धक ने सब की साख देख देख कर और उनकी ज़मानतों के स्वरूप को देख देख कर उसके अनुसार ही बीमे की रक़में निश्चित कर दीं। अब अगर संयोगवश कुल लोग आगे चलकर रक़में वापस न दे सकें (जैसा कि प्रायः होता है।) तो फिर बैंक इन बीमे की रक़मों की आमदनी से उक्त घाटे को पूरा कर लेगा। बैंक का मैनेजर न अदा हो सकनेवाली रक़मों का औसद देखकर फिर उसी के अनुसार बीमे की रक़मों की दर का निश्चय करता है।

पक्का सूद ही मांग और संग्रह के समीकरण के अनुसार स्थिर होता है। सम्मिलित सूद जो लोगों को देना पड़ता है, कई और

प्रकार की रक़मों को मिलाने से बनता है। उनका वर्णन ऊपर हो चुका। अख़बारों की रिपोर्टों को पढ़ने से यह पता नहीं लग सकता कि पक्के सूद की दर क्या है। क्योंकि, उनमें बीमा और प्रबन्ध की रक़मों को अलग अलग करके नहीं लिखा जाता। परन्तु, बड़े बैंकों की सूद की दर को कुछ समय तक ध्यानपूर्वक मनन करने और उसके उतार चढ़ाव का निरीक्षण करने से पक्के सूद का अनुमान किया जा सकता है। बड़ी बड़ी बैंकें अपनी कम से कम सूद की दर प्रकाशित करती हैं। वह सूद की दर उन लोगों के लिए होती हैं जिनकी साख और जमानतें प्रथम श्रेणी की होती हैं। इस दर में बीमे की रक़म बहुत ही कम मात्रा में होती है। जब संग्रह के देखते पूंजी की मांग कम होती है, तब सूद की दर ४) सै० व ३) सै० तक गिर जाती है, पर जब संग्रह की मात्रा कम और मांग का ज्यादा हो जाती है, तब वही दर बढ़ कर ६) सै० और ७) सै० तक हो जाती है। मांग और संग्रह के कारण जो परिवर्तन होते हैं वह प्रायः पक्के सूद में ही होते हैं। क्योंकि, बीमे और प्रबन्ध की रक़में इतनी जल्दी नहीं घटती बढ़तीं। बस, इस बात को अच्छी तरह से समझ कर विचार करने से पक्के सूद की दर का अनुमान किया जा सकता है।

सूद की माध्यमिक दर।

जिनिसों की बाजार के वर्णन में हमने कहा था कि माध्यमिक मूल्य की ओर बाजार का भाव सदा जाया करता है। ठीक यही बात सूद के माध्यमिक दर के सम्बन्ध में भी कही जा सकती

है। सूद का बाज़ार भाव जब बढ़ जाता है तब वह लोग जो पहले से उधार लें या न लें, इस असमंजस में पड़े होते हैं, उधार लेने का विचार छोड़ देते हैं। नतीजा यह होता है कि मांग कम हो जाती है, मांग कम होने से सूद को फिर घटाना पड़ता है। इसी प्रकार जब सूद की दर गिर जाती है, तब उधार लेनेवाले बहुत से हो जाते हैं—मांग फिर बढ़ जाती है—और सूद को फिर चढ़ना पड़ता है—मतलब यह कि, मांग और संग्रह के अनुसार सूद चढ़ उतर कर अपने माध्यमिक दर के आस पास उसी प्रकार रहता है जिस प्रकार जिनिसों के माध्यमिक भाव रहते हैं।

फ़सल पर सूद की दर का परिवर्तन।

इस स्थान पर पूंजी सम्बन्धी एक विशेष बात का और भी वर्णन कर देना आवश्यक होगा। सूद के दर में परिवर्तन सम्वत् की फ़सलों के अनुसार प्रायः हुआ करता है। भारतवर्ष कृषिप्रधान देश हो रहा है, इसलिए, यहां पर यह बात बहुधा पाई जाती है। वर्ष के एक ही महीने पर बहुत सी फ़सलें पक कर तैयार होती हैं। किसान उसे बेंच कर रुपया खड़ा करना चाहते हैं। फलतः प्रत्येक फ़सल पर नाज ख़रीदनेके लिए रुपयों की बड़ी आवश्यकता हो जाती है, जब फ़सल निकल जाती है, तब फिर रुपये की उतनी टान नहीं रहती। यही कारण है कि,भारतवर्ष में कुछ महीनों में सूद की दर चढ़ जाती है और कुछ में उतर जाती है। उदाहरण लीजिये। कलकत्ते में बरसात के प्रारम्भ में रुपये की उतनी मांग नहीं रहती, फलतः बैंकों में सूद की दर गिरी हुई रहती है।

पर जैसे ही सन की खेती तैयार हुई, कि रुपये की मांग बढ़ जाती है। साथ ही सूद की दर भी चढ़ जाती है। बंगाल और वर्मा में चावल की फ़सल पर और भी ज़्यादा रुपये की मांग बढ़ जाती है। बम्बई में जाड़े के दिनों में कपास की फ़सल के कारण रुपये की मांग बढ़ जाती है। पर जैसे ही फ़सल का समय निकला कि, मांग कम पड़ जाती है और सूद की दर गिर जाती है। बरसात के महीनों में तो रुपयों की मांग बहुत ही गिर जाती है। इसलिए; सूद की दर का अध्ययन करनेवालों को इस बात को अच्छी तरह समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है कि, फ़सलों पर मांग किस प्रकार, क्यों और कितनी बढ़ती है। मांग का घटना बढ़ना अच्छी और बुरी फ़सल की पैदावार पर भी निर्भर है। इसी प्रकार के कारणों से कलकत्ते बम्बई आदि के बैंकों के सूद की दर में समय समय पर परिवर्तन हुआ करते हैं।

सूद की माध्यमिक भी अचल नहीं है।

अन्त में यह बात और जान लेना चाहिये कि सूद की माध्यमिक दर भी अचल नहीं है। वह भी परिवर्तित होती रहती है। देश, काल की परिस्थितियां ही इस परिवर्तन की कारण होती हैं। इस समय हम इन परिस्थितियों का विचार नहीं कर सकते, क्योंकि, इसके लिए पहले माध्यमिक मालियत का ज्ञान होना आवश्यक है।

यह तो स्पष्ट ही है कि जैसे जैसे उत्पादन करने का संगठन होता जायगा वैसे वैसे पूंजी की मांग भी बढ़ती जायगी। ऐसी

दशा में संग्रह के लिए काफ़ी पूंजी का होना ज़रूरी है। अगर उत्पादन का संगठन ही वढ़ जाय और पूंजी के संग्रह की मात्रा में वृद्धि न हो तो सूद की दर यहां तक वढ़ जाय कि फिर आगे उत्पादन के संगठन में वृद्धि ही न हो सके। पर ऐसी वात नहीं है। जैसे जैसे पूंजी की मांग वढ़ती जाती है वैसे ही वैसे पूंजी का संग्रह भी वढ़ता जाता है। क्योंकि, लोगों में सम्पत्ति जोड़ने का इरादा भी वढ़ता जाता है। जैसे जैसे उत्पादन का संगठन वढ़ता है, वैसे ही वैसे लोगों के पास सम्पत्ति भी वढ़ती है, तथा लोग उसे पूंजी वनाने लगते हैं, नतीजा यह होता है कि, पूंजी का संग्रह भी साथ ही साथ वढ़ता जाता है। तव फिर यह भविष्य वाणी की जा सकती है कि, अगर ज़गत की यही गति रही तो उत्पादन के संगठन वढ़ेंगे और पूंजी भी वढ़ेगी। अव पूंजी का सूद कम होगा या अधिक यह वात, पूँजी की तात्कालिक मांग और तात्कालिक संग्रह के ऊपर निर्भर रहेगी। कुछ अर्थ-विज्ञानियों का मत है कि इस प्रकार वढ़ते वढ़ते ऐसा समय आ जायगा जव पूंजी का संग्रह इतना वढ़ जायगा, अर्थात् संसार में इतनी पूंजी हो जायगी कि, उसे काफ़ी उत्पादन में लगाना असंभव होजायगा। साथ ही कुछ अर्थ-विज्ञानियों की यह भी राय है कि पूंजी चाहे जितनी वढ़ती चली जाय, उसके उपयोग के मार्ग भी निकलते चले आयेंगे। पर होगा क्या, इसे ठीक ठीक भविष्य ही वतलायेगा।

किसानों को क्या सूद देना पड़ता है।

अव हमें इस वात का विचार करना चाहिये कि, भारतवर्ष

के देहातों में सूद की क्या दर चलती है । जिनिसों की फुटकर विक्री के मूल्य में कहा जा चुका है कि वहुत कुछ उसके थोक मूल्य के ऊपर निर्भर रहता है । थोक व फुटकर विकी के मूल्य में जैसे जैसे रेल तार के समान, सम्वन्ध के सुभीते, होते जाते हैं, वैसे ही वैसे, उनका दोनों का घनिष्ट सम्वन्ध भी होता जाता है । पर सूद के सम्वन्ध में यह वात नहीं । जो सूद की दर किसानों को देना पड़ती है, उनमें और बड़ी वड़ी पूंजी की बाज़ारों की दर में जमीन आस्मान का फ़र्क़ रहता है । वड़ी जरूरत इस वात की है कि ऐसे सम्वन्ध के साधन स्थापित हो जांय, जिससे वह चल पूँजी जो अभी केवल वड़े वड़े शहरों की वाजारों के ही कब्जों में है, देहातों में भी पहुंच जाय ।

प्रबन्ध और वीमे की वडी रकमें ।

हम यह कह सकते हैं कि, खेती के लिए काम में आनेवाली पूंजी की देहातों में कोई वाज़ार ही नहीं है । किसानों को जव जरूरत पड़ती है तब वह अड़ोस पड़ोस में इक्के दुक्के रहनेवाले वनियों के पास जाते हैं और रुपया उधार ले आते हैं । पूँजी की वाज़ार पास में न होने के कारण यह महाजन खूब मनमाना कस कर सूद वसूल करते हैं । इस प्रकार के महाजन भी पुराने सांचे के ढले हुए ही होते हैं । पास का रुपया फैल जाने पर वह वैंकों से रुपया लाकर फैलाने का विचार तक नहीं करते । पर ये होते हैं वड़े चालाक । कोई किसान एक वार इनके चंगुल में फँसे पीछे फिर वचकर दूसरे महाजन के पास सहज में नहीं जा सकता ।

अगर कोई किसान किसी महाजन के चंगुल से निकलने की कोशिश भी करता है तो उसे इस बात का भय रहता है कि सेठ जी कहीं हम पर नालिश करके हमें बरबाद न कर दें, व बेद-ख़ल न करा दें। इसी प्रकार के भयों के कारण वह बेचारा मजबूर हो जाता है। किसान जो सम्मिलित सूद अदा करता है उसमें पक्के सूद की मात्रा बहुत ही कम होती है। उसे तो सेठ जी के मुँह से जो सूद की दर निकल गई, वही देना पड़ती है। किसान को जब रुपये की बहुत ही सख्त जरूरत होती है तभी वह सेठ जी के पास जाता है। सेठ जी उसकी ग़र्ज़ को देखकर सूद की बड़ी से बड़ी दर मांग बैठते हैं और फिर उससे ज़रा भी कम पर राजी नहीं होते। बेचारे किसान को झक मार कर वही सूद स्वीकार करना पड़ता है। कहीं कहीं तो २५) सै० सालाना से ५०) सै० सालाना तक का सूद किसानों को भुगतना पड़ता है। भारतवर्ष में औद्योगिक उन्नति बहुत कुछ इस सूद के कारण ही रुकी पड़ी है। किसान कमा कमा कर मर जाते हैं, पर सूद के भूत से उनका पिण्ड नहीं छूट पाता। अगर किसानों को १०) या १२) रु० सैकड़े के सूद पर रुपया मिलने का सुभीता हो जाय, तो फिर वह खेती की बहुत कुछ तरक्की कर सकते हैं। अस्तु।

केवल भारत में ही नहीं, किन्तु संसार के उन समस्त देशों की भी यही दशा है जहां पूंजी के जुटाने के ख़ास प्रबन्ध नहीं हैं और जहां के किसान बैंकों से सीधा लेन देन नहीं कर सकते। पिछले किसी परिच्छेद में हम इस बात का विचार कर चुके हैं

कि वैंक इस तरह के छोटे मोटे लेन देन नहीं करते। पर कल्पना कीजिये कि किसी वैंक ने ज़िले की मुख्य मुख्य तहसीलों में अपनी शाखायें खोल दीं, तो फिर क्या नतीजा होगा। नतीजा यह होगा कि सैकड़ों गांवों के लोग इन वैंकों में रुपया उधार लेने को आयेंगे। इसलिए वहुत से आदमियों की साख जानने के लिए वैंक को वहुत से आदमी रखना पड़ेंगे। नतीजा यह होगा कि, प्रवन्ध का ख़र्च वढ़ जायगा, साथ ही सूद में जो प्रवन्ध की रक़म जुड़ती है उसकी मात्रा भी वढ़ जायगी। देहातों में छोटी छोटी रक़मों के डूवने का भय भी अधिक रहता है। इसलिए, वीमे की रक़म का मात्रा जो सूद में जुड़ती है वढ़ जायगी। मतलव यह कि, शहरों की दर पर देहातों में लेन देन न कर सकेंगे, उन्हें भी सूद की दर वढ़ाना ही पड़ेगी।

उक्त काल्पनिक उदाहरण से यह वात स्पष्ट हो गई होगी कि किसानों के वीच में लेन देन करने में कितने प्रवन्ध और ख़तरे की संभावना है। वहां की सूद की दर को कम करने के लिए विना कुछ ख़ास प्रवन्ध किये काम नहीं चल सकता। भारतवर्ष में सहयोगसमितियों की स्थापना इसी उद्देश्य को लक्ष्य रख कर की गई है। यद्यपि इनका अलग ही अध्ययन करने की ज़रूरत पड़ेगी तो भी इनका स्वरूप समझाने के लिए हम नीचे एक आध उदाहरण देते हैं।

संयुक्त साख।:

किसी देहात के किसानों का समुदाय सहयोग-संमितियों की

स्थापना कर सकता है और सरकार से अपनी समिति की रजिष्ट्री करवा सकता है। अब कल्पना कीजिए कि, किसी गांव के ५० आदमियों ने मिलकर इस प्रकार की एक समिति की स्थापना कर ली। इसमें वही किसान शामिल होंगे जिन्हें रुपयों की जरूरत होगी। अब कल्पना कीजिये कि, इसके सदस्यों में किसी को १०) किसी का २०) किसी को ५०) ऐसे कुल को मिला कर १२००) रुपयों की जरूरत है। तो फिर यह समिति मिल कर किसी बैंक से १२००) रुपया उधार ले आयेगी और आपस में बांट लेगी। बैंक को भी भिन्न भिन्न छोटी छोटी रक़में न देना पड़ेंगी, और साख की जांच करने में जो प्रवन्ध का ख़र्चा होता है, वह न उठाना पढ़ेगा। प्रवन्ध की मद्द की जो रक़म बड़ी मात्रा में सूद में जोड़ी जाती वह अब बहुत कम मात्रा में जुड़ेगी। अतएव सूद की दर कम होगी। दूसरी रक़म अर्थात् बीमे की रक़म भी कम मात्रा में ही जुड़ेगी। क्योंकि, रुपया डूबने का ख़तरा अब उतना न रहेगा। इस प्रकार की समितियों का यह एक मुख्य नियम होता है कि समिति का प्रत्येक सदस्य समिति के ऋण का उत्तरदाई होता है, अर्थात् अगर समिति के लोग ऋण चुकाने से इन्कार कर जांय तो फिर बैंक उसके चाहे जिस सदस्य पर नालिश कर सारी रक़म वसूल कर सकता है। इस नियम का परिणाम यह होता है कि, बैंकवाले बीमा की रक़म सूद में बहुत कम मात्रा में जोड़ते हैं। इसके सिवा और भी बहुत सी ऐसी बातें होती हैं जिनसे रुपया डूबने का भय नहीं रहता। मतलब यह कि, इस प्रकार की समि-

तियों के लिए सूद की दर बहुत कम हो जाती है।

अब इन समितियों से और क्या लाभ होते हैं, वह भी देख लीजिए। एक तो यह फ़ायदे की बात होती है कि शहरों में जो सूद की दर होती है, उसी दर पर, पूंजी देहातों में भी पहुंचने लगती है। जिस प्रकार देहातों में बिकनेवाले फुटकर गेहूं का भाव थोक बाज़ार के गेहूं के भाव के अनुसार ही होता है, उसी प्रकार पूंजी का सूद भी देहातों में बड़ी बड़ी पूंजी की बाज़ारों के सूद की दर के ही अनुसार हो जाता है। जिस तरह शहरवालों को पक्के सूद के साथ साथ कुछ ख़तरे के बीमे की रक़में और कुछ प्रबन्ध की रक़में मिलाकर सम्मिलित सूद देना पड़ता है, उसी प्रकार देहातवालों के लिए भी सुभीते हो जाते हैं। देहातवालों का भी सम्बन्ध शहर की पूंजी की बाज़ारों से हो जाता है। हम इस बात का वर्णन कर चुके हैं कि आजकल देहातों में यह दशा नहीं है। वहां सेठ लोग मनमाना सूद वसूल करते हैं। वहां के किसानों को इतना सूद देना पड़ता है कि मुनाफ़े का भाग बचता ही नहीं। पूंजी का लेन देन जिनिसों के लेन देन के समान नहीं है। आदि। यह सब बातें सहयोग-समितियों से नष्ट हो जायंगी और किसानों को सेठ साहूकारों के चंगुल से छुड़ाया जा सकेगा, तथा, पूंजी भी जिनिसों के समान ही हो जायगी।

शिल्पियों के लिए संयुक्त साख।

जो हाल आजकल देहातों में किसानों का है, वही हाल कहीं कहीं शहरों में शिल्पियों का भी है। किसी किसी स्थान के शिल्पी

भी सेठ महाजनों के चंगुल में उसी तरह फँस सेठों का मन माना सूद चुकाते हैं, जिस तरह किसान। यदि उन लोगों में भी सहयोग-समितियों का संठगन हो जाय, तो उन्हें भी उचित दर पर रुपया व्यवहार को मिलने लगे। मतलब यह कि, शिल्पियों में भी अगर ज़रूरत हो तो सहयोग-समितियों के स्थापित होने की गुंजाइश है।

सब का सारांश यह हुआ कि, भारतवर्ष में पूँजी की स्थिति जिनिस की स्थिति के समान नहीं। पर वह धीरे धीरे हो रही है। शहरों में जो पूँजी की बाज़ारें हैं उनमें पूंजी का सूद मांग और संग्रह के नियमों के अनुसार स्थिर होता है। अब इस सूद की दर भी उन्हीं नियमों के अनुसार स्थिर होने लगी है जिन नियमों के अनुसार किसी जिनिस की क़ीमत स्थिर होती है। इस प्रकार स्थिरहुए सूद में प्रबन्ध व ख़तरे के बीमे की रक़म मिला देने से सम्मिलित सूद बन जाता है, वही सब लोगों को देना पड़ता है। यद्यपि देहातों में और कहीं कहीं शहरों में भी इस प्रथा का प्रचार नहीं हुआ है, और वहां अभी तक सेठ साहूकारों का मनमाना सूद लेना जारी है, तथापि, रंग ढंग से ज्ञात होता है कि, यह अन्धेर शीघ्र ही मिट जायगा और सर्वत्र बाज़ार दर के अनुसार पूंजी का मिलना सुलभ हो जायगा। पाठक जब मांग और संग्रह के समीकरण के सिद्धान्तों को अच्छी तरह समझलें और उसमें ख़ूब प्रवीण हो जांय, तब उन्हीं सिद्धान्तों को पूँजी में भी घटाने की चेष्टा कर सकते हैं। दुर्भाग्य से हिन्दी में अभी तक इस प्रकार की शायद कोई पुस्तक

नहीं निकली है जो उनको उक्त कार्य्य में सहायता दे सके।

पूंजी के बढ़ने घटने से क्या होता है।

अब इस बात का विचार कीजिये कि देश में पूंजो के वढ़ जाने से क्या परिणाम होते हैं। पूंजी बढ़ जाने से उसके सूद की दर गिर जाती है। जिस प्रकार, किसी जिनिस का संग्रह बढ़ जाने से उसकी क़ीमत गिर जाती है, उसी तरह, पूंजी का संग्रह बढ़ने से उसके सूद की दर भी गिर जाती है। ऐसी दशा में लोग जहां जिस व्यापार में पूंजी लगाने से ज्यादा मुनाफ़े की सूरत देखते हैं; वहां तुरन्त पूंजी लगा देते हैं। विलायत में पूंजी बहुत है। वहां उसका सूद भी कम है। परिणाम यह है कि, लोग बहुत कम मुनाफ़े के व्यापारों में भी धड़ाधड़ पूंजी लगा देते हैं और अपने तैयार किए हुए माल से संसार की बाजारें पाट देते हैं। पर वहां अगर सूद की दर इतनी कम न हो कर भारतवर्ष की तरह से अधिक हो तो फिर बहुत से लोग व्यापार से अपना रुपया निकाल कर उधार व्यवहार का लेन देन करने लगें। क्योंकि, तब उन्हें उसी में सुभीता जचे। जिन देशों में पूंजी की कमी होती है, वहां पूँजी के सूद की दर ज्यादा होती है। तब फिर उस देश के लोग पूंजी को उसी व्यापार में लगाते हैं जिसमें अधिक से अधिक मुनाफ़े की आशा होती है। बस यही कारण है कि वहां का व्यापार कम होता है। एक बात और भी ध्यान देने की यह है कि, जिन देशों में व्यापार खूब होता है अर्थात् जहां पूंजी खूब होती है और जहां उसका सूद कम होता है, वहां पर व्यापार की

अधिकता के कारण ही मजदूरों की भी ज्यादा मांग होती है, और ज्यादा मांग होने के कारण ही मजदूरों की मजदूरी भी खूब मिलती है। इससे उनकी जीवनयात्रा सुखपूर्वक चलती है, पर जहां पूँजी कम है, सूद ज्यादा है, और व्यापार कम है वहां के मजदूरों की अवस्था भी शोचनीय रहती है क्योंकि उनकी मांग कम होने से उन्हें मजदूरी कम मिलती है।

भारत और पूंजी।

हिन्दुस्तान में सूद की दर बहुत बढ़ी है। इसलिए जिन लोगों के पास पूंजी है वह उसे किसी उत्पादन के काम में न लगा कर सूद पर ही उठाते हैं। उसके लम्बे सूद का बड़ा भाग देश के किसानों को ही भुगतना पड़ता है। सूद की रक़म अदा करने के बाद उनके पास बहुत ही कम मुनाफ़ा रह जाता है। यहां के किसान इतने ग़रीब हैं कि उन्हें दरिद्र का स्वरूप कहना अनुचित न होगा। इसके दो कारण मुख्य हैं, एक तो लगान का बढ़ना और दूसरा सूद का बढ़ना। सूद के बढ़ने का विचार हम कर ही रहे हैं। लगान का विचार अगले परिच्छेद में करेंगे।

भारत में सूदख़ोरों की बहुतायत के कारण और सूद की दर बढ़ी हुई होने के कारण व्यापार चौपट हो रहा है। विलायतवाले कम मुनाफ़े पर व्यापार कर डालते हैं, पर यहां वाले सूद अधिक मिलने के लोभ में कम मुनाफ़े पर व्यापार नहीं करते। वह अपने किसान भाइयों को ही रुपया उधार दे दे कर उनका खून सूद के रूप में ही चूसने में मस्त हैं। बस इसी कारण भारत व्यापार में

पिछड़ा है और विलायतवाले व्यापार के द्वारा भारत की रही सही सम्पत्ति और खींच रहे हैं। यही दशा अगर कुछ दिनों तक और रही तो भारत में सिवाय किसनई के और कोई धन्धा न रह जायगा। जो धन्धे रहेंगे उनके पूंजीपति होंगे विलायतवाले। बड़े बड़े शहरों में जो बड़े बड़े कारखाने हैं उन सब के मालिक विलायती लोग हैं। हिन्दुस्तानियों के हाथ में तो सिर्फ दलाली और खेती का काम है। अब किसानों के जीवन की क्या दशा है यह एक बार देहातों में जाकर देखने से ही मालूम हो जायगी। अधिक क्या कहें, पेट भर भोजन मिलना मुश्किल हो रहा है!

इसमें संदेह नहीं कि अधिक सूद मिलने से सम्पत्ति शीघ्रता से बढ़ती है। ऐसी दशा में कहा जा सकता है कि फिर चिन्ता की कौन बात है। खूब सूद लेते लेते यहां भी एक दिन पूंजी बढ़ जायगी। पर वास्तविक दशा ऐसी नहीं है। सूद की जो बड़ी रक़में किसानों से चूसी जाकर महाजनों के पास आती हैं वह उन के पास भी नहीं रहने पातीं। किसी न किसी तरह से घूम फिर कर व्यापार और सरकारी नौकरों के द्वारा विलायत चली जाती हैं। यही कारण है कि दिन पर दिन दरिद्रता बढ़ती ही जाती है।

उद्धार के उपाय।

जब किसी देश की आर्थिक अवस्था वैसी हीन हो जाती है जैसी भारत में है तब उस देश की सरकार क़ानून के द्वारा तथा अन्य उपायों से ऐसी चेष्टायें करती हैं जिससे लोगों की अवस्थाएं

सुधर जाती हैं। भारत में ऐसे उपाय अभी हो सकते हैं या नहीं इसमें पूर्ण रूप से सन्देह है। कारण यह है कि भारत का सम्बन्ध आज ऐसी जाति से है जो संसार में कूटनीति तथा व्यापार में अपना सानी नहीं रखती। इसलिए बड़े बड़े विद्वानों का मत है कि अपना आस्तित्व बनाये रखने के लिए अपने पैरों खड़ा होना पड़ेगा। देश में जो सम्पत्ति गड़ी हुई है, जो, जेवरों के रूप में है, अथवा कम सूद पर काग़ज़ पत्रों के रूप में रक्खी है, उसे उससे निकाल कर, व्यापार व्यवसाय में लगाना होगा। तभी पूंजी बढ़ेगी और सूद की दर कम होगी तथा श्रमजीवियों को पेट भर खाने को मिल सकेगा।

किन्तु, ऐसे ही विचार सब विद्वानों के नहीं। सबसे नवीन विचार यह है कि, वर्तमान पूंजीवाद के आर्थिक प्रवाह में पड़ कर हम अपनी दशा सुधारने के बदले और बिगाड़ लेंगे। इसलिए, नवीन विचारों के प्रवर्तक कहते हैं कि, इस प्रवाह से अपने को जहां तक हो सके शीघ्र निकाल कर स्वतंत्र रूप से उन्नत्ति करना चाहिए। साफ़ शब्दों में यह कि, स्वयंभुक्तावस्था को लौटना चाहिए। वहां जाने से भोजन और वस्त्रों के लाले तो न पड़ेंगे ?

इक्कीसवां परिच्छेद।

—:०:—

लगान।

अब हम उत्पादन के दूसरे साधन, क्षेत्र के सम्बन्ध में विचार करेंगे और यह देखेंगे कि, कहां तक ज़मीन के लिए दिया जानेवाला लगान, मांग और संग्रह के नियमों के अनुसार साधारण जिनिसों के समान होता है। अभी हम केवल कृषि क्षेत्र का ही विचार करेंगे। अन्य प्रकार की क्षेत्र सम्बन्धिनी बातें प्रायः कृषि क्षेत्र के समान ही हैं। उनमें जो कुछ फ़र्क़ है, उसका आगे चल कर अध्ययन करना होगा।

ज़मींदारों की उत्पत्ति और बाज़ार का संगठन।

यद्यपि यह बात मानना पड़ेगी कि, क्षेत्र की बाजारें भारतवर्ष में बन गई हैं, तथापि, उन्हें बने अभी बहुत ही थोड़ा समय हुआ है। इसीलिए, उनका संगठन अभी अच्छी तरह नहीं हो पाया। भारत में मुसलमानी राज्य के प्रथम देशी नरेश राज्य करते थे। क्षेत्र उन्हीं का समझा जाता था, और लगान भी किसान उन्हीं को दिया करते थे। इस लगान में टैक्स का अंश भी होता था। राजाओं को सेना रखना पड़ती थी, बदमाशों और लुटेरों से रैयत को बचाना पड़ता था। न्यायालय, विद्यालय आदि का ख़र्च उठाना पड़ता था, तथा अन्य शासन के प्रबन्ध करना पड़ते थे। इस सब का ख़र्च इसी लगान से चलता था। जिस ज़मीन पर जिसका हक़ था, उसका वह हक़ पीढ़ी दर पीढ़ी बराबर चला

जाता था। क्या लगान दिया जाय, और कितना लगान दिया जाय, इस बात के निर्णय करने में अर्थ-विज्ञानियों की जरूरत ही नहीं पड़ती थी। मुसलमानी राज्यों में पट्टों की स्थापना हुई, पर लगान क्या दिया जाय इसके संबन्ध में कोई व्यापक नियम नहीं बने। कहीं कहीं के किसानों को पैदावार का दशांश देना पड़ता था और कहीं कहीं तृतीयांश। इसके अलावा किसी किसी स्थान में पैदावार का आधा भाग लगान के रूप में ले लिया जाता था। इस प्रकार के अन्तर के आर्थिक कारणों से नहीं थे, किन्तु वह शाहंशाह की इच्छा के अनुसार थे आजकल भी तो टैक्सों की रक़म सरकार की इच्छानुसार ही ली जाती है। हां, टैक्सों से जैसे कभी कभी आर्थिक प्रभाव उत्पन्न हो जाते हैं वैसे ही लगान की दर से भी हो जाते थे। मतलब यह कि, कभी कभी आधी रक़म दे देने से किसान और उसके कुटुम्ब की जीवनयात्रा कठिन हो जाती होगी। और तब किसान अपना खेती का व्यवसाय छोड़कर और किसी धन्धे में लग जाते होंगे। इसी बात से लगान बढ़ाने की हद बनती थी। इस का ध्यान रक्खा जाता था कि लगान की रक़म कहीं इतनी न बढ़ जाय कि किसानों को गांव ही छोड़ कर दूसरा पेशा कर लेना पड़े।

उन दिनों, जैसे आजकल जमींदार हैं, वैसे नहीं थे। इस प्रकार के जमींदार तो अठारहवीं शताब्दी में, जब भारत में अराजकता खूब फैली हुई थी, बन बैठे। बस, जब से इस तरह के जमींदार हो गये, तभी से क्षेत्र के बाजार के बनने की भी सूरत

निकल आई। अब हम इस वात का विचार करेंगे कि इन वाज़ारों में लगान की दर का निश्चय किस प्रकार होता है।

लगान की दर का स्वरूप।

हम लगानों का विचार करेंगे, लगान का नहीं। सूद की साधारण दर के समान लगान की कोई साधारण दर नहीं होती। पूंजी के हज़ार रुपयों में, या चाहे जितने रुपयों में, प्रत्येक रुपये की मालियत एक समान होती है, पर जैसा कि हम दूसरे अध्याय में कह चुके हैं कि क्षेत्र के सम्बन्ध में ऐसी वात नहीं है। क्षेत्र का कोई एकड़ अधिक उपजाऊ होता है और कोई कम, इसलिए, सब एकड़ों का लगान एक दर से नहीं निश्चित किया जासकता। जिन लोगों का देहातों के विषय में कुछ अनुभव होगा, वह इस वात को जानते होंगे कि प्रत्येक खेत का लगान उसकी उत्पादन शक्ति के अनुसार कम ज्यादा होता है। कोई कोई खेत १०) दस रुपये के लगान पर उठते हैं तथा उसके पास के ही कहीं कहीं, उपजाऊ न होने के कारण कोई मुफ़्त भी नहीं पूंछे जाते। इसलिए जब हम यह कहते हैं कि लगान बढ़ गया या घट गया तो हमारा मतलब किसी ख़ास लगान के वाज़ार के दर से नहीं होता किन्तु, हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि प्रत्येक क्षेत्र अपने अपने गुणों में, और स्थितियों में, भिन्न २ होते हैं. इसलिए, लगान बढ़ जाने का मतलब यह होता है कि समस्त क्षेत्रों का, या क़रीब क़रीब समस्त क्षेत्रों का, लगान बढ़ गया; और लगान घटने का मतलब यह होता है कि, समस्त क्षेत्रों का या क़रीब क़रीब समस्त क्षेत्रों का लगान घट गया।

क्षेत्रों की मांग और उनका संग्रह।

क्षेत्रों की मांग उन्हीं लोगों में पैदा होती है जो खेती करना चाहते हैं। उत्तरीय भारत की जनसंख्या का एक बड़ा भाग खेती पर ही जीवन व्यतीत करता है। इस प्रकार के लोग स्वभाव से ही पुरानी चाल के होते हैं। इन में बहुत से तब तक खेती का काम बन्द नहीं करते जब तक उनकी उदरपूर्ति होती रहती है। जो अपनी दशा सुधारना चाहते हैं, वह शहर में जाकर नये नये धन्धे करने से उसी खेत में सर रगड़ना ज्यादा अच्छा समझते हैं। इन्हें अगर इनके गांव से कुछ दूरी पर वैसी ही ज़मीन कम लगान में भी मिले, तो भी, यह उसे नहीं लेते और अपने गांव के मँहगे लगान को भुगतते हैं। इन्हीं सब बातों के कारण क्षेत्र का एक सुसंगठित और व्यापक बाज़ार नहीं बनने पाता; स्थानीय छोटे छोटे बाज़ार ही बन पाते हैं। उन छोटे छोटे बाज़ारों में भी लगान की दर एक सी नहीं होती, भिन्न भिन्न रहती है—कहीं की ज्यादा तो कहीं कम पाई जाती है। जैसे जैसे स्थानीय जनसंख्या बढ़ती जाती है, वैसे ही वैसे क्षेत्र की मांग भी बढ़ती जाती है। दूसरे अध्याय में इस बात का विचार हो चुका है कि, क्षेत्र के उत्पादन की भी एक सीमा होती है और उस सीमा से आगे फिर ज्यादा खर्च करके ज्यादा उत्पादन करने में लाभ नहीं हो सकता। इसी को उत्पादकत्व में ह्रास का नियम कहते हैं। उत्तरीय भारत के अधिकांश भागों में आबादी बहुत घनी है और ज़मीन की मांग बहुत अधिक है। ज़मीन खाली होते ही ज़मींदारों को झट से दूसरा जोतनेवाला

मिल जाता है। लोगों को और भी अधिक क्षेत्र की आवश्यकता बनी ही रहती है। क्षेत्र की मांग उन्हीं मांगों के समान होती है जिनका वर्णन हम कर चुके हैं। अगर क्षेत्र का लगान ज्यादा बढ़ा दिया जाय, तो उसकी मांग कम हो जायगी और अगर लगान कम हो जाय तो मांग बढ़ जायगी।

जब क्षेत्र का लगान बढ़ जायगा तो, लगान में उठाने के लिए क्षेत्र की मात्रा, अर्थात् क्षेत्र का संग्रह भी बढ़ जायगा। अगर कोई ज्यादा लगान देने को तैयार हो जाय तो जमींदार भी जँगल के मुहक़मे से क्षेत्र को निकालकर जोतने को देदेगा। जबतक क्षेत्र के प्राप्त होने की सूरत रहती है, तब तक, क्षेत्र का लगान भावताव करके निश्चित किया जाता है। यह भावताव उसी प्रकार से होता है जिस प्रकार से जिनिस का होता है। इसमें भी मांग और सँग्रह का समीकरण किया जाता है। पर चूँकि, क्षेत्र की कोई संगठित बाजार नही है, इसलिए, उसके भावताव में मांग और सँग्रह का ठीक ठीक समीकरण नहीं होता। ऐसी दशा में भी लगान की एक माध्यमिक दर अवश्य होती है, और मांग तथा सँग्रह के नियमों के अनुसार लगान की दर उसी माध्यमिक दर से कभी कम और कभी ज्यादा हो जाया करती है।

संग्रह के सीमित होने के परिणाम।

इसकी एक एक बातों की भिन्न भिन्न समालोचना करने की जरूरत नहीं। हमें तो सिर्फ़ इस बात के परिणामों का विचार करना

है कि, क्षेत्र के सँग्रह की एक सीमा है। उस सीमा से अधिक क्षेत्र का सँग्रह नहीं हो सकता। एक समय ऐसा आयेगा जब आबादी बहुत बढ़ जायगी, तथा जोतने बोने के लिए नई नई मांगों के अनुसार क्षेत्र न मिल सकेंगे। जिनिस के सँग्रह की सीमा नहीं होती, पर क्षेत्र के संग्रह की होती है, यही इनमें भेद है। उत्तरीय भारत में क्षेत्र के संग्रह की सीमा हो चुकी है, और वहां पर नये नये क्षेत्रों का मिलना प्रायः असम्भव हो गया है।*

अब यह विचार कीजिये कि जब संग्रह की तो सीमा है पर मांग की नहीं है ; तब, लगान की दर का निश्चय किस प्रकार होगा। कल्पना कीजिए कि एक जिले में जितनी जमीन खेती के काम में आ सकती थी उतनी सब आ रही है। साथ ही यह भी कल्पना कर लीजिए कि उस जिले के किसानों को खेती में उतना ही मुनाफ़ा होता है जितना उनका ख़र्च है। वह न ग़रीब हैं और न अमीर। अब वहां पर जिन किसानों को ज़्यादा खेतों की जरूरत हो, उन के लिए सिवा इसके कि, वह किसान के खेत को लेलें और कोई उपाय नहीं है। अब कल्पना कीजिये कि, कोई किसान किसी खेत का २५) लगान दे रहा है, ऐसे में एक नया किसान आया और

*हां, यह बात ज़रूर है कि नये नये उपायों से क्षेत्र की पैदावार बढ़ाई जा सकती है और ऊसर क्षेत्र भी उत्पादन के योग्य बनाये जा सकते हैं। पंजाब में ऐसा ही हुआ भी है। पर इस प्रकार से बढ़ाई हुई ज़मीन की उत्पादन शक्ति कम और अस्थाई होती है।

उसने उस खेत के ३०) लगा दिये। अब उस पहले किसान को बड़ी दिक्कत हो गई। पास में और कोई खेत ख़ाली नही। दूसरा कोई धंधा कर के वह गांव छोड़ना चाहता नहीं। अगर उसे अपना खेत अपने पास रखना है, तो तीस रुपये से कुछ ज्यादा लगान देना पड़ेगा। शायद उसे तीस के बत्तीस देना पड़ें। पर अगर नये किसान ने बत्तीस के पैंतीस कर दिये तब ? तब फिर उसे और आगे बढ़ना पड़ेगा और दोनों की यह बढ़ा बढ़ी वहां तक रहेगी जहां तक, मांग की सीमा सँग्रह की सीमा को पार न कर जायगी। पर एक सीमा ऐसी ज़रूर आयेगी जिसके आगे बढ़ कर कोई भी किसान मुनाफ़े में खेती न कर सकेगा। उसी सीमा तक बढ़ा बढ़ी होगी।

अगर मौरूसी का क़ानून न होता तो अवश्य हमारे प्रान्त में लगान की दर इसी सीमा पर पहुंच जाती, नतीजा यह होता कि खेती से केवल पेट पालने मात्र की आय रह जाती और जनता के अधिकांश को मुनाफ़े के दर्शन ही न होते।

भिन्न भिन्न देशों के लगान।

हमने इस बात का सरसरी तौर पर विचार किया कि उत्तरीय भारत में क्षेत्र के बाज़ार का संगठन किस प्रकार हुआ है, साथ ही हमने इस का भी विचार किया कि देश की जो हालत है, लगान की जो अवस्था है, उसमें अगर क़ानून के द्वारा रोक टोक न की गई, तो एक समय ऐसा आवेगा जब किसान सिर्फ़ इतना ही पैदा कर सकेंगे कि वह सिर्फ़ उदरपूर्ति के ही लिए होगा। वह सिर्फ़ अपनी

जीवन यात्रा ही चला सकेंगे। भोजन वस्त्रों से वह कुछ बचा कर अपनी इच्छा के अनुसार खर्च न कर सकेंगे। मतलब यह कि लगान इतना मंहगा हो जायगा कि, उनके पास बचत हो ही न सकेगी। किन्तु, यह बात भारतवर्ष की है। भारत के समान अभागे देश संसार में सब जगह नहीं। सब देशों के किसानों की ऐसी हालत नहीं। अन्य देशों के किसान जब देखते हैं कि, खेती से काफ़ी मुनाफ़ा नहीं होता तो दूसरा रोज़गार करने लगते हैं। वे पढ़े लिखे बुद्धिमान होते हैं। जब किसी स्थान विशेष की परिस्थित अपने अनुकूल नहीं देखते तब दूसरे स्थानों में चले जाते हैं। यह बहुत बड़ी बड़ी खेतियां करते हैं, इनमें सैकड़ों मजदूर मज़दूरी करते हैं और मालिक सबका प्रबन्ध करता है। मालिक को इस बात का हमेशा ध्यान रहता है कि कौन क्षेत्र कितना उपजाऊ है। उसके कुछ क्षेत्र इतने कम उपजाऊ होते हैं कि उसे उनका कुछ लगान ही नहीं देना पड़ता। पाठक ! अभागे भारतवर्ष को अब भूल जाइये और कल्पना कीजिये कि कोई ऐसा देश है, जहां की खेती की उक्त दशा है तो फिर विचारिये कि वहां पर लगान किस प्रकार निश्चित किया जाता होगा।

खेती की बचत।

जो खेत इतने कम उपजाऊ होते हैं कि उनका लगान नहीं देना पड़ता, उनके सम्बन्ध की बातें सुन लीजिये। ऐसे खेतों से प्रायः खेती का खर्च ही निकलता है। उत्पादन की स्थिति में ज़रा सा फ़र्क़ पड़ते ही किसानों को इन खेतों में खेती करना बंद कर

देना पड़ता है। जब तक तीन बातों के ख़र्च उक्त खेतों की पैदावारों से निकलते रहते हैं, तभी तक उनमें खेती होती है। वह तीन ख़र्च यह हैं (१) जिस पूंजी का खेती करने में क्षय हो जाता है, उसका ख़र्च (२) जो पूंजी खेती करने में लगती है उसका व्याज और मज़-दूरों की मजदूरी के ख़र्च (३) उस खेती के मालिक के प्रबन्ध करने का प्रतिफल। जब तक यह तीन ख़र्च उसकी पैदावार से चलते रहते हैं, तब तक उसमें खेती होती रहती है, पर जहां ज़रा नाज की कीमत घटी और उक्त खर्चों में कमी आई, कि ऐसे खेतों में खेती होना बंद हो जाता है। इनमें खेती न होने का मतलब यह होगा कि उत्पादन के संग्रह की मात्रा बाज़ार में घट गई। अब, अगर उत्पादन की मांग जैसी ही रहेगी जैसी कि पहिले थी; तो फिर, मूल्य बढ़ जायगा और मूल्य बढ़ने से उन खेतों में खेती करने से जो घाटा होता था वह जाता रहेगा, और उनमें फिर खेती होने लगेगी। इसके अलावा, अगर क़ीमत ज्यादा बढ़ गई, तो इन खेतों से भी खराब खेतों में खेती होने लगेगी। फिर उनमें भी क़ीमत बढ़ जाने की वजह से उक्त तीनों ख़र्च निकलने लगेंगे। ऐसी दशा में, जो यह उत्पादन के संग्रह में वृद्धि होगी, उसका नतीजा यह होगा कि, क़ीमत गिर जायगी। ऐसी परिस्थितियों में, यह स्पष्ट ही है कि, भिन्न भिन्न प्रकार की उत्पादन शक्ति वाले खेतों का मुनाफ़ा एकसा हमेशा स्थिर नहीं रहता, जब क़ीमत बढ जाती है, तब कम ऊपजाऊ खेतों में भी खेती होने लगती है, तथा जब क़ीमत गिर जाती है, तब कम उपजाऊ खेतों में भी खेती होना बंद हो जाता है। परन्तु, यह बात

ध्यान में रखने की है कि, क़ीमत चाहे जितनी कम ज्यादा हो कुछ न कुछ खेत ऐसे होंगे ही जिनमें खेती का ख़र्च मात्र ही निकलेगा और लगान के लिए कुछ न बचेगा।

लगान का प्राचीन सिद्धान्त।

खेतों में जो कुछ पैदा होता है, उसका ख़रीदार यह नहीं देखता कि यह कम उपजाऊ खेत में पैदा हुआ है या अधिक उपजाऊ खेत में। जो खेत कम उपजाऊ होते हैं, उनमें खेती के ख़र्चों को निकाल कर कुछ भी बचत नहीं होती पर जो उपजाऊ होते हैं, उनकी आमदनी इतनी होती है कि, खेती के कुल ख़र्च निकाल कर भी कुछ रक़म बच रहती है। जो खेत जितना ही अधिक उपजाऊ होता है, उसकी बचत की यह रक़म भी उतनी ही अधिक होती है। अब इस बचत की रक़म का हक़दार सिवा ज़मींदार के और कोई दूसरा नहीं हो सकता। पूँजीवाले ने सूद ले लिया, मज़दूरों ने मज़दूरी ले ली, किसान ने भी अपनी मेहनत की उजरत ले ली। हां, यह हो सकता है कि, किसान भी इस बचत में से कुछ भाग रखने की इच्छा प्रकट करे पर ऐसी दशा में उसके चढ़ा ऊपरी करनेवाले किसान खड़े होकर और ज़मींदार से इस शर्त पर कि यह कुल बचत की रक़म हम आपको दे देंगे, इसमें से ख़ुद कुछ भी न रक्खेंगे, उस किसान से ज़मीन छुड़ा कर अपने क़ब्ज़े में ले सकते हैं। इसी भय से उस बचत की रक़म को कोई भी किसान न लेना चाहेगा और उसे ज़मींदार को लगान के रूप में

दे देगा । अगर उत्पादक क्षेत्रों की सीमा न होती, अर्थात् उत्पादक क्षेत्र जरूरत से ज्यादा होते, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस वचत की रक़म को किसान और जमींदार भावताव करके आपस में बांट लेते, पर उत्पादक क्षेत्रों की कमी है, उनकी एक सीमा है, इसलिए, इस तमाम वचत की रक़म के, अर्थात् लगान के पूरे हक़दार जमींदार ही होते हैं ।

लगान का यही प्राचीन सिद्धान्त है । हम ऊपर कह चुके हैं कि क़ीमत चाहे जो हो कुछ न कुछ ऐसे क्षेत्र होंगे ही जिन में खर्च काट कर बचत कुछ भी न होगी । साथ ही कुछ ऐसे भी होंगे जिनमें वचत होगी । इसी वचत को अर्थ-विज्ञान का लगान कहते हैं । इस लगान में, और उस लगान में जो किसानों को वास्तव में भुगतना पड़ता है, अन्तर है । इसीलिए उक्त भेद किया गया ।

इस सिद्धान्त के अनुसार, माध्यमिक अर्थ-विज्ञान के लगान का निश्चय उत्पन्न हुई चीजों के माध्यमिक मूल्य से होगा । अगर मूल्य बढ़ जायगा तो उन खेतों में भी खेती होने लगेगी जिनमें पहले कम उपजाऊ होने की वजह से नहीं होती थी । साथ ही उन खेतों का लगान भी देना पड़ेगा जिन का नहीं देना पड़ता था और जो पहले सब से कम उपजाऊ समझे जाते थे । दूसरे शब्दों में इसी बात को हम इस प्रकार कह सकते हैं कि, मूल्य बढ़ने से खेती का और लगान का विस्तार बढ़ जाता है । अब अगर मूल्य गिर जायगा, तो फिर कम उपजाऊ क्षेत्रों में खेती होना बंद हो जायगी, और फलस्वरूप लगान में कमी आ जायगी । अब इस बात का

विचार कीजिए कि, यदि क़ानूनों का बंधन मौजूद न हो तो भारतवर्ष के किसानसमुदाय में इसका क्या प्रभाव पड़े।

भारत के सम्बन्ध में इसका विचार।

: खेती में यह जो बचत होती है, इसका पता हम भारतवर्ष की खेती में भी लगा सकते हैं। यहां के देहातों में भी ऐसे गांव मिलते हैं जहां ऐसे खेत पाये जाते हैं, जिनमें खेती तो होती है, पर उनका लगान नहीं दिया जाता। कारण यही कि वह कम उपजाऊ हैं। इसके अलावा कम ज्यादा लगान के खेत भी मिलते हैं; जो खेत जितना ही अधिक उपजाऊ होता है, उतना ही अधिक उसका लगान भी होता है। परन्तु भारत के किसानों की दशा विचित्र है। यह लोग प्रवन्ध का कार्य्य तो करते ही हैं, पर मजदूरों का काम भी बहुत कुछ करते हैं, इस पर भी मजा यह कि वह इस बात का अनुभव नहीं करते कि, हमने प्रबन्ध का काम किया है और साथ ही श्रम भी, इसलिए, हमें प्रबन्ध की उजरत अलग और श्रम की अलग मिलनी चाहिए। वह इस बात का विचार ही नहीं करते कि, क्षेत्र से उन्हें पूँजी, श्रम और प्रबन्ध के अनुसार प्रतिफल मिलता है या नहीं। कहां तक कहा जाय, उत्पादन में जो अचल पूंजी का क्षय होता है, उसके लिए भी यह ध्यान नहीं देते कि, इसके भर्त की रक़म हम को मिल रही है या नहीं। जिन बातों के ऊपर लगान का प्राचीन सिद्धान्त निर्भर है, उनका वह विचार तक नहीं करते। उन्हें कितना मिलना चाहिये, यह बात वह नहीं जानते। वह तो केवल यह जानते हैं कि, खेती से शाम तक हमारा

पेट भर जाता है या नहीं ; अगर पेट भर जाता है, तो इतने में ही अपने को कृतकृत्य समझते हैं। मतलब यह कि, भारत के किसान यह नहीं देखते कि उनके उत्पादन के व्ययों का भर्त खेती से पैदा हो जाता है या नहीं, पर वह देखते यह हैं कि, उनका योगक्षेम चला जाता है या नहीं। सवाल, आराम से मनुष्य की भांति जीवन व्यतीत करने का नहीं, किन्तु जिन्दा रहने का रह गया है ! कितने परिताप की बात है !

हम यह कह चुके हैं कि, उत्तरीय भारत में क्षेत्र के लिए प्रतियोगिता बड़ी तीव्र है। खेती करने की इच्छा रखनेवाले अधिक हैं और क्षेत्र कम हैं। साथ ही यहां के रस्म-रवाज आचारविचार कुछ ऐसे हैं जिनसे लोगों को गांव छोड़ने और दूसरा पेशा स्वीकार करने में बड़ी दिक़्क़त होती है। परिणाम यह हुआ है कि, जहां पर लगान के सम्बन्ध में क़ानूनी प्रतिबन्ध नहीं हैं, वहां लगान की मात्रा अर्थविज्ञान के लगान से बहुत अधिक बढ़ गई है। प्रतियोगिता के कारण लोग लगान की मात्रा बढ़ा देते हैं। यहां तक कि, ज़मींदार की जेब में क्षेत्र की कुल बचत चली जाती है। पर इतने पर भी खातमा नहीं होता—प्रतियोगी किसान लगान की मात्रा और भी बढ़ाते हैं, उस बढ़े हुए लगान को अदा करने के लिए वह मजदूरों को कम लगाते हैं और खुद मजदूरों का श्रम करते हैं। वह अपने भोजन वस्त्रों के ख़र्चों में कमी कर देते हैं, यहां तक कि, वह उस रक़म को भी लगान में दे देते हैं जो उन्हें क्रमशः क्षय होने वाली अचल पूँजी के भर्त के लिए रखना चाहिये। किसान यह

सब दिक्क़तें उठाते हैं, पर खेती करना नहीं छोड़ते ! उन्हें लगान यहां तक बढ़ कर देना पड़ता है कि उनके पास मनुष्योचित जीवन व्यतीत करने के लिए मुनाफ़ा नहीं बचने पाता ! उनको तथा उनके बाल बच्चों को शिक्षा नहीं मिलने पाती ! काफ़ी पौष्टिक भोजन न मिलने पर वह बीमार अधिक होते हैं और बीमार होने पर इलाज भी नहीं करा सकते। यह सब दशा लगान पर क़ानून का प्रतिबंधन होने, तथा देश में अन्य व्यापारों की कमी के कारण है, ज़मींदार मौज कर रहे हैं और पास ही झोपड़ों में किसान भूख से कलपते हुए रात व्यतीत कर रहे हैं। वह अपनी हालत का अनुभव तक नहीं करते !

लगान और क़ीमत।

लगान का प्राचीन सिद्धान्त भारतवर्ष के सम्बन्ध में भी लागू है। जहां पर ख़ूब प्रतियोगिता हो, वहां पर यह सम्भव है कि, ज़मींदार को आर्थिक लगान का पूरा भाग मिल जाय, परन्तु, लोगों की ग़रीबी और नासमझी के कारण उन्हें आर्थिक लगान के अतिरिक्त और भी बहुत कुछ मिल जाता है। आगे इस बात पर विचार किया जायगा कि सरकार ने लगान के प्रतिबन्ध के लिए क़ानूनों की रचना क्यों की है ? परन्तु इस विषय को समाप्त करते करते हम एक बात और कह देना चाहते हैं, कि, लोग जो यह कहा करते हैं कि लगान के बढ़ जाने से ही नाज के मूल्य में वृद्धि हुई है, सो, अर्थ-विज्ञान की दृष्टि में ठीक नहीं। अर्थात लगान के ऊपर मूल्य की कमी बेशी होना निर्भर नहीं,

किन्तु, मूल्य के ऊपर लगान का घटना बढ़ना निर्भर है । आर्थिक लगान के प्राचीन सिद्धान्त का वर्णन करते समय जो बातें कही गई हैं, उनसे हमारे उक्त कथन की पुष्टि हो जाती है। अगर क़ीमत बढ़ जाती है तो, कम उपजाऊ खेतों में भी खेती होने लगती है। और अगर क़ीमत गिर जाती है तो कम उपजाऊ खेतों में खेती होना बन्द हो जाता है। कम उपजाऊ खेतों में खेती होने का मतलब यह है कि, लगान की मात्रा बढ़ गई और उनमें खेती बन्द होने का मतलब यह कि लगान की मात्रा कम हो गई। उनमें खेती का होना या न होना उत्पन्न होनेवाले पदार्थों के मूल्य घटने और बढ़ने पर निर्भर है। इसलिए, सिद्ध है कि लगान का घटना बढ़ना मूल्य घटने बढ़ने पर निर्भर रहता है। इसी बात को नियम के रूप में इस प्रकार कहा जा सकता है कि लगान उत्पादन के ख़र्चों में हस्तक्षेप नहीं करते। वह (उत्पादन के ख़र्च; जिनसे मूल्य का परिणाम नियमित होता है) उन्हीं खेतों के, लिये जाते हैं जिनका कुछ लगान नहीं देना पड़ता। इस प्रकार सिद्ध है कि, लगान के बढ़ने से क़ीमत नहीं बढ़ सकती, परन्तु क़ीमत के बढ़ने से लगान बढ़ता और घटने से घटता है।

क़ानून से लगान की सीमा।

हम इस बात का विचार कर चुके कि, अगर आर्थिक कारणों को स्वतन्त्र रहने दिया जाय, उन पर क़ानून के द्वारा प्रतिबन्ध न किया जाय, तो उसका नतीजा यह हो कि, ज़मादारों को लगान के रूप में बहुत सा रुपया मिलने लगे और किसानों को जीवन

व्यतीत करना दूभर हो जाय। साथ ही इस बात की तरफ़ भी हमने इशारा कर दिया था कि क़ानून का प्रतिबन्ध होने से आर्थिक कार्य्यों की स्वतन्त्र गति में बाधा पड़ती है और इस से लगान की सीमा बंध जाती है, फिर उससे अधिक लगान ज़मींदार किसानों से नहीं ले सकता। इस प्रकार का क़ानून अपवादात्मक है क्योंकि भारत सरकार मजदूरी, सूद, आदि के स्थिर करने में कोई हस्तक्षेप नहीं करती और उन्हें आर्थिक कारणों के भरोसे ही स्वतंत्र छोड़ देती है। पर लगान के सम्बन्ध में उसने हस्तक्षेप किया है। इसलिए हमें अब इस बात का विचार कर लेना चाहिए कि यह न्यायानुकूल है या नहीं। इस विषय का पूरा विचार करना तो इस पुस्तक की सीमा के बाहर की बात है, इसलिए यहां पर इसका केवल दिग्दर्शन मात्र कराया जायगा। इस प्रकार के क़ानून को बनाने में सरकार के कई उद्देश्य रहे होंगे। उन सब उद्देश्यों का वर्णन करना अर्थ-विज्ञान का काम नहीं, किन्तु राजनीति विज्ञान का काम है। देश की आर्थिक अवस्था सुधारने का उद्देश्य भी सरकार का अवश्य एक उद्देश्य रहा होगा। पर इसमें सन्देह नहीं कि, इसके सिवा उसके और भी उद्देश्य रहे होंगे। हम अन्य उद्देश्यों को भुलाकर केवल उक्त आर्थिक उद्देश्य का ही विचार करेंगे। अब पहली दलील इस प्रकार के क़ानून के पक्ष में यह दी जा सकती है कि, अगर इस प्रकार के प्रतिबन्धक क़ानून न होते, तो लगान बे हद बढ़ता और सारी जनता की आय कम हो जाती।

क्षेत्र का उपजाऊपन।

इस दलील को अच्छी तरह से समझने के लिए दूसरे अध्याय में कही हुई क्षेत्र के उपजाऊपन की बातों का स्मरण एक बार कर लीजिए। क्षेत्र को भोजन की सामग्री का अनन्त भाण्डार न समझना चाहिए। क्षेत्र एक घोड़े के समान है— क्षेत्र एक बैल के समान है—अगर हमको अपने घोड़ों और बैलों से ठीक तरह से काम लेना है, तो उन्हें दाना चारा भी उचित मात्रा में और समय पर पहुंचाना चाहिए। यदि हम चाहें तो कुछ समय के लिए अपने घोड़े या बैल से उसकी साधारण शक्ति से अधिक काम ले सकते हैं पर एक ही बार, बार बार ऐसा करने से उसकी स्वाभाविक शक्ति भी घट जायगी और वह आगे चल कर अपने पहले का जैसा काम भी न कर सकेंगे। ठीक यही बात क्षेत्र के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। किसी क्षेत्र में एक बार बेक़ायदे खेती करने से कुछ अधिक मुनाफ़ा तो उठाया जा सकता है, पर भविष्य के लिए उसके उपजाऊपने में बहुत हानि पहुंच जाती है। अगर उसी में क़ायदे के साथ खेती की जाय, तो उसका उपजाऊपन स्थाई रूप से बढ़ सकता है। इस प्रकार सिद्ध हो गया कि, देश की आय का बड़ा भारी भाग किसानों के खेती करने के ढंग पर निर्भर रहता है। अगर किसानों का ध्यान क्षेत्र से ज्यादा से ज्यादा पैदा करने की तरफ़ ही रहे, तो फिर उसकी उपजाऊ शक्ति शीघ्र ही नष्ट हो जाने का भय है, अब अगर उत्पादन शक्ति को स्थाई रूप से बढ़वाना है, तो इसके लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि,

इस विषय में किसानों का स्वार्थ होना चाहिए, क्योंकि किसान स्थाई रूप से उपजाऊपने की तभी वृद्धि करेंगे जब उसमें उनका कोई स्वार्थ होगा।

लगान और 'उचित लगान' का नियमित होना।

अगर मौरूसी का क़ानून न हो; तो फिर किसानों को इस प्रकार का व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं रहता। क्योंकि अगर उनका मौरूसी हक़ न हो, वह अगर उपजाऊपन बढ़ावें भी, तो भी उन्हें कुछ लाभ नहीं हो सकता, क्योंकि उपजाऊपन को स्थाई रूप से बढ़ाने में क्षेत्र की अतिरिक्त आय तो लगान के रूप में ज़मींदार के घर चली जायगी—बिना मौरूसी हक़ के तो क्षेत्र की आय चाहे बढ़े चाहे घटे, किसान को तो उदरपूर्त्ति से अधिक मिलना नहीं, फिर वह क्यों स्थाई उपजाऊपन बढ़ाने की बेवक़ूफ़ी करेगा? उसका इसमें क्या लाभ? अगर वह स्थाई रूप से ज़मीन की आय बढ़ावे भी, तो भी, उसे यह भय रहेगा कि मैं तो इतनी मेहनत कर खाद वग़ैरह दूंगा और दूसरा किसान आकर कुछ थोड़ा सा लगान में वृद्धि कर खेत मुझसे ले लेगा और मेरा सारा श्रम तथा व्यय व्यर्थ चला जायगा। ऐसी दशा में यह स्वाभाविक ही है कि किसान वर्तमान समय की ओर दृष्टि रक्खे और भविष्य का विचार ही न करे। अगर उस किसान से स्थाई उत्पादन बढ़वाना है तो उसे यह विश्वास दिलाने की ज़रूरत है कि यह क्षेत्र तुम्हारे ही अधिकार में रहेगा और इसके उपजाऊपने को स्थाई रूप से बढ़ाने में जो अतिरिक्त आय होगी उसमें तुमको भी कुछ

हिस्सा मिलेगा। बिना इन शर्तों के किसान स्थाई रूप से क्षेत्रों की पैदावार बढ़ाने को कभी तैय्यार नहीं हो सकते।

जहां जहां के किसानों की भारत के किसानों के समान दशा है, वहां वहां की सरकारें सब इसी नतीजे पर पहुंची हैं कि, अगर देश की खेती की आय को बढ़ाना है तो किसानों को क्षेत्र पर मौरूसी हक़ जरूर देना चाहिए। मौरूसी हक़ के माने यह हैं कि किसान का क्षेत्र पर कुछ समय विशेष तक अधिकार रहे और उस का यह भय जाता रहे कि अगर मैं स्थाई उत्पादन शक्ति बढ़ाऊंगा तो किसी ज्यादा लगान देनेवाले को मेरा क्षेत्र छीन कर दे दिया जायगा। साथ ही एक बात और भी होना चाहिए कि, उस किसान से जिसे मौरूसी हक़ दिया जाय "उचित लगान" (Fair-Rent) ही लिया जाय। उचित लगान वह लगान है जिसके अदा करने पर भी किसान के पास बढ़ी हुई अतिरिक्त पैदावार की आय में से कुछ भाग बच रहता है। इसलिए, सरकार के उद्देश्य इस विषय में किसानों के सम्बन्ध में दो होते हैं, एक तो मौरूसी हक़ का और दूसरा उचित लगान का।

वर्त्तमान क़ानून।

उत्तरीय भारत के भिन्न भिन्न प्रदेशों में क़ानून लगान का स्वरूप भिन्न भिन्न प्रकार का है। परन्तु उनमें उक्त दोनों तत्व एक समान ही हैं। मौरूसी हक़ और उचित लगान का ख्याल सब जगह रक्खा गया है। कहीं पर यह दोनों तत्व अधिक व्यापक रूप से हैं और कहीं पर कम। पर किसी न किसी रूप में हैं

सब जगह । भिन्न भिन्न प्रदेशों में इस प्रकार के क़ानून भिन्न भिन्न प्रकार के नामों के अनुसार प्रचलित हैं। कहीं इसे Hereditary कहीं Occupancy कहीं Settled और कहीं Statutory कहते हैं। इसमें से कुछ क़ानून ऐसे हैं जिनके अनुसार किसान को अपने क्षेत्र पर सदा के लिए अधिकार हो जाता है, बशर्ते कि वह खेत को नष्ट न करे और समय पर लगान देता रहे। कहीं कहीं पर किसान को कुछ वर्षों के लिए ही अधिकार मिलता है। परन्तु इन सब में मौरूसी हक़ और उचित लगान के तत्व, कम ज्यादा मात्रा में ही चाहें क्यों न हों पर, हैं अवश्य।

क्षेत्र के सम्बन्ध की बातों का पूरा अध्ययन तो पीछे का काम है। यहां पर थोड़े शब्दों में उसके पूर्ण विषय का ज्ञान करा देना असम्भव है। इसलिए, उक्त बातें ही जान कर इस विषय को फिर आगे चल कर अध्ययन करने के लिए स्थगित कर देना चाहिये।

क्षेत्र की बाज़ारें बन गई हैं, और उनमें मांग और संग्रह के परिणामों के प्रभाव से जो लगान की वृद्धि हो सकती और होती है उसका यदि क़ानून से प्रतिबन्ध न किया जाय तो किसानों की हालत बहुत खराब हो जाय। इसीलिए, सरकार उसमें हस्त-क्षेप कर के क़ानून बनाती है। इस से कुछ न कुछ किसानों की दशा सुधरने की ही आशा है। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि सरकार के बनाये हुए क़ानून एक दम पूर्ण हैं, उनमें कोई कमी नहीं है, तो भी यह अवश्य कहना पड़ेगा कि, वह कुछ न कुछ

मात्रा में किसानों का हित करते ही हैं। और अगर यही रफ्तार जारी रही तो कभी न कभी किसानों को अपना जन्म-स्वत्व अर्थात् ज़मीन का मौरूसी हक़ प्राप्त होकर ही रहेगा।*

जन-संख्या और लगान।

संसार में इस समय मनुष्य-संख्या बढ़ रही है। साथ ही अन्न का ख़र्च भी बढ़ रहा है। अन्न की इस बढ़ी हुई मांग को पूरी करने के लिए कम उपजाऊ खेतों में भी खेती होने लगी है। क्योंकि उत्पादकत्व में ह्रास के नियम के अनुसार उपजाऊ खेतों की पैदावार को हमेशा मुनाफ़े के साथ नहीं बढ़ाया जा सकता। जब उत्पादक खेतों की पैदावार से भी ज्यादा पैदावार होने की देश में ज़रूरत होती है तब अधिक मांग के कारण अन्न का भाव बढ़ जाता है। अन्न का भाव इसी नियम के अनुसार बढ़ा भी है। इससे पहले जिन खेतों का लगान नहीं आता था, उनका भी आने लगा है। अर्थात लगान की मात्रा में वृद्धि हो गई है। इस सब से नतीजा यह निकलता है कि मनुष्य-संख्या बढ़ने के साथ ही अन्न मंहगा होता है और लगान की मात्रा बढ़ जाती है।

कुछ लोगों का ख़याल है कि, जन-संख्या बढ़ने से देश की

---

* पर सवाल यह है कि यह रफ्तार किस तरह जारी रह सकेगी। अभी चुने हुये प्रतिनिधियों (?) के घोर विरोध करते रहने पर भी जो सरकार ने किसानों के हित की आड़ में अवध का क़ानून लगान बनाया है उससे किसानों की आंखें खुल जाना चाहिये।

सम्पत्ति बढ़ती है। यह ख़याल सही भी है और ग़लत भी। अगर आष्ट्रेलिया में मनुष्य-संख्या बढ़े तो वह देश सम्पत्तिवान हो सकता है, क्योंकि वहां पर खेती के लिए काफ़ी उपजाऊ क्षेत्रों में खेती करने की गुंजाइश है। पर भारत में उपजाऊ क्षेत्रों की कमी है; इसलिए यहां की मनुष्य-संख्या बढ़ने से नाज मंहगा हो जायगा और सम्पत्ति न बढ़ेगी। सम्पत्ति तो तब बढ़े, जब अन्न का उत्पादन भी बढ़े। पर यहां तो उतने ही तिलों से तेल निकलेगा। एक बात और है कि, भारत में अगर जन-संख्या की वृद्धि किसी प्रकार बंद भी कर दी जाय, तो भी कुछ लाभ होने की आशा नहीं, क्योंकि, केवल भारत की ही जन-संख्या की वृद्धि रोकने से सारे संसार की जन-संख्या की वृद्धि नहीं रोकी जा सकती। और देशों की जन-संख्या बढ़ेगी, तथा वह लोग भारत से अपने खाने के लिए अन्न मंगवायेंगे। इसका प्रतिबन्ध भारत अभी नहीं कर सकता; क्योंकि प्रतिबन्ध करना जिनके हाथों में है उन्हीं की जन संख्या तीव्रता से बढ़ रही है और उन्हीं को नाज की ज़रूरत है। भारत की जन-संख्या बढ़े चाहे घटे और लोगों की जनसंख्या तो बढ़े ही गी, नतीजा यह होगा कि भारत की जन-संख्या की वृद्धि रोकने से लगान की मात्रा में कमी न हो सकेगी। क्योंकि और और देशों के लोग इसी प्रकार भारत से अपने खाने के लिए अन्न मंगवाते जांयगे, और यहां अन्न महंगा हो हो कर लगान की मात्रा में वृद्धि होती ही जायगी। इस अन्न की मँहगी और लगान की बढ़ती का असर उन पहिले से ही अच्छी तरह चूसे गये

किसानों पर बहुत ही बुरे तौर पर पड़ेगा जिनका वर्णन हम कर चुके हैं। इस स्थान पर संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि, किसानों की दिक़तें दूनी हो जांयगी, तथा अकाल पड़ने की सम्भावनायें बहुत अधिक हो जांयगी। अकालों का सामना करने की शक्ति ग़रीबी के कारण हमारे देश में बिलकुल नहीं है। बस होगा यही कि देश तबाह हो जायगा। आवश्यकता है कि यह सब किस प्रकार होगा इसके वर्णन में कई परिच्छेद लिखे जांय, पर पुस्तक के आकार के बहुत बढ़ जाने के भय से हम इस विषय का अध्ययन आगे के लिए स्थगित करते हैं।

वास्तव में ज़मीन किसकी है।

जमीन का मालिक कौन है? उसके मालिक किसान ही हो सकते हैं। पर सुनता कौन है? लाठी के सामने क़लम की कभी चली भी है? ख़ैर यह मानना पड़ेगा कि, जमीन का मालिक वही हो सकता है जो उस पर खेती करता रहा है। सरकार भी महज़ अपना ख़र्च चलाने के लिए किसान की आमदनी के ऊपर कुछ टैक्स लेने की ही हक़दार है और वह भी इसलिए कि बिना ऐसा टैक्स लिए काम नहीं चल सकता। ख़ैर, यह सवाल ही दूसरा है। कहने का मतलब यह कि खेत के वास्तविक स्वामी उस पर खेती करनेवाले ही होते हैं। साथ ही और जितने दावेदार हैं—जो जमीन को मालिक अपने को बतलाते हैं वह सब काल्पनिक हैं—वह काल्पनिक इसलिए हैं कि, कोई ईश्वर के घर से या मां के पेट से जमीन की मलकीयत का पट्टा नहीं लिखा कर आया। जिस

प्रकार कोई यह नहीं कह सकता कि कपड़े बुनने का व्यापार हमारा है, और हम बिना काफ़ी मुनाफ़े का भाग लिए किसी को कपड़े का व्यापार करने न देंगे, यथा अमुक स्थान में जितने लोग रहते हैं उनके लिए कपड़ा तैय्यार करके देने का हमें ही अधिकार है; उसी प्रकार न्याय के नाम पर, लाठी के नाम पर नहीं, कोई यह नहीं कह सकता कि जमीन हमारी है और हम बिना मनमाना लगान लिए किसी को खेती न करने देंगे तथा अमुक प्रदेश के मन-माने लगान के हक़दार हम हैं। जिस तरह पानी पर सब का एक समान अधिकार है—उसे सब कोई व्यवहार में ला सकते हैं—और जिस प्रकार हवा पर सब का एक समान अधिकार है, उस पर भी सब का एक समान अधिकार होना चाहिये। यह अधिकार जन्म-स्वत्व तथा ईश्वरदत्त है। प्रकृति के विरुद्ध—ईश्वरीय नियमों के विरुद्ध—बहुत दिनों तक नहीं चला जा सकता—ईश्वर के यहां से सब समान रूप से चले थे। जिस समय वह दुनियां में आये थे, उस समय, यहां पर सब के अधिकार बराबर थे। फिर आज हमें यह क्यों दिखलाई पड़ता है कि एक दूसरे के जन्म-स्वत्वों के छीनने की कोशिश कर रहा है? इस प्रश्न का उत्तर देना अर्थविज्ञान की सीमा के बाहर है। अर्थविज्ञान तो सिर्फ़ इतना ही कह सकता है कि, ईश्वरीय नियमों की दृष्टि से—मनुष्य जाति की भलाई की दृष्टि से—जमीन, पानी और हवा इन तीनों पर मनुष्य मात्र का समान अधिकार है।

बाईसवां परिच्छेद ।

—:०:—

मज़दूरी ।

पिछले परिच्छेदों में हम इस बात का विचार कर चुके कि किस प्रकार सूद और लगान की दर निश्चित होती है और किस प्रकार उनकी बाज़ारों का निर्माण होता है। अब इसी प्रकार हमें श्रम का विचार भी करना है। कुछ के श्रम ऐसे होते हैं, जिनमें कुछ योग्यता की आवश्यकता होती है, पर इस प्रकार के श्रमों का अभी हम विचार न कर केवल साधारण श्रम का ही विचार करेंगे।

कदीमी मज़दूरी की दर की उत्पत्ति।

अगर हम किसी किसान से—ऐसे किसान से, जो शहर से दूर के देहात का निवासी हो, यह प्रश्न करें कि तुम अपने खेतों में काम करनेवाले मज़दूरों को जो मज़दूरी देते हो, सो उसकी दर का निर्णय किस आधार पर करते हो? ऐसे प्रश्न के उत्तर में, इसमें सन्देह नहीं कि किसान यही उत्तर देगा कि, जैसा रिवाज होता है उसी के अनुसार मज़दूरी दी जाती है। उसका यह उत्तर देहातों की वर्तमान अवस्था को देखते हुए बहुत ठीक होगा। क्योंकि आजकल भी देहातों में रसम रवाज के अनुसार ही मज़दूरी की दर का निर्णय होता है। और इस प्रकार के रसम रिवाजों में

बहुत कम परिवर्त्तन होते हैं। परन्तु एक अर्थ-विज्ञान के विद्यार्थी की हैसियत से हमें इतने से ही सन्तोष न कर लेना चाहिए और आगे बढ़ कर इसका विचार करना चाहिए। क्योंकि इस प्रकार के रस्मरिवाज चाहे देर में ही क्यों न बदलें पर बदलते अवश्य हैं। हमें इस बात का विचार करना चाहिए कि, यह रस्मरिवाज बने कैसे। इसके लिए प्राचीन आर्थिक इतिहास के अध्ययन की आवश्यकता है। यद्यपि भारत के आर्थिक इतिहास का पता नहीं लगता तथापि हमें कई कारणों से यह मानना पड़ेगा कि मजदूरी की रस्मों का उद्गम गुलामी की प्रथा से ही हुआ है। और सम्भव है कि वर्त्तमान देहातों के मजदूरों के पूर्व पुरुष किसी समय किसानों के गुलाम रहे हों। यह भी सम्भव है कि किसी समय मजदूरों के बाप दादों को अपनी इच्छा के अनुसार मजदूरी करने की स्वाधीनता न रही हो, वह किसानों के गुलामों के समान हों और किसान जो उन्हें हाथ उठाकर दे देता हो उस में ही सन्तुष्ट रहते हों। ऐसी अवस्था में श्रम के बाजार की कोई जरूरत ही नहीं है। उस समय के किसानों को मजदूरी देते समय अगर किसी आर्थिक कारण का विचार करना पड़ता होगा तो वह यही होगा कि मजदूरों को मजदूरी इतनी दी जाय जिससे वह अपना योगक्षेम कर सकें और बराबर मजदूरी करने के लायक बने रहें। क्योंकि अगर उनको काफ़ी मजदूरी न दी जायगी, तो वह नाश हो जायंगे और कोई मजदूरी करनेवाला न रहेगा। वह मजदूरी इतनी ही देते होंगे जितनी आस्तित्व के लिए आवश्यक होती होगी। इस

से कम तो यह देते ही न होंगे, क्योंकि इससे कम में भूखों मरने का अन्देशा है; हां, वह कुछ थोड़ा बहुत अधिक ही दे देते होंगे, जिससे मजदूर सन्तुष्ट रहें। उस समय की आवश्यकतायें भी कम होती होंगी। क्योंकि, वह स्वयंभुक्तावस्था थी और स्वयंभुक्तावस्था में सभी की आवश्यकतायें कम होती हैं। कई बार के अनुभव से किसानों को यह बात ज्ञात हो जाती होगी कि मजदूरों को कम से कम कितनी मजदूरी देने से वह जिन्दा बने रहेंगे, बस, एक बार इसे जान लेने से फिर मजदूरों को उसी के अनुसार मजदूरी दी जाती होगी और धीरे धीरे उसी से रस्मरिवाज बन जाते होंगे। मजदूर भी अपनी उतनी ही आमदनी में ख़र्च चलाने के आदी हो जाते होंगे। बहुत दिनों के बाद लोग इन रस्मों के आदी हो जाते हैं और इस बात को भूल जाते हैं कि इन रस्मों के आदि कारण क्या थे। अब अगर उनसे कोई जाकर पूंछे कि तुम्हारे इन रस्म रिवाजों के कारण क्या हैं, तो वह यही उत्तर देंगे कि ऐसा क़दीम से चला आता है।

पर हमारे ऊपर के वर्णन से यही न समझ लेना चाहिये कि ग़ुलामी की प्रथा का सचमुच भारतवर्ष में चलन था ही। सम्भव है कि न भी हो। हम तो इसे सिर्फ़ अनुमान के बल पर ही कहते हैं। वास्तविक प्रमाण कुछ भी नहीं है। आज कल भी देहातों के वह लोग जो नीच जाति के कहे जाते हैं और मजदूरी करते हैं, ग़ुलामों से अधिक अच्छी दशा में नहीं हैं। यद्यपि उन्हें कोई कहीं जाने से रोक नहीं सकता, वह बाहर जाने और अपनी पसन्द का

रोजगार करने तथा स्वेच्छापूर्वक जीवन व्यतीत करने में स्वतन्त्र हैं, तो भी, वह उसी क़दीमी मजदूरी में, और उसी क़दीमी ढङ्ग से जीवन व्यतीत करने में ही मस्त हैं। वह बाहर जाकर अपनी उन्नति करने की परवाह ही नहीं करते। पर इसमें सन्देह नहीं कि, ऐसे लोगों के इस प्रकार के भ्रमात्मक विचारों का धीरे धीरे नाश होता जाता है। लोग अपनी आजादी और अपनी भूलों का अनुभव कर रहे हैं और क्रमशः ठीक रास्ते पर आते जाते हैं।

क़दीमी दर में परिवर्तन के कारण।

पुराने जमाने में मजदूरी की दर इसी आधार पर बनाई जाती होगी कि, जिसमें मजदूरों का योगक्षेम उनके क़दीमी ढङ्ग के अनुसार होता रहे, और साथ ही वे कुछ थोड़ा बहुत संतुष्ट भी रहें, जिससे भागने का विचार ही उनके पास न फटकने पावे। जब श्रम की यह दशा हो, तब फिर, श्रम के बाजार की जरूरत ही कहां रही? और आजकल भी जहां पर श्रम की यही दशा है, वहां श्रम के बाजार का प्रभाव बहुत कम है। अगर हमें श्रम के बाजार के दृश्य देखना हैं तो हमें अपनी गर्दन शहरों की तरफ़ फेरना चाहिये। हमें इस बात का विचार करना चाहिये कि इन शहरों का निर्माण कैसे हुआ। शहर तो सम्पत्ति के उत्पादन में लगे हुए मनुष्यों का समुदाय ही है। इसी में मजदूर भी होते हैं। हरएक शहर, पहिले कभी न कभी गांव था। वहां जब उत्पादन के लिए काफ़ी मनुष्यों को श्रम के लिए प्राप्त करने में दिक़्क़त होने लगी तब गांववाले और गांव के मजदूरों को उभाड़ने लगे। उनका उभाड़ना

यही था कि उन्होंने मज़दूरी की दर बढ़ा दी। इसी स्थान से— शहरों के जन्म के साथ ही श्रम की बाज़ार का जन्म हुआ। अब भी श्रम से काम लेनेवाले, नौकरों की तलाश में फिरनेवाले मालिक शहरों में हैं और देहातों में भी मिलते हैं। वे अब मज़दूरी की दर मांग और संग्रह के नियमों के अनुसार ही स्थिर करते हैं। उस क़दीमी चाल से मज़दूरी की दर अब नहीं स्थिर होती। श्रम की मांग उन्हें ही होती है जिन्हें उत्पादन के लिए श्रम की आवश्यकता होती है। श्रम के संग्रह से मतलब अड़ोस पड़ोस के उन मज़दूरों से होता है जो—मज़दूरी की तलाश में रहते हैं।

श्रम की बाज़ारों का संगठन।

पहिले छोटी छोटी स्थानीय श्रम की बाज़ारें थीं। पर जब से रेल तार चल गये हैं, और मज़दूरों में समझ आ गई है, तब से श्रम की बड़ी बाज़ार का बनना प्रारम्भ हो गया है। इस प्रकार की बाज़ार का कुछ वर्णन हम दूसरे भाग में कर चुके हैं। इन बाज़ारों में अब भी अपूर्णता है। श्रम की बाज़ार पूर्णता को तब प्राप्त होती है जब मज़दूरों को यह ज्ञात रहता है कि कहां पर श्रम की मांग अधिक है और कहां पर कम। साथ ही मज़दूरों को जहां श्रम की मांग अधिक हो और संग्रह कम, वहां जाने के लिए सदा तैय्यार रहना चाहिए। क्योंकि, इसमें अधिक से अधिक मज़दूरी की दर मिलती है। पर भारत में अभी ऐसे मजदूर बहुत कम हैं जिन्हें मांग और संग्रह का ज्ञान हो और वह उसके अनुसार प्रवास करें। यही कारण है कि यहां के श्रम की बाज़ार पूर्ण

रूप से संगठित नहीं। यहां के मज़दूर जहां मज़दूरी करते हैं, वहां से हट कर अन्यत्र नहीं जाना चाहते। पूर्ण रूप से सुसङ्गठित श्रम की वाज़ार में मज़दूरी की दर का निर्णय मांग और संग्रह के नियमों के अनुसार जितना सही सही होता है उतना असंगठित और स्थानीय श्रम की वाज़ार में नहीं होता। श्रम की बाज़ार की दशा तो वहुत कुछ त्तेत्र की वाज़ार से मिलती जुलती है। त्तेत्र और श्रम दोनों की ही छोटी छोटी स्थानीय वाज़ारें वहुत हैं। इन में भी मांग और संग्रह के अनुसार ही दर का निर्णय होता है, साथ ही इन वाज़ारों का परस्पर एक दूसरे से सम्बन्ध भी है। पर यह वात याद रखने की है कि, इन बाज़ारों में यह सब होते हुए भी, मांग और संग्रह के अनुसार दर का उतना सही सही निर्णय नहीं होता जितना गेहूं की वाज़ार में। इनकी बाज़ारों का आपस में सम्बन्ध भी उतना घना नहीं है जितना गेहूं की बाज़ारों का है। अव देखिये, श्रम और जिनिस (जैसे गेहूं) में क्या फ़र्क़ है। सव से वड़ा फ़र्क़ यह है कि, जिनिस के इच्छा नहीं होती पर श्रम के होती है। गेहूं के बोरे को आप चाहें जहां लदवा कर भेज दीजिये, वह आप से कुछ भी हां, ना, कर अपनी सम्मति प्रकट न करेगा। पर मनुष्यों के झुंड को विना उनकी मर्ज़ी के आप चाह जहां नहीं भेज सकते। वह जाने और न जाने का निर्णय ख़ुद भी करते हैं। मतलव यह कि, श्रम की बाज़ारों पर मानव स्वभाव का वड़ा प्रभाव रहता है, और मनुष्यों की रुचि भिन्न भिन्न होती हैं। इसीलिए, श्रम की वाज़ार में जिनिस की वाज़ार के समान

पूर्णता नहीं आने पाती । इसका विचार करते समय हमें इस भेद को भुला न देना चाहिये ।

मज़दूरी की दर ।

अब हम इन श्रम की बाज़ारों का विचार करेंगे । इस बात को हम देख चुके हैं कि इन की उत्पत्ति क्रमशः होती है । अब हमें देखना यह है कि इन की मांग और संग्रह के स्वरूप क्या हैं तथा इनका समीकरण किस प्रकार होता है । किन्तु सब से प्रथम इस बात का विचार कर लेना चाहिये कि मज़दूरी की दर किसे कहते हैं ।

यह तो स्पष्ट ही है कि शहरों में और देहातों में, कुछ न कुछ मज़दूरी की दर होती ही है। हम अगर कोई मज़दूर कुछ काम के लिए बुलवावें, तो उसे दिन भर की मज़दूरी के ॥) पैसे (या जो कुछ उस समय मज़दूरी की दर हो) देना ही पड़ेगा । इसी तरह की दर देहातों में भी होती है । भिन्न भिन्न स्थानों की दर भिन्न भिन्न होती है । मौजूदा दर से यह मतलब नहीं है कि सब को ही उसी हिसाब से मज़दूरी मिलेगी । किन्तु मज़दूरी की मात्रा मज़दूर की शारीरिक शक्ति पर निर्भर है। कम काम करने-वाले कमज़ोर मज़दूर को कम मज़दूरी और अधिक काम करनेवाले को कुछ ज्यादा मज़दूरी मिलती है। पर इस प्रकार के कम ज्यादा मज़दूरी के मामले अपवाद स्वरूप होते हैं । प्रायः प्रत्येक स्थान में कार्य्य का कुछ परिमाण और योग्यता का भी कुछ परिमाण (Standard of work) नियत होता है । उसी के अनुसार

काम करनेवाले के लिए मज़दूरी की दर होती है और उसी के अनुसार काम करने पर मज़दूरी दी जाती है।

अतिरिक्त मज़दूरी।

भारत में पहिले श्रम के प्रतिफल (मज़दूरी) को जिनसों के रूप में देने की प्रथा थी। इन जिनसों से मज़दूर की आवश्यकताओं की पूर्ति प्रत्यक्ष रूप से हो जाती थी और उसको विनिमय करने की नहीं ज़रूरत पड़ती थी। मज़दूरों को कपड़े मिलते थे, ईंधन मिलता था तथा सब और आवश्यक चीजें मज़दूरी के रूप में मिलती थीं। परन्तु क्रमशः यह दशा बदल गई। इसके बाद तमाम आवश्यकता की चीज़ें न देकर सिर्फ़ नाज ही मज़दूरी के रूप में दिया जाने लगा। खाने से जो नाज बचता था, उसका विनिमय करके मज़दूर अपनी अन्य आवश्यकताओं की चीज़ें ख़रीदने लगे। इसके बाद, मज़दूरी सिक्के के रूप में दी जाने लगी। उसी सिक्के से, मज़दूर अपनी आवश्यकताओं की चीज़ें ख़रीदने लगे। परन्तु, अपनी पुरानी चाल के चिन्ह अभी तक मौजूद हैं। जिनसों के रूप में मज़दूरी के प्रतिफल का कुछ न कुछ भाग मज़दूरों को अब भी दिया जाता है। इसलिए, मज़दूरी का विचार करते समय हम को इस जिनसों के रूप में दिये जानेवाले प्रतिफल का भी विचार अवश्य करना चाहिये। देहातों में खेतों पर काम करनेवाले मज़दूरों को चबेनी दी जाती है, तम्बाकू दी जाती है; इसे भी हमें मज़दूरी में ही शामिल करना चाहिये। हम इस बात का वर्णन कर ही चुके हैं कि, सईसों को जो तनख़्वाह दी जाती है, उतनी

ही उसकी तनख्वाह न समझ लेना चाहिये ; किन्तु, उसे जो कुछ ऊपर से मिलता है उसे भी उसकी तनख्वाह में ही जोड़ना चाहिये। जिनिसों के रूप में प्रतिफल देने की प्रथा के कारण मज़दूरी की दर के समझने में वास्तव में दिक़्क़त हो जाती है।

नक़द, और असली मज़दूरी ।

देश में जैसे ही सिक्के के रूप में मज़दूरी देने की प्रथा का प्रचार हो जाता है, वैसे ही नक़द मज़दूरी और असली मज़दूरी में फ़र्क़ हो जाता है। इस फ़र्क़ को अच्छी तरह से समझ लेना चाहिये। नक़द मज़दूरी का अभिप्राय सिर्फ़ उस मज़दूरी से होता है जो सिक्के के रूप में दी जाती है। और असली मज़दूरी का अभिप्राय उस मज़दूरी से है जो जिनिसों के रूप में भी मज़दूर को व्यय करने के लिए मिलती है। मज़दूर जो मज़दूरी करता है, वह सिक्कों के लिए नहीं करता, परन्तु, उन जिनिसों की प्राप्ति के लिए करता है जिनकी आवश्यकता जीवन में होती है। अगर आठ आने रोज़ की मज़दूरी पानेवाले को ॥।) रोज़ मिलने लगे, तो इस का अर्थ यह होगा कि मज़दूरी में ५० सैकड़े की वृद्धि हुई। पर यह जानने के लिए असली मज़दूरी में क्या वृद्धि हुई है, हमें इस बात को देखना चाहिये कि, उन जिनिसों का क्या मूल्य है जो मज़दूर को ख़रीदना पड़ती हैं। अगर उन जिनिसों के मूल्य में वृद्धि न हो, तो यह समझना चाहिये कि बेशक पचास सैकड़े की वृद्धि हुई है। ऐसी दशा में वह अपने ख़र्च की चीज़ें आठ आने में ही ख़रीद लेगा और चार आने बच जायंगे। अगर जिनिसों के

दाम भी बढ़ कर डेवढ़े हो जायं, तो फिर, यह समझना चाहिए कि मज़दूरी में कोई तरक्क़ी नहीं हुई ; क्योंकि, मज़दूर जब आठ आने पाता था, तब उसे जितने में जो चीज़ मिलती थी, अब उस के डेवढ़े दामों में मिलेगी ; अर्थात् आठ आने की जगह अब उतनी ही चीज़ ख़रीदने में उसके बारह आने लग जांयगे। तब फिर असली मज़दूरी कहां बढ़ी ? और यदि, नक़द मज़दूरी उतनी ही बनी रहे, तथा जिनिसों का मूल्य बढ़ जाय तो उसका अर्थ यह होगा कि नक़द मज़दूरी तो उतनी ही बनी रही पर असली मज़-दूरी कम हो गई।

असली मज़दूरी में क्या परिवर्तन हुए हैं, इसका जान लेना कुछ सहज कार्य्य नहीं है। मज़दूरों की आवश्यकताओं की पूर्ति में क्या ख़र्च होता है, जब तक इस बात को अच्छी तरह से न जान लिया जाय, तब तक, असली मज़दूरी के परिवर्तन का ज्ञान होना कठिन है। शहर से दूर के देहातों के मज़दूरों की आवश्यकतायें बहुत कम और सीधी सादी होती हैं. उनमें परिवर्तन भी बहुत मंद गति से होता है, इस लिये, उनका जानना दिक़्क़त की बात नहीं है, पर उन मज़दूरों की आवश्यकताओं के अध्ययन करने में बड़ी दिक़्क़त होती है, जो शहरों में रहते हैं, तथा, जिनकी आवश्यकतायें बढ़ती रहती हैं। एक दिक़्क़त की बात यह भी है कि, आर्थिक उन्नति का बहुत कुछ दारोमदार असली मज़दूरी पर है, नक़द मज़दूरी पर नहीं। इस दिक़्क़त को हम यह बात

मान कर दूर कर देंगे कि जिनिसों का मूल्य परिवर्तित नहीं होता और नक़द मजदूरी के घटने बढ़ने से असली मजदूरी भी घटती बढ़ती है। पर यह याद रखना चाहिये कि यह बात हमने महज़ समझाने के लिए ही मानी है। वास्तव में व्यावहारिक संसार में जिनसों का मूल्य भी उसी प्रकार घटता बढ़ता है जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं।

श्रम की बाजारों का कार्य्यक्रम।

हम अब श्रम की उन बाजारों के कार्य्यक्रम का विचार कर जो उत्तरीय भारत में हैं, यह जाननेकी कोशिश करेंगे कि, मजदूरी की दर का निर्णय किस प्रकार से होता है। श्रम की मांग तभी होती है जब कारखाने वालों को काम कराने के लिये मनुष्यों की आवश्यकता होती है। इस तरह की मांग कई प्रकार के लोगों को होती हैं जैसे कारखानेवालों को, रेल के मालगोदामों के मालिकों को, व्यापारियों को (अपना माल लदवाने आदि के लिये) ठेकेदारों को (सड़क कूटने और इमारतें आदि के बनवाने के लिये) सरकारी कर्मचारी और अमीरों को (पंखा खिचवाने और पानी आदि भरवाने के लिये) आदि आदि। इन्हीं सब लोगों की मांग एक साथ मिल कर श्रम के बाजार की मांग बन जाती है। इस प्रकार की मांगें स्थिर नहीं होतीं पर मजदूरी के अनुसार घटा बढ़ा करती हैं। यह वृद्धि और ह्रास जिनिस की मांग की वृद्धि और ह्रास के अनुसार ही होता है। अब इसका भी थोड़ा सा विचार कर लीजिये।

श्रम की मांग की सीमायें।

साधारण जिनिसों की मांग का विचार करते समय हम इस बात को देख चुके हैं कि, हर एक जिनिस की क़ीमत की, हर एक-ख़र्च करनेवाले की हैसियत के अनुसार सीमा होती है, जब क़ीमत उस सीमा से आगे बढ़ जाती है, तब उस ख़र्च करनेवाले को उस जिनिसि का व्यवहार बंद कर देना पड़ता है। श्रम के विषय में यह सीमा उस सम्पत्ति के उत्पादन की मात्रा पर बनती है जिसे मज़दूर श्रम के द्वारा उत्पन्न करता है। इसका समझना सहज है। कोई भी घास काटनेवाले को दो आना रोज मज़दूरी के तभी दे सकता है, जब उसकी काटी हुई घास दो आने से ज्यादा की हो। अगर घसि-यारा कम दामों की घास काटेगा, तो उसे पैसे भी कम मिलेंगे। यही नियम बड़े बड़े संगठित उत्पादन के कार्य्यों में भी चरितार्थ होता है, पर वहां पर इसको ढूंढनिकालना ज़रा कठिन है। जहां पर बड़ी बड़ी पूंजियों को इकट्ठा कर व्यापार का काम होता है, वहां पर यह कहना ज़रा मुश्किल है कि उत्पन्न की हुई सम्पत्ति में कितना भाग कुली का है और कितना पूंजी का। प्रबंधक का यही मुख्य कार्य्य है कि वह इस बात की ठीक ठीक जांच करे कि प्रत्येक कुली कितना उत्पादन करता है। वह जितनी मज़दूरी लेता है, उतने का पैदा करके दिखा देता है या नहीं। कोई भी काम करानेवाला, मज़दूर को सम्पत्ति के मूल्य से अधिक मज़दूरी नहीं देगा। तो फिर स्पष्ट है कि, जिनिस की मांग के ख़रे के अनुसार श्रम की मांग का ख़रा भी बनाया जा सकता है।

यह तो श्रम के दर की ऊंची से ऊंची सीमा की बात हुई, अब नीची सीमा का विचार कीजिये अगर मज़दूर की मज़दूरी आठ आने से घट कर एक आना रह जाय, तो बहुत से मज़दूर बेकार हो जायंगे। कम से कम मज़दूरी इतनी होना ही चाहिये कि मज़दूर के आस्तित्व की आवश्यकताओं की पूर्ति उससे हो जाय। यही नीची से नीची सीमा है। इन दोनों सीमाओं के भीतर रह कर जब मज़दूरी की दर बढ़ जाती है तब मज़दूरी की मांग कम हो जाती है, और जब दर घट जाती है तब मांग बढ़ जाती है। नित्य प्रतिका हमारा यह अनुभव है कि, जब हमको कोई मकान आदि बनवाने में श्रम की आवश्यकता होती है, तो हम पहिले मज़दूरी की दर का विचार करते हैं, अब अगर मज़दूरी की दर बढ़ी हुई होती है तो फिर जहां तक हो सकता है हम कम मज़दूरों से काम लेते हैं और इस आशा पर कि, जब मज़दूरी सस्ती हो जायगी तब बनवावेंगे, काम आगे के लिये स्थगित कर देते हैं। किसान भी यही सोचता है कि अमुक काम के लिये मज़दूर लगा लूँ या न लगाऊं, ऐसी दशा में मज़दूरी में चंद पैसों की कमी बेशी होते ही वह अपना निर्णय कर लेता है कि मज़दूर लगाना चाहिये या नहीं। ठेकेदारों का यही हाल होता है, जब मज़दूरी की दर सस्ती होती है, तब वह झट से बहुत मज़दूर लगाकर काम आनन फानन में करा देते हैं। पर यदि वह महंगी हुई, तो कम मज़दूर लगाते हैं। जहां मज़दूर बड़ी मात्रा में होते हैं और बहुत बड़े संगठन के साथ संम्पत्ति का उत्पादन होता है, वहां पर मज़दूरी की दर का महत्व भी बहुत अधिक होता

है। कारखाने के प्रबंधका के सामने यह समस्या प्रायः बनी ही रहती है कि अमुक काम्ये को यदि मज़दूरों से न करा कर मशीनों से कराया जाय तो लाभ हो या हानि। जब तक मज़दूरी की दर कम रहती है तब तक वह मज़दूरों से ही काम लेते हैं, क्योंकि, उसी में उनका पड़ता खाता है, पर जैसे ही मज़दूरी की दर बढ़ी कि, वह चट मशीनोंसे काम लेने लगते हैं क्योंकि तब उन्हें उसीमें पड़ता खाता है।

दर के साथ योग और संग्रह का सम्बन्ध।

मतलब यह कि जब मज़दूरी बढ़ जाती है, तब मज़दूरों से काम लेनेवाले मज़दूरों से कम काम लेते हैं अर्थात् श्रम घट जाता है। प्रायः सभी तरह से छोटे बड़े शहरों में ऐसे बहुत से लोग होते हैं जो इसी विचार में रहते हैं कि मज़दूर लगावें या न लगावें। ऐसे लोग प्रायः सभी समयों में रहते हैं यहां तक कि, मज़दूरी की दर चाहे जितनी कम ज्यादा हो पर ऐसे लोग बाजारमें जरूर होंगे। अब जब मज़दूरी ज़रा भी बढ़ जाती है, तो उक्त प्रकारके असमंजस में पड़े हुए लोग मज़दूर लगाने का विचार छोड़ देते हैं, तथा यदि मज़दूरी घट जाती है तो मज़दूर लगाने का विचार पक्का कर लेते हैं। इन लोगों का प्रभाव श्रम की मांग और संग्रह पर बहुत पड़ता है—जिनिस की तरह श्रम की मांग का खर्रा भी बनाया जा सकता है—मांग और संग्रह के नियम दोनों पर समान रूप से लागू हैं।

योग्यता और दर।

एक बात और स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि श्रम की मांग

के खर्च की ऊपर की सीमा बाज़ारमें बहुत कुछ मज़दूरों की योग्यता पर निर्भर रहती है। मज़दूरों की योग्यता के स्वरूप का वर्णन हम दूसरे भाग में कर चुके हैं। वहां हम यह कह चुके हैं कि मजदूरी की सब से उच्च सीमा मज़दूरों की योग्यता पर निर्भर है। मज़दूरों से काम लेनेवाले इस बात को अच्छी तरह से जानते हैं। ठेकेदार सड़क की कुटाई के काम में अवध के मज़दूरों को ज्यादा मज़दूरी देकर रख लेगा, पर बंगाली मज़दूरों को वह उतनी मज़दूरी न देगा, कारण कि अवध के लोग अधिक मजबूत होते हैं। मज़दूर अपने काम में योग्यता और प्रवीणता प्राप्त कर अपनी मज़दूरी की दर बढ़वा सकता है।

श्रम का संग्रह ।

अब श्रम के संग्रह का विचार कीजिए। जिनिस के संग्रह से श्रम के संग्रह की समस्या गूढ़ है। जब लोग मज़दूरी करने के लिए तैयार होते हैं तब उसे श्रम का संग्रह कहते हैं। इन मज़दूरों का उद्देश्य यही रहता है कि जिसमें उन्हें ख़र्च करने के लिए जिनिसों की प्राप्ति हो। मज़दूरी की दर बढ़ जाने का मतलब यह होता है (इसी बात को मान कर कि जिनिसों के मूल्य नहीं बदलते) कि, अब मज़दूरों को मज़दूरी में अधिक मात्रा में जिनिसें प्राप्त होंगी और इसका नतीजा यह होता है कि श्रम का संग्रह बढ़जाता है, क्योंकि, वह लोग भी मज़दूरी करने को तैयार हो जाते हैं जो इस असमंजस में थे कि मज़दूरी करें या न करें। जहां तक इस सिद्धान्त की बात का सम्बन्ध है, वहां तक तो जिनिस और श्रम

में यह नियम एक समान लागू है पर व्यवहार में कुछ दिक़तें होती हैं। इन दिक्कतों के कारण के सम्बन्ध में हम एक बार इशारा कर ही चुके हैं। श्रम का संग्रह मनुष्यों की इच्छा पर निर्भर है। श्रम गेहूं की तरह नहीं है कि मालिक जितना चाहे उतना बेचे और जितना चाहे उतना गोदाम में भरवा दे। श्रम में लोगों की आदतें और रीतिरवाजों की भी टांग घुसी हुई है। अच्छा तो, श्रम और जिनिसों के भेद का ज़रा विस्तार से विचार कर लीजिए।

कुछ कठिनाइयां।

पहिला भेद यह है कि हम मज़दूर को मज़दूरी से अलग नहीं कर सकते। गेहूं के बोरे से चाहे जितना गेहूं निकाल कर आप चाहे जहां भेज दीजिए या बेंच दीजिए, पर श्रम के साथ आप ऐसा कर ही नहीं सकते। वह तो अपनी इच्छा के अनुसार ही जायगा। इसमें सन्देह नहीं कि मज़दूरी की दर बढ़ा कर लोग उभाड़े जा सकते हैं पर जहां ऐसे आदमी हों जिनकी आदतें जल्दी नहीं बदलतीं, वहां के लिए मज़दूरी की दर बढ़ाने से काम नहीं चल सकता। यही कारण है, देहातों में मज़दूरी की दर शहर की दर से कुछ कम होती है। अगर उक्त कारण न होता, तो यह दरका भेद इतना बड़ा न होता। यदि श्रम भी जिनिसों के समान ही होते तो वह देहातों से शहर में चले जाते। नतीजा यह होता कि शहरों में श्रम का संग्रह बढ़ जाता और देहातों में कम हो जाता। बस, फिर शहर और देहात की मज़दूरी की दर क़रीब क़रीब एक हो जावे। कुछ लोग देहातों से शहरों में जाते हैं पर ऐसा सभी नहीं

करते इसका कारण यह है कि मनुष्य जिन परिस्थितियों में बहुत दिन तक रह जाता है फिर उनसे उसका निकलना आसान नहीं होता। क्योंकि, उसे उन परिस्थितियों के अनुकूल ही बन जाना पड़ता है। देहातों के मैदान कुशादा होते हैं। हवा साफ़ होती है। तथा इष्ट मित्रों और भाई बंदों का संग होता है। शहरों में यह बातें कहां। वहां तो खचाखच मनुष्यों से भरी गलियों में रहना पड़ता है। जेठ बैसाख की रातें बंद कमरों में उबल उबल कर बिताना पड़ती हैं। इष्टमित्रों के दर्शन नहीं होते। मजदूरों को कार्य्यालयों का काम भी नये ढँग का मिलता है। पहिले वह प्रकृति देवी की गोद में मज़दूरी करते थे। बीच में गाने लगते थे। कभी कभी पान तम्बाकू खा लेते थे। जब बहुत थक जाते थे तब ज़रा ठहर भी जाते थे। पर धुंएं से संयुक्त कार्य्यालयों में यह बातें कहां? अब तो ओवरसियर की महतेती में कठोर श्रम करना पड़ता है। गीत गाने, तम्बाकू पीने और ठहर ठहर कर काम करने के दिन गये। इष्ट मित्रों के स्थान में भी नये नये अजनबी आदमियों के दर्शन होते हैं; तथा कभी कभी गौराङ्ग महाप्रभु की मृदुल वाक्यबाणवर्षा और पालिशदार ग्लेस्किट लेदर के मृदु जूतों की चमक की ठोकर भी सहना पड़ती है। यही सब बातें हैं जो मजदूर को गांव नहीं छोड़ने देतीं। वह बिचारा वहां की कम मज़दूरी मंजूर करता है, पर शहर जाने से घबड़ाता है।

'उचित सुभीते' और 'कठिनाइयां'।

यह बात केवल भारतवर्ष में ही नहीं है, किन्तु इसका वर्णन

अन्यान्य देशों के अर्थ-विज्ञानियों ने भी किया है। भिन्न भिन्न देशों के मनुष्यों की रुचियां भिन्न भिन्न होती हैं, अतएव इस कठिनाई का स्वरूप भी भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न प्रकार का है। जैसे यहां पर यह शिकायत है कि, शहरों में मजदूरों की मांग ज्यादा है वैसे ही किसी किसी देशों में यह शिकायत है कि अच्छे अच्छे आदमी शहर छोड़ना नहीं चाहते। इसलिए देहातों में मजदूरों की आवश्यकता रहती है। पर सिद्धान्त की बात यहां और वहां दोनों जगह एक ही है और वह यही है कि मनुष्य को कुछ परिस्थितियां इतनी प्रिय हो जाती हैं कि और जगह कुछ ज्यादा मजदूरी पाने पर भी नहीं जाता और अपने प्रिय स्थान में कुछ कम मजदूरी पर भी खुश रहता है। मतलब यह कि, श्रम का संग्रह सिर्फ मजदूरी की दर घटने बढ़ने से ही नहीं घट बढ़ सकता पर इसके सिवा मजदूर भी यह सोचता है कि वह परिस्थिति मेरे अनुकूल होगी या नहीं, तथा फिर निर्णय करता है। अर्थविज्ञानी उन सुभीतों को जो मजदूर को मजदूरी मिलने से होते हैं, "उचित सुभीते" कहते हैं। इसके अलावा "कठिनाइयां" होती हैं, जिनका वर्णन अभी ऊपर हो चुका। अब इन "उचित सुभीतों" और "कठिनाइयों" की मजदूर तुलना करता है कि क्या वह उचित सुभीते इतने अच्छे हैं कि उनके लिए इन कठिनाइयों की परवाह न की जाय? इसका उत्तर उसका अन्तःकरण जो कुछ देता है, उसी के अनुसार वह चलता है। इस प्रकार मजदूर भिन्न भिन्न प्रकार के कामों के उचित सुभीतों की भी तुलना करते हैं कि

किस प्रकार के काम में उचित सुभीते अधिक हैं। फिर जिसमें उनका जी बैठ जाता है उसे ही करने लगते हैं। इस प्रकार मन का बिठलाना सब मजदूरों का एक समान ही नहीं होता, पर भिन्न भिन्न होता है।

श्रम का संचय असंभव है।

यह तो पहली बात हुई। दूसरी बात यह है कि, श्रम का इकट्ठा करके रख छोड़ा नहीं जा सकता। व्यापारी जब देखते हैं कि इस समय दाम गिरे हुए हैं, तो वह अपनी जिनिस को गोदामों में रखवा देते हैं। क्योंकि, उन्हें यह आशा रहती है कि, जब मूल्य बढ़ जायगा, तब बेंचेंगे। पर मजदूर ऐसा नहीं कर सकता कि जिस दिन मजदूरी सस्ती हो उस दिन वह काम ही न करे और जिस दिन मँहगी हो, उस दिन दो दिन का इकट्ठा काम कर डाले। मजदूर की दशा तो उस मछली के व्यापारी के समान होती है, जो मई के महीने में मछली बेंचता है; क्योंकि अगर मछलियां न बिकीं तो रात भर में मारे गर्मी के सड़ जायंगी, और किसी अर्थ की न रहेंगी। यह हो सकता है कि, बहुत से मजदूर मिल कर अपनी मजदूरी बढ़ाने की गरज से कम मजदूरी पर काम करने से इनकार करदें। इसी को हड़ताल कहते हैं। इसी की चमक दमक अब भारतवर्ष में भी फैल रही है; पर इसके लिए यह आवश्यक है कि हड़ताल के समय में योगक्षेम के लिए मजदूरों के पास कुछ पहले से सम्पत्ति जमा हो। तभी उस हड़ताल का असर होगा। व्यापारी बिना मजदूरों के बहुत दिन तक रह सकते हैं, पर मजदूर

बिना मजदूरी किये अगर बहुत दिनों तक चुपचाप बैठे रहें, तो भूखों मरने की नौबत आ जाय। यही कारण है कि हड़तालों में मजदूरों का पक्ष निर्बल रहता है। विलायतों में मजदूरों के संघ होते हैं। यह शान्ति काल में मजदूरों से थोड़ा थोड़ा करके धन जमा करते रहते हैं और जब उनके पास काफ़ी धन जमा हो जाता है तथा जब उन्हें मजदूरी बढ़वानी होती है, तब वह हड़ताल करवा देते हैं और संचित धन से हड़ताल के समय में अपना योगक्षेम चलाते हैं इस प्रकार वह व्यापारियों को मजदूरी की दर बढ़ाने के लिए मजबूर कर देते हैं। भारतवर्ष में भी इस तरह के मज़दूर संघ क़ायम होने लगे हैं, पर अभी तक उनका संगठन अच्छी तरह नहीं हुआ है। जिस दिन उनका संगठन अच्छी तरह हो जायगा, उस दिन से उन कारखानेवाले की जो कम मजदूरी पर मजदूर रखते हैं, धांधली मिट जायगी। हड़ताल का यह विषय ही न्यारा है और आगे चलकर इस पर विशेष अध्ययन करने की जरूरत पड़ेगी।

प्रवीणता में भिन्नता।

तीसरी बात जो श्रम के संग्रह पर विशेष प्रभाव रखती है, श्रम की प्रवीणता की है। गेहूं का प्रत्येक सेर एक प्रकार का ही उपयोगी होता है उसमें यह बात नहीं है कि, कोई सेर अधिक उपयोगी हो और कोई कम। पर मज़दूर सब एक प्रकार के नहीं होते कुछ ज्यादा काम कर सकते हैं, और कुछ कम। श्रम में अगर प्रवीणता बढ़ जाय, अर्थात अगर तीन आदमी इतना काम करने

लगें जितना पहिले चार करते थे, तो उसका भी वही प्रभाव होगा जो मज़दूरों के बढ़ जाने से होता। बहुत दिनों के लिए संग्रह के प्रभाव का विचार करते समय हमें इस बात को न भुला देना चाहिए, क्योंकि तब इसका संग्रह पर बड़ा प्रभाव होता है। थोड़े दिनों में चूंकि प्रवीणता नहीं घटती बढ़ती, इस लिए इसका प्रभाव थोड़े समय के समीकरण पर नहीं होता। यदि, इस में परिवर्तन होता है। अर्थात यदि मज़दूरों की प्रवीणता बढ़ती है, तो बहुत समय में, आनन फ़ानन नहीं।

जन-संख्या के बढने में समय चाहिए।

चौथी महत्व की बात यह है कि, मज़दूरों के संग्रह को बढ़ाने के लिए समय दरकार है। आबादी बढ़ने से ही मज़दूरों की संख्या बढ़ सकती है। प्रायः प्रत्येक चीज़ का संग्रह बढ़ाने में समय की आवश्यकता होती है सब में ही समय लगता है। पर, श्रम का संग्रह बढाने में सब से ज्यादा समयं लगता है। क्योंकि बच्चे जब तक बड़े न हो जांय, तब तक श्रम बढ़ नहीं सकता। इस प्रकार यह सिद्ध है कि, श्रम का संग्रह थोड़े समय में बढ़ नहीं सकता, उसके बढ़ने के लिए अधिक समय चाहिए, पर घट अवश्य सकता है। हैज़ा, प्लेग आदि महामारियों के कारण, जन-संख्या शीघ्र घट जाती है; तदनुसार मज़दूरों की मज़दूरी भी बढ़ जाती है। इससे भी शीघ्र प्रवास के कारण परिवर्तन हो सकते हैं। प्रवास का वर्णन हम दूसरे भाग में कर चुके हैं। वहां हम यह कह चुके हैं कि, यद्यपि प्रवास के मार्ग में बड़ी कठिनाइयां हैं,

तथापि प्रवास का विषय है बड़े महत्व का और एक समय ऐसा आवेगा, जब प्रवास का प्रभाव श्रम के संग्रह पर बहुत पड़ा करेगा। अभी तक हम उन सब बातों का वर्णन पूरा नहीं कर चुके, जिनका प्रभाव श्रम के संग्रह पर होता है। इसके पूरे वर्णन का अध्ययन तो पाठकों को आगे चल कर करना पड़ेगा। अभी तो इतना समझ लेना काफ़ी है कि श्रम की बाज़ार में काम उतनी शीघ्रता से नहीं होता जितनी शीघ्रता से जिनिसों की बाज़ारों में होता है। मज़दूरी की दर बढ़ने से श्रम की मांग कम होती है। इसके बाद संग्रह के बढ़ने का रुख़ होता है और समीकरण हो जाता है। इसका मतलब यह हुआ कि, मज़दूरी की बाज़ार दर का रुख़ उसी तरफ़ होता है, जिस तरफ़ मांग और संग्रह का समीकरण होता है। परन्तु ऊपर हम इसका विचार कर चुके हैं, कि मज़दूरी के संग्रह में और भी बहुत सी बाधायें हैं, इसका नतीजा यह होता है कि, मांग और संग्रह का समीकरण पूर्ण रूप से सही नहीं हो सकता। बाज़ार में इसका प्रभाव यह होता है कि एक बार मज़दूरी की दर स्थिर हो जाने पर फिर उसमें रद्दोबदल नहीं होते। कारख़ानेवाले एक सी ही मज़दूरी देने के, और मज़दूर उसे ही लेने और उसके अनुसार ही जीवन व्यतीत करने के आदी हो जाते हैं। मज़दूरी की दर में तब तक परिवर्तन नहीं होते, जब तक कि कोई बड़े कारण उपस्थित नहीं हो जाते।

परिवर्तन से दर में फेरफार।

जब कोई बड़े परिवर्तन होते हैं, तब मज़दूरी की दर में भी

फेर फार होता है। अगर इन्फ्लुइंजा या प्लेग का शहर में प्रकोप हो जाय, तो मज़दूरी की दर थोड़े समय के लिए बढ़ जायगी, क्योंकि काम करने के योग्य मज़दूरों का संग्रह कम हो जायगा। कुछ मज़दूर बीमारी की वजह से भग जायंगे, कुछ बीमार हो जायंगे और कुछ खतम हो जांयगे। अगर देश में घोर दुर्भिक्ष पड़ जाय, तो, शहरों में मज़दूरी की दर कम हो जायगी, क्योंकि, देहातों के लोग वहां पर अकाल पड़ने और मज़दूरी का काम न रहने के कारण शहरों में भाग आवेंगे। शहरों में मज़दूरी का संग्रह बढ़ जायगा, तदनुसार, मज़दूरी की दर कम हो जायगी। अगर कोई नया काम खोला जाय, जैसे कोई नई रेल निकले, या कोई नहर निकाली जाय, तो भी मज़दूरी की दर बढ़ जायगी। क्योंकि, ऐसा होने से वहां श्रम की मांग बढ़ जायगी, जहां पहिले मांग कम थी, बस, मज़दूरी बढ़ जायगी। इतने उदाहरण हमारी समझ में यह दिखाने के लिए काफ़ी हैं कि, मांग और संग्रह में जब फेर फार होते हैं, तब उन का जिनिस की मांग और संग्रह के समान ही, परिणाम होता है। यह फेरफार जब बाज़ार के आकार के अनुसार ही बड़े होते हैं, तभी उनके परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं, नहीं तो छोटे मोटे फेरफार तो, ऊंट के मुँह में जीरे का सा काम दे जाते हैं।

मज़दूरी की माध्यमिक दर।

एक बात और है, जब मज़दूरी की दर में छोटे मोटे परिवर्तन होते हैं, तब, ऐसे कारण उपस्थित हो जाते हैं कि जिन से मज़दूरी की दर फिर उसी माध्यमिकता में चली जाती है। जब

मजदूरी बढ़ जाती है, तब, श्रम की मांग कम हो जाती है, और संग्रह के बढ़ने का रुख हो जाता है, जिसके बढ़ने से दर फिर उसी माध्यमिक सीमा पर चली जाती है। हम यह कह चुके हैं, कि जिनिसों का माध्यमिक मूल्य उसके उत्पादन के व्ययों के अनुसार होता है। ठीक इसी प्रकार, मजदूरी की माध्यमिक दर मजदूर के कुटुम्ब के खर्चों के अनुसार होती है। जब कुटुम्ब के खर्च के लिए काफ़ी मजदूरी नहीं मिलती, अर्थात् जब बहुत दिनों के लिए मजदूरी की दर माध्यमिक दर से गिर जाती है, तब मजदूर लोग अपना योगक्षेम न होता देख कर बाहर निकल जाने की या और कोई जीविका के उपाय की ठानते हैं। इस प्रकार संग्रह कम हो जाता है और मजदूरी फिर बढ़ जाती है। जब मजदूरी अधिक काल के लिए अपनी माध्यमिक सीमा से बढ़ जाती है, तब बाहर के लोग वहां मजदूरी करने के लिए आने लगते हैं और वहां के रहनेवाले ही और बहुत से लोग मजदूरी करने लगते हैं। इस प्रकार संग्रह बढ़ जाता है और मजदूरी फिर अपनी माध्यमिक सीमा पर आ जाती है। पर, इस प्रकार के फेरफार यहां भारत में बहुत कम होते हैं। यहां तो कुटम्ब के खर्चों में ही फेरफार होने से मजदूरी की दर में अधिक फेरफार हुआ करते हैं। धांधली चलती है।

आराम का माध्यम।

जिस ढङ्ग से मजदूर अपना जीवन व्यतीत करते हैं, उसे आराम का माध्यम कहते हैं (Standard of comfort)।

प्रत्येक स्थानों के मज़दूरों के आराम के माध्यम भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। प्रायः एक शहर के या एक गांव के मज़दूर एक ही तरह के मकानों में रहते हैं, एक ही तरह के कपड़े पहनते हैं। पर यदि आप बनारस और दिल्ली तथा पञ्जाब और बिहारके मज़दूरों के आराम के माध्यम का विचारपूर्वक निरीक्षण करेंगे, तो ज्ञात होगा कि इन पिछले स्थानों के मज़दूरों के आराम का माध्यम अधिक अच्छा है। वह अधिक पौष्टिक भोजन करते हैं तथा अधिक अच्छे कपड़े पहिनते हैं। जब बुरा वक्त आता है और काम कम रहता है, तब मज़दूरों को उतनी आय नहीं होती जितनी पहिले हुआ करती थी। तब मज़दूर उतना खर्च नहीं कर सकते। उन्हें गेहूं के स्थान पर जौ (और वह भी पूरी ख़ूराक में नहीं) खाना पड़ता है। वह नये कपड़े नहीं बनवा सकते, उन्हें पुराने कपड़ों से ही काम चलाना पड़ता है। पर जैसे ही बुरा वक्त़ टल जाता है, वह फिर अपने पुराने ढर्रे पर आते हैं।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, आराम का माध्यम उसी प्रकार बदलता है, जिस प्रकार किसी जिनिस के उत्पादन के व्यय बदलते हैं। लोगों की आदतें और रीति रस्म धीरे धीरे बदलते हैं, पर बदलते ज़रूर हैं। इस प्रकार के परिवर्तन की भारत में गति तीव्र हो रही है। मज़दूरी बढ़ जाने से, और बहुत दिन तक बढ़ी रहने से होता यह है कि मज़दूर जौ की जगह गेहूं खाने लगते हैं। पुराने कपड़ों की जगह नये और अच्छे कपड़े पहिनने लगते हैं। और फिर कुछ दिनों बाद उसी के आदी हो जाते हैं।

फिर वही उनके आराम का माध्यम हो जाता है। जहां तक हो सकता है मजदूर फिर उसे नहीं छोड़ते। इसी प्रकार मजदूरी कम हो जाने से मजदूरों को अपने आराम के माध्यम में कमी करना पड़ती है।

इस जगह इस बात को और भी जान लेना चाहिये कि जिन मजदूरों के आराम का माध्यम बढ़ा हुआ होता है, उनपर यकायक बेकारी और अकाल का प्रभाव नहीं पड़ता; पर जिनका माध्यम नीचे दर्जे का होता है उनपर अकाल और बेकारी का बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। इसलिए जब और और देशों के मजदूर अपने अपने आराम के माध्यम को बढ़ा रहे हैं, तब, अगर भारतवर्ष को संसार में क़ायम रहना है, तो, आवश्यकता इस बात की है कि यहां के मजदूरों के आराम के माध्यम भी बढ़ाये जायं। हमारे यहां के मजदूरों के आराम का माध्यम समस्त सभ्य संसार के मजदूरों के आराम के माध्यम से कम है, तभी तो बेकारी और अकाल से करोड़ों को पेट भर भोजन नसीब नहीं होता। करोड़ों पेट की ज्वाला के कारण प्रति वर्ष मरते हैं।

माध्यमिक दर में परिवर्तन।

अब हमें इस बात का विचार करना है कि मजदूरी की माध्यमिक दर में परिवर्तन किस प्रकार होते हैं। मांग और संग्रह के नियमों के अनुसार, उस समय के मौजूदा आराम के माध्यम के अनुकूल माध्यमिक दर रहती है, पर यह आराम के माध्यम भी तो बदलते रहते हैं। यह अब भारतवर्ष में भी अधिक तीव्रता के

साथ बदल रहे हैं। हम इस बात का विचार कर चुके हैं कि शहर से दूर के देहातों में लोगों को रीति रस्मों में बहुत ही मन्द गति से परिवर्तन होते हैं, और कभी कभी बहुत समय तक परिवर्तन होते तक नहीं। यही कारण है कि वहां की मजदूरी की दर में परिवर्तन नहीं होते। हमने जिस 'क़दीमी दर' का वर्णन किया है, उसका निर्णय इसी क़दीमी आराम के परिमाण के अनुकूल होता है। अतएव वही वहां की माध्यमिक दर है। पर हम यह भी देखते हैं कि, अब पुराने रीति रवाज तेज़ी के साथ बदल रहे हैं, तो फिर, इन परिवर्तनों का मज़दूरी की माध्यमिक दर पर प्रभाव पड़ना ही चाहिये। अब यह दिखलाने की कोशिश की जायगी कि इस प्रकार के परिवर्तनों का स्वरूप क्या है, तथा उनका देश की आर्थिक अवस्थाओं पर कैसा असर होता है। यद्यपि यह विषय बड़ा गूढ़ है, और इसके समझाने और समझने के लिए बड़े अध्ययन की ज़रूरत है, तथापि उसका दिग्दर्शन कराने के लिए हम नीचे कुछ चेष्टा करते हैं।

वर्तमान आराम का माध्यम।

उत्तरीय भारत के अधिकांश भागों के मज़दूरों की अवस्था बड़ी शोचनीय है। उन्हें पेट भर पौष्टिक आहार नहीं मिलता। ऋतुओं के प्रभाव से बचने के लिए काफ़ी वस्त्र नहीं मिलते। रहने के लिए स्वच्छ स्वास्थकर मकान नहीं मिलते। वह अपने बाल बच्चों की शिक्षा में यथेष्ट क्या बिलकुल व्यय नहीं कर सकते। मतलब यह कि मज़दूरों के आराम का माध्यम बहुत हलके दर्जे का है।

उनकी मज़दूरी की योग्यता भी हलके दर्जे की है । अब इस बात का विचार कीजिये कि यदि ऐसे मज़दूरों की मज़दूरी में वृद्धि हो जाय तो क्या दशा हो ।

मज़दूरी बढ़ने के तीन प्रभाव ।

उन लेखकों ने, जिन्होंने इस प्रश्न का विचार योरोपीय परिस्थिति में किया है, यह उत्तर दिया है कि, इस प्रश्न का उत्तर बहुत कुछ मज़दूरों के, बढ़ी हुई अतिरिक्त आय के व्यय करने के ऊपर निर्भर है, खर्च दो तरह का होता है। एक तो श्रम में प्रवीणता, और योग्यता को बढ़ाता है, और एक घटाता है । पर भारत की स्थिति और योरप की स्थिति में बड़ा भेद है । इसलिये इस प्रश्न का विचार भारतीय दृष्टि से ही करने की हम चेष्टा करते हैं ।

प्रवीणता का नाश ।

अब कल्पना कीजिये कि, जब मज़दूरी बढ़ती है, तब मज़दूर पहिले के समान ही काम करते रहते हैं। पर अपनी बढ़ी हुई आमदनी को नशे की चीजों में खर्च कर देते हैं। अच्छा तो, अगर वह बराबर नशेबाज़ी करते रहेंगे, तो उनके शरीर क्षीण हो जायँगे, श्रम की उतनी क्षमता नहीं रहेगी। नैतिक गुण नष्ट हो कर उसकी प्रवीणता भी नष्ट हो जायगी। नतीजा यह होगा कि उनकी आमदनी मारी जायगी, क्योंकि, जब काम करानेवाला यह देखेगा कि ये मज़दूर अब ज्यादा नशे के कारण कमज़ोर हो गये हैं, और पहिले के समान काम नहीं कर सकते, तब वह मज़दूरी भी कम

कर देगा, पर जो आदमी इतने दिनों तक नशे पत्ते में मस्त रह चुके, उनके लिए क्या यह सम्भव है कि आमदनी कम होने पर वह अपने नशे छोड़ दें। प्रायः जब ऐसी घटनायें होती हैं, तब यही देखा जाता है कि लोग अपने और खर्च छोड़ देते हैं, पर नशे पत्ते जारी रखते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि उनके आराम का माध्यम और भी घट जाता है। वह और भी ज्यादा अयोग्य होते जाते हैं। पर केवल इतना ही नहीं कि आराम के माध्यम के घटने के कारण मजदूर के बाल-बच्चों को काफी पौष्टिक भोजन नहीं प्राप्त होते किन्तु तन ढकने को काफी वस्त्र भी नहीं मिलते; बस, वह नित्यप्रति दुर्बल होते जाते हैं और जवानी में ही इतने अयोग्य हो जाते हैं कि उनके श्रम की योग्यता उनके बाप से भी कम होती है। इसके अलावा, वह अपने बाप से नशेबाजी का सबक़ भी सीखते हैं। परिणाम यह होता है कि पीढ़ी दर पीढ़ी बराबर इसी तरह अवनति होते होते देश में ग़रीब कङ्गाल और कमज़ोरों का आर्तनाद भर जाता है। ऐसे में, अगर देश की आबादी बढ़ेगी तो यह अवनति और भी तीव्र गति से होने लगेगी; और अगर आबादी कम होगी, तो भी अवनति का चक्कर चलता ही रहेगा; क्योंकि, श्रम करने की प्रवीणता जब तक मज़दूरों की न बढ़ेगी तब तक मजदूरी में तरक्की होना कठिन है।

यह उदाहरण हमने इसलिए दिया है कि जिससे यह ज्ञात हो जाय कि, मज़दूरों में प्रवीणता के घटने से क्या परिणाम होते हैं। असल मतलब तो हमारे कहने का यह है कि, अवनति जब

एक बार होती है तो उसकी गति रुकती नहीं ; अवनति होते ही चली जाती है। प्रवीणता के कम होने का मतलब यह है कि मजदूरी कम हो गई, और मजदूरी कम होने का मतलब यह है कि आगे के लिए और भी प्रवीणता कम होने की सूरत पैदा हो गई। बस, इस प्रकार यह अवनति का चक्र चलने लगता है। इसको रोकने का सिर्फ़ एक ही उपाय है कि आदतें बदल दी जायँ। बिना आदतों के बदले यह चक्र रोका नहीं जा सकता।

प्रवीणता का विकास।

इससे ठीक विपरीत दूसरा उदाहरण लीजिए। कल्पना कीजिए कि कोई मजदूर अपनी बढ़ी हुई मजदूरी को इस तरह ख़र्च करता है जिसमें उसकी योग्यता बढ़ती है। तो फिर सब से पहले उसे पौष्टिक भोजन मिलने लगता है। कपड़े अच्छे मिलते हैं। इसके कारण मजदूर के शरीर में शक्ति बढ़ती है। शक्ति बढ़ने से श्रम की योग्ता बढ़ती है। श्रम की योग्यता बढ़ने से मजदूरी फिर और बढ़ती है। तब फिर वह, अच्छे मकान में रहने लगता है। उसके पास अपने बाल बच्चों को पढ़ाने के लिए कुछ पैसा पास हो जाता है और बुढ़ापे में बैठ कर खाने के लिए वह कुछ इकट्ठा कर लेता है। हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि, जैसे जैसे, उस की आय बढ़ती जायगी और वह उसे बुद्धिमानी से ख़र्च करता रहेगा, वैसे वैसे, उसकी तरक़्क़ी सब तरफ़ से होती रहेगी। ऐसे मातापिताओं की औलादें, आगे चल कर अपने मां बापों से भी अच्छी निकलती हैं। उन्हें और भी अच्छे भोजन, वस्त्र, गृह,

स्वास्थ्य, आमदनी और काम करने में प्रवीणता की प्राप्ति होती है। उनके नैतिक गुण भी उच्च होते हैं। मतलब यह कि पहिले के उदाहरण से यह उदाहरण ठीक विपरीत है। इसमें एक बार तरक्की होने से फिर तरक्की होती ही रहती है, क्योंकि, जैसे जैसे उसकी आमदनी बढ़ती जाती है, वैसे ही वैसे उसकी योग्यता भी बढ़ती जाती है और जैसे जैसे उसकी योग्यता बढ़ती जाती है, वैसे वैसे उसकी आमदनी बढ़ती जाती है। आमदनी और योग्यता की यह चढ़ा ऊपरी बराबर जारी रहती है।

इस उदाहरण के सम्बन्ध में भी जनसंख्या का विचार कर लीजिए। अगर जनसंख्या घटेगी, तो उन्नति की गति अधिक तीव्र हो जायगी, क्योंकि, काम करनेवाले मज़दूरों की संख्या थोड़ी होगी पर अगर जनसंख्या बढ़ेगी तो फिर उन्नति की गति ठहर जायगी। पर साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि मज़दूर रुपया बचाकर, अपने बच्चों को शिक्षा देंगे और वह बच्चे आगे चल कर और और बढ़िया धंधों में लग जायंगे। इससे जन संख्या बढ़ने पर भी प्रतियोगिता न बढ़ेगी और फलस्वरूप उन्नति की, सम्भव है, गति भी न रुके।

मज़दूरों का आलसी हो जाना।

हमने इस बात का विचार कर लिया कि, मजदूरी बढ़ने से दो सूरतें पैदा हो सकती हैं। एक तो यह कि, अगर बढ़ी हुई आमदनी का उपयोग अच्छी तरह से—बुद्धिमानी के साथ—किया जाय तो फिर उससे और भी आमदनी बढ़ेगी और यह क्रम बरा-

बर जारी रहेगा। अगर यही क्रम जारी रहा तो एक दिन मज़दूरों को भी मनुष्योचित जीवन व्यतीत करने का मौक़ा अवश्य प्राप्त होगा। पर अगर, बढ़ी हुई आमदनी का दुरुपयोग किया गया तो, अवनति का चक्कर जारी हो जायगा और यही चक्कर अगर कुछ दिन तक जारी रहा तो देश में घोर दरिद्रता और निर्बलता पैदा हो जायगी। मज़दूरी बढ़ने से यही दो सूरतें हो सकती हैं। पर इसके सिवा एक तीसरी भी है। उसका भी यहां वर्णन कर देना अनुचित न होगा।

पुस्तक के पिछले भाग में हमने इस बात की सम्भावना दिख लाई थी कि उत्पादन की शिल्पावस्था में जिनिस की क़ीमत बढ़ जाने से उसका संग्रह कम हो जायगा; क्योंकि, शिल्पी कम काम करने लगेंगे। इसी प्रकार यह भी सम्भव है कि, मज़दूरी की दर बढ़ जाने से श्रम का भी संग्रह कम हो जाय। इसके समझने में कोई दिक़्क़त की जरूरत नहीं है। काम करानेवालों की भारतवर्ष में यह एक साधारण शिकायत है कि, जब वह मज़दूरी की दर बढ़ा देते हैं तब मज़दूर सप्ताह में बहुत थोड़े दिन काम करते हैं। इस शिकायत में सत्य का कुछ न कुछ अंश अवश्य है। यह तो हम कह ही चुके हैं कि भारतवासी अपने जीवन के ढँग को—आराम के माध्यम को—शीघ्रतापूर्वक बदलने के आदी नहीं। ऐसी दशा में, जब उन्हें आठ दिन की मज़दूरी छे दिन में ही मिल जाय, तो कोई ताअज्जुब नहीं, कि वह दो दिन आराम करने में लगा दें। अब कल्पना कीजिये कि मज़दूरों का सचमुच यही हाल

है, साथ ही यह भी कल्पना कर लीजिए कि उन के सुस्त पड़े रहने से उनकी प्रवीणता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। तो फिर, इसका परिणाम यह होगा कि श्रम का संग्रह रुपये में बारह आने रह जायगा। ऐसी दशा में अगर मांग के नियमों के बंधन न होते तो मजदूरी बे हद बढ़ती चली जाती। क्योंकि, मजदूरी बढ़ने से श्रम का संग्रह कम हो जाता और संग्रह के कम होने से मजदूरी बढ़ जाती। पर काम करानेवाले उतनी ही मजदूरी देंगे, जितना श्रम के उत्पादन के अनुसार वाजिब होगा ; वह ज्यादा मज़दूरी देकर नुक़सान नहीं उठावेंगे। अगर वह यह देखेंगे कि, मजदूरी की दर बढ़ाने से श्रम का संग्रह नष्ट होता जाता है, तो फिर वह अपने उत्पादन के कार्य का संगठन इस प्रकार से करेंगे, जिस में उन्हें कम से कम श्रम की जरूरत पड़े—कम से कम मजदूरों से काम चल जाय—वह कोई दूसरे धंधे में लग जायंगे। इसका अन्त में नतीजा यह होगा कि मजदूरों की स्थिति वैसी की वैसी बनी रहेगी वह न घटेगी न बढ़ेगी। पर इस सुस्ती का प्रभाव देश की आर्थिक दशा पर बड़ा गहरा पड़ेगा। कम उत्पादन होगा और देश क्रमशः ग़रीब होता जायगा।

मजदूरी के बढ़ने से जो तीन सूरतें पैदा हो सकती हैं, उन का हमने वर्णन कर दिया। मनुष्यों के स्वभाव भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं, इस लिए यह सम्भव नहीं कि सभी मजदूर एक तरह के हो जांय। कुछ मजदूर अधिक प्रवीण हो जांयगे, कुछ प्रवीणता को नष्ट करने लगेंगे, साथ ही कुछ ऐसे भी

होंगे जो न बढ़ेंगे न घटेंगे, वैसे के वैसे ही बने रहेंगे। कोई व्यक्ति विशेष एक ही अवस्था में न रहेगा । जो खेती कर के या शिल्पी बनकर अपना योगक्षेम न कर सकेंगे, वह मजदूरी करने लगेंगे। मजदूर सुभीता देखकर मजदूरी छोड़ कर खेती करने लगेंगे। कुछ मजदूरी करते करते ही उन्नति कर जांयगे और किसी अच्छे स्थान पर पहुंच जांयगे। देश के लिए परिणाम जो निकलेगा वह इन तीन भिन्न भिन्न शक्तियों की तुलना से बहुत दिनों बाद मालूम होगा । अगर देश में समझदार लोग हुए तो देश की साम्पत्तिक अवस्था सुधर जायगी और अगर नासमझ हुए तो वह बिगड़ जायगी।

अर्थ-विज्ञान की दृष्टि में स्त्री-शिक्षा।

मजदूरी की दर जिन कारणों से घटती बढ़ती है उनका ठीक ठीक सही सही अध्ययन पाठक इस विज्ञान में दखल कर लेने के बाद ही कर सकेंगे । शुरू शुरू में तो उनके लिए उन कारणों का साधारण दिग्दर्शन ही काफी है । किन्तु इस विषय की समाप्ति करने के पूर्व हम मजदूरों की स्त्रियों के विषय में कुछ कह देना चाहते हैं। क्योंकि मजदूरों के चरित्र पर इनका बहुत प्रभाव पड़ता है । घर का खर्च स्त्रियों के ही हाथ में होता है। उसे अच्छे रास्ते में खर्च करना जिससे प्रवीणता बढ़े, व बुरे रास्ते में खर्च करना, जिससे प्रवीणता घटे उन्हीं के हाथ में है। भविष्य के होनहार मनुष्यों की अर्थात् बालबच्चों की शिक्षा भी उन्हीं के हाथ में है। वह उन्हें जैसा चाहें वैसा बना सकती हैं । इस लिए यह

25

बात सदा ध्यान मे रखना चाहिए कि, स्त्री-शिक्षा ही से बहुत कुछ सफलता प्राप्त हो सकती है । यद्यपि स्त्री-शिक्षा का विषय अर्थ-विज्ञान की सीमा के बाहर है, तो भी, वह उसकी दृष्टि में बड़ा महत्वपूर्ण है । स्त्री-शिक्षा से मतलब इस जगह हमारा दोषों से भरी हुई उस शिक्षा से नहीं है जो स्कूलों में लड़कियों को आज कल दी जाती है, पर उससे है, जो दी जानी चाहिए । यह शिक्षा किस प्रकार की होना चाहिए इसका वर्णन अर्थ-विज्ञान नहीं कर सकता ।

मज़दूरी की दर की भिन्नता के पांच कारण ।

हम कह चुके हैं कि अगर सब जगह मांग के अनुसार श्रम का संग्रह होने की कठिनाइयां न रहें, तो प्राय: मज़दूरी की दर सब जगह एक ही रहे । पर ऐसा नहीं है । ऐसा क्यों नहीं है, इस बात के कारणों का भी हम उल्लेख कर चुके । पर अगर वह रुकावटें— वह कारण दूर भी हो जायं, और सब जगह मांग के अनुसार ही श्रम का संग्रह हो जाय, तो भी, भिन्न भिन्न प्रकार के पेशों की मज़दूरी भिन्न भिन्न ही रहेगी । इसके भी कुछ कारण हैं उनका जानना भी ज़रूरी है । इस लिए, हम उनका वर्णन नीचे करते हैं, इन कारणों को सब से पहले अर्थशास्त्र के आचार्य एडम स्मिथ ने सोचा था ।

पहला कारण यह है कि, कुछ काम लोगों की निगाह में रोचक होते हैं; उन कामों को करने में लोग अपनी हतक नहीं समझते । और कुछ ऐसे होते हैं जिन्हें लोग रोचक नहीं समझते और

इनके करने में अपनी हतक समझते हैं। साथ ही कुछ कामों में जोखिम ज्यादा रहती है। और कुछ में नहीं रहती। बस जिन कामों को लोग करना पसन्द करते हैं; जिनके करने में अपनी हतक नहीं समझते, और जिनमें जोखिम कम रहती है, उन में काम करनेवालों को उनकी अपेक्षा कम तनख्वाह मिलती है, जिन में हतक होती है और जो रोचक नहीं होते तथा जिनमें खतरा ज्यादा रहता है। इस के लिए कुछ उदाहरण देने से काम चल जायगा। एक उदाहरण लीजिए, साहब लोगों का जो लोग खाना पकाते हैं, उन्हें ज्यादा तनख्वाह मिलती है, पर जो मंदिरों में रसोइयों का काम करते हैं उन्हें कम मिलती है, इसका कारण यही है कि, साहबों के खाना पकानेवालों को कम इज्जत की निगाह से देखा जाता है। "खानसामों" की जनता की दृष्टि में कोई इज्जत नहीं। लोग इस में अपनी हतक समझते हैं। पर मंदिरों के रसोइयों की बाबत लोगोंकी वह राय नहीं होती। यही कारण है कि खानसामें २०) २५) रु० माहवार पाते हैं, पर मंदिर के रसोइये ८) १०) में ही गुजारा करते हैं। विचार करने से ज्ञात होगा कि, यह जो बढ़ी हुई तनख्वाह खानसामों को मिलती है, सो वह प्रायः लोगों की निगाह में अपनी हतक को सहन करने ही के कारण मिलती है। दूसरा उदाहरण लीजिए। देहाती स्कूलों के मुदर्रिसों की तनख्वाह १०) १५) रुपये होती है। पर बूचड़ की तनख्वाह इस से कहीं अधिक होती है। इसका भी यही कारण है कि क़साईपने का काम लोगों की निगाह में अरोचक है, और मुदर्रिसी का रोचक।

बस उस अरोचकता को स्वीकार करने—सहन करने के कारण ही क़साई को मुदर्रिस से ज्यादा मज़दूरी मिलती है। तीसरा उदाहरण लीजिए। कोयलों की खानों के भीतर जो लोग काम करते हैं, उनको जान का ज्यादा ख़तरा रहता है और जो बाहर काम करते हैं, उनकी जान का कम। इसी तरह से शहर में रहनेवाले पुलिस के सिपाही की जान का ख़तरा कम रहता है, पर लड़ाई पर जानेवाले सैनिक की जान का अधिक। यही कारण है कि खान के भीतर काम करनेवालों को और लड़ाई पर जानेवालों को ज्यादा मज़दूरी मिलती है। पर, खान के बाहर काम करनेवालों और शहर के पुलिसमैन को कम। यह ज्यादा तनख़्वाह ख़तरा उठाने के कारण ही मिलती है।

यह तो पहिले कारण का वर्णन हुआ। अब दूसरे कारण का विचार कीजिये। कुछ काम ऐसे होते हैं जिनके सीखने में बड़ी मिहनत होती है, और बड़ा ख़र्च होता है, तथा उसमें कुछ प्रतिभा की भी आवश्यकता होती है। प्रतिभा स्वाभाविक चीज़ है। अस्तु, जिन कामों के सीखने में जितनी ही ज्यादा कठिनाई होती है, जितना ही ज्यादा ख़र्च होता है, उसके करनेवालों को मज़दूरी भी उतनी ही मिलती है। उदाहरण लीजिये। मामूली मिट्टी ढोने के काम को कुछ दिनों के अभ्यास से ही सीखा जा सकता है, पर ईंटें जोड़ने अर्थात् राजगीरी के काम में ज्यादा दिन तक सीखने की ज़रूरत होती है तभी तो साधारण मज़दूर आठ आना या दस आना पाते हैं, और राज लोग १) रु० रोज़ फटकारते हैं। ठीक इसी तरह

हैं, वह इसी विश्वास के कारण । ऐले-गैले-पचकल्यानी इन स्थानों पर नहीं हो सकते । इनके लिये, सुपात्र और खानदानी आदमियों की जरूरत होती है । इसी लिये, उनकी मजदूरी भी ज्यादा होती है । रेलवे के ड्राइवर, स्टेशन माष्टर, शहर कोतवाल आदि जब तक विश्वसनीय मनुष्य न होंगे, तब तक काम नहीं चल सकता । इस लिये, इन स्थानों पर जो लोग रहते हैं उन्हें मजदूरी अधिक मिलती है ।

पांचवां कारण है व्यापार की सफलता या असफलता का । कुछ व्यापारों की सफलता निश्चित होती है और कुछ की अनिश्चित । वकीलों की वकालत के सम्बन्ध में यह सन्देह रहता है कि, वह चले या न चले । यही कारण है कि उनकी मजदूरी की दर बढ़ी हुई होती है । पर दर्जी के सम्बन्ध में यह बात नहीं है । दर्जी के कामके चलने की सम्भावना अधिक होती है । इसीलिये, उसकी मजदूरी कम होती है । यही कारण है कि जिन चीजों की बिक्री कभी कभी होती है, उनके बेचनेवाले ज्यादा मुनाफा, लेते हैं, और जिनकी बिक्री रोज होती है, उनके बेचनेवाले बंधा हुआ कम मुनाफा लेते हैं ।

यही पांच कारण हैं जिनकी वजह से भिन्न पेशों की मजदूरी में कमी बेशी होती है । समयानुसार यह बदलते रहते हैं । अर्थात् आज जिस पेशे के सम्बन्ध में जो जो कारण लागू हैं, सम्भव है कि, समय के परिवर्तन से वह कारण न रहें तब उसका मजदूरी पर भी असर पड़ेगा । उदाहरण लीजिये । अगर कोई ऐसी तरकीब

निकल आये, जिससे खान के भीतर काम करनेवालों की जान का ख़तरा और तन्दुरुस्त बिगड़ने का ख़तरा न रहे, तो फिर इसमें सन्देह नहीं कि, खान के बाहर काम करनेवालों और भीतर काम करनेवालों की तनख़्वाह समान हो जायगी।

इन पांचों कारणों को अच्छी तरह से उदाहरणों के साथ समझ लेने से पाठकों के बहुत से भ्रमों का छेदन हो जायगा और उनके अध्ययन का मार्ग अधिक सरल हो जायगा।

तेईसवां परिच्छेद ।

विशेष पेशों की आय ।

हमें अब उस तरह के श्रम का विचार करना है, जिसमें प्रवीणता प्राप्त करने के लिए ख़ास शिक्षा की आवश्यकता होती है। साधारण श्रम से इसमें भेद है। इस प्रकार के विशेष श्रम बहुत हैं। इञ्जन चलानेवाले ड्राइवर, भिन्न भिन्न प्रकार के काम करनेवाले मिस्त्री, कारख़ानों में ख़ास ख़ास काम करनेवाले लोग, ऊंचे ऊंचे पदों के अधिकारीगण, डाक्टर, वकील इंजिनियर आदि सब इसी के अन्तर्गत हैं। इस प्रकार के विशेष पेशों में विशेष प्रवीणता की ज़रूरत किसी में कम और किसी में ज़्यादा होती है, पर होती ज़रूर है। जवान आदमियों को कुछ समय तक किसी विशेष प्रकार की प्रवीणता के लिए अभ्यास करना पड़ता है। इन सब पेशेवालों की आमदनी का निर्णय भी मांग और संग्रह के अनुसार ही होता है। इन लोगों की आमदनी की भी कोई न कोई माध्यमिक दर होती है, और वह माध्यमिक दर देश की अवस्था के अनुसार बदला करती है। इन विशेष पेशों की मांग और संग्रह पर प्रभाव डालनेवाली ऐसी कई बातें हैं जिनका वर्णन करना आवश्यक है।

इनकी बाज़ारों के स्वरूप।

इस प्रकार के पेशों में श्रम करनेवालों के श्रम की बाज़ारें, साधारण श्रम की बाज़ारों से भिन्न होती हैं। इन लोगों में, जैसा

हम दूसरे अध्याय में लिख चुके हैं, प्रवास करने की गतिक्षमता अधिक होती है। इस कारण, इस प्रकार की बाज़ारों का विस्तार अधिक होता है। काम करानेवालों को जब इस प्रकार के विशेष श्रमजीवियों की आवश्यकता होती है, तो वह केवल अपने शहर में ही उन्हें नहीं ढूंढ़ते, पर भारतवर्ष भर में तलाश करते हैं। कभी कभी उन्हें भारतवर्ष के बाहर विदेशों में भी ढूँढ़ना पड़ता है। किसी बड़े कार्य्यालय में जाकर देखिये, तो मालूम होगा कि समस्त प्रान्तों के, यहां तक कि विलायत तक के विशेष श्रमजीवी काम कर रहे हैं। दूसरी बात यह है कि इस प्रकार की बाज़ारें सीमित होती हैं, क्योंकि, इस प्रकार के विशेष श्रमजीवियों की संख्या सीमित होती है। वह साधारण श्रमजीवियों के समान विस्तृत नहीं होती। यही कारण है कि जिस प्रकार साधारण श्रम और जिनिसों की दर के निर्णय में भाव ताव करना पड़ता है उस प्रकार से इन विशेष पेशों में नहीं करना पड़ता। पर साथ ही काम करने-वाले इस बात को सदा ध्यान में रखते हैं कि, इस समय मांग और संग्रह की क्या हालत है, और तनख्वाह, मज़दूरी या फ़ीस की दर क्या होना चाहिये। वह बहुत सोच समझ कर इसका निर्णय करते हैं। इसी से उन्हें यथेष्ट मनुष्य मिल जाते हैं। मत-लब यह कि, इस प्रकार के विशेष श्रमजीवियों की मज़दूरी का भी निर्णय मांग और संग्रह के नियमों के अनुसार ही होता है।

इनकी मांग।

इन विशेष पेशों की मांग का दारोमदार प्रायः दो बातों पर

होता है, एक तो देश के प्राकृति उद्गमों पर, और दूसरे, जिस अवस्था में उत्पादन का काम होता हो, उस पर । प्राकृतिक उद्गम इसके लिए बड़े महत्व के हैं । क्योंकि, उन्हीं के अनुसार देश में उद्योग धन्धे होते हैं । यही कारण है कि जिस देश में कोयले की खानें नहीं हैं उसमें कोयले की खानों में काम करनेवालों की जरूरत नहीं होती । पर साथ ही उत्पादन की अवस्था के विकास की बात भी कम महत्त्व की नहीं है, क्योंकि, उस देश में जहां रेलों का प्रचार नहीं है इञ्जन के ड्राइवरों की मांग ही नहीं होती । उनकी मांग वहीं होगी जहां रेलें होंगी । इस प्रकार, यह सिद्ध है कि, जैसे उत्पादन का विकास होता जाता है, वैसे वैसे, विशेष श्रमजीवियों की मांग बढ़ती जाती है और साधारण श्रमजीवियों की मांग कम होती जाती है ।

इनका संग्रह ।

इन विशेष पेशों के श्रम के संग्रह की भी दो कारणों से सीमा है । पहिला कारण तो इसका है वर्ण-व्यवस्था । हिन्दुओं में यह रस्म है कि चमड़े का काम चमार ही कर सकेगा, चाहे चमड़े के काम में जितने आदमियों की मांग क्यों न बढ़ जाय, पर उसे करेगा चमार ही । इसका नतीजा यह होता है कि किसी समय जब किसी विशेष श्रम की मांग बढ़ जाती है और उसके संग्रह से बढ़ जाती है, तथा वह बंद जाती है वर्णव्यवस्था के कारण; तब नतीजा यह होता है कि, उस प्रकार के श्रमजीवियों को ज्यादा मजदूरी मिलने लगती है और वह बढ़ी हुई मजदूरी उन्हें बहुत समय तक मिला करती है ।

विशेष प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता।

दूसरी बात विशेष श्रम के संग्रह के सम्बन्ध में विशेष प्रकार की शिक्षा की है। इस प्रकार के पेशों में घुसने के लिये कुछ दिनों तक विशेष प्रकार की शिक्षा की जरूरत होती है। व्यवहार में देखा जाता है कि इस प्रकार की शिक्षा किसी पेशे की अधिक दी जाती है और किसी की कम। एक मामूली मजदूर के लड़के को मामूली तेल के इंजन के चलाने की क्रिया को सीखने में थोड़े दिन लगेंगे, पर अगर वह बड़ा मिस्त्री होना चाहेगा, या इंजिनियर या वकील बनना चाहेगा तो उसे सीखने में वर्षों की आवश्यकता है। कुछ शिक्षायें ऐसी अवश्य हैं, जिन्हें बालिग लड़के अपनी पसन्द के अनुसार सीखते हैं, पर ऐसा बहुत कम होता है। क्योंकि, उनके माता पिता बरसों पहिले से उनकी शिक्षा के क्रम का निर्णय कर चुकते हैं। पाठक अपने अनुभव से यह जानते होंगे कि इस प्रकार का चुनाव करने में माता पिता कितनी बुद्धिमानी से काम लेते हैं। वह यह भी जानते होंगे कि उत्पादन का जैसे ही सङ्गठन होता जाता है, वैसे ही अधिक प्रवीणता की जरूरत भी श्रमजीवियों के लिये बढ़ती जाती है। मां बाप पहिले यह विचार करते हैं कि, सब से ज्यादा किस प्रकार के रोजगार या पेशे में सुभीता है। वह सब प्रकार के रोजगारों और पेशों की तुलना कर तब इस बात का निर्णय करते हैं कि किस प्रकार की शिक्षा दिलवानी चाहिये। इसका परिणाम यह होता है कि सब प्रकार के पेशों के सुभीते बराबर हो जाते हैं। क्योंकि, अगर किसी पेशे में ज्यादा सुभीता होता है तो मां बाप

अपने लड़कों को उसी की शिक्षा दिलवाते हैं और इस प्रकार उस पेशे में काम करनेवालों का संग्रह मांग से वढ़ जाता है और फल-स्वरूप उसके सुभीतों की वाढ़ नहीं रहती, वह कम हो जाती है। इसी तरह से जिन पेशों में कम मुनाफ़े होते हैं, उनकी शिक्षा भी कम मां बाप अपने लड़कों को दिलवाते हैं। इसका भी नतीजा यह होता है कि उसके श्रम के संग्रह में कमी होकर उसके श्रमजीवियों के सुभीते वढ़ जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि, यह वात जिसका ऊपर वर्णन किया गया है व्यवहार में पाई अवश्य जाती है पर, सुभीतों की समता जैसी होना चाहिए वैसी नहीं होती। कारण इसका यह है कि, मां बाप, इस बात के अनुमान में प्रायः चूक जाते हैं कि दस वीस वर्ष वाद (जव लड़का पढ़ लिख कर तैयार होगा) किस पेशे के श्रमजीवियों की मांग अधिक होगी और किसकी कम। हिन्दुस्तान के मां बाप प्रायः ऐसी ग़लतियां बहुत करते हैं। यही कारण है कि पुराने ज़माने के विशेष पेशों में तो लोगों की भरमार है और तीव्र प्रतियोगिता है, पर, नवीन नवीन प्रकार के पेशों में लोगों की कमी है। इसीलिए भिन्न भिन्न प्रकार के पेशों के सुभीतों में समता नहीं है, किसी में कम सुभीता है और किसी में अधिक।

इसके समझाने के लिए कुछ उदाहरण देना ठीक होगा। सब से पहिले अंगरेज़ी लिख पढ़ सकनेवाले क्लर्कों का विचार कीजिये। भारत में जब अंगरेज़ी राज्य क़ायम हुआ था तब अंगरेज़ी पढ़ लिख लेनेवालों की संख्या बहुत ही कम थी। उस समय अंगरेज़ी जाननेवाले मुश्किल से मिलते थे ; क्योंकि, तब सब काम देशी

भाषाओं में होता था। ऐसी दशा में, जब अंगरेज़ीदां लोगों की पहले पहल मांग हुई तब बहुत कम लोग ऐसे निकले जो अंगरेज़ी जानते थे। जो कुछ निकले, उन्हें बड़ी बड़ी तनख्वाहें मिलीं। यहां के लोगों ने यह देखकर कि अंगरेज़ी जाननेवालों को काफ़ी तनख्वाहें मिलती हैं, अपने लड़कों को अंगरेज़ी पढ़ाना शुरू कर दिया। अंगरेज़ी जाननेवालों की संख्या बढ़ने लगी। साथ ही जैसे जसे उनकी संख्या बढ़ने लगी वैसे ही वैसे उनकी तनख्वाहें भी कम होने लगीं और अब तो यह हाल है कि, कुली भी कम मज़दूरी देने पर कहते हैं कि किसी मिडिल पास को ढूंढ़ा होता। इसी तरह जब पहले पहल टाइप राइटरों का प्रचार हुआ तब उसके लिखनेवाले कम निकले, और उन्हें ज्यादा तनख्वाहें मिलीं। टाइप राइटरी का काम चन्द महीनों में जाना जा सकता है, इसलिए, अब उसके जाननेवाले भी बहुत हो गये हैं। परिणामस्वरूप उनकी भी क़दर कम हो गई। अब तो जो शार्टहेण्ड लिखना जानता है, उसकी क़दर है; क्योंकि, यह जरा दिक़्क़त से सीखा भी जाता है और इसके जाननेवालों की कमी भी है।

दूसरा उदाहरण मोटर चलानेवालों का लीजिये। मोटरों को चले अभी थोड़े ही वर्ष हुए हैं। जिस समय भारत में मोटरों का चलन हुआ, उस समय इसके चलानेवालों की कमी थी। पहले मोटर चलाने के लिए लोगों को अंगरेज़ ड्राइवर रखना पड़ते थे; उन्हें लम्बी चौड़ी तनख्वाहें देना पड़ती थीं। पर थोड़े ही दिनों में यहां बहुत लोग मोटर चलाना सीख गये। मोटर चलानेवालों की

तनख्वाहें भी कम हो गईं। पहले पहल मोटर का काम सीखने में दिक्कत होती थी पर अब उसके भी स्कूल खुल गये हैं। अब मोटर चलानेवालों की उतनी क़दर नहीं रही जितनी पहले थी। अब तो हवाई जहाजों का ज़माना आनेवाला है। उसका काम जो सीखेंगे उनकी क़दर ज्यादा होगी।

तीसरा उदाहरण वकीलों का लीजिए। अँग्रेज़ी अमलदारी के पहले वकीलों का पेशा वर्तमान रूप में नहीं था। वह उस समय था ही नहीं, यही कहना ठीक होगा। जैसे ही वर्तमान अदालतों की स्थापना हुई, वैसे ही इस पेशे का भी जन्म हुआ। सब से पहले वकीलों में बड़े बड़े लोगों में अँगरेज़ लोग ही थे। कारण यह था कि उनके यहां बहुत पहिले से वकालत की प्रथा प्रचलित थी। इन अँगरेज़ वक़ीलों को बड़ी बड़ी रक़में मेहनताने में मिलती थीं और लोगों में इनका बड़ा दबदबा रहता था। यहां के लोगों ने वकालत के सुभीते देखकर अपने लड़कों को पढ़ाना शुरू किया। क़ानून के विद्यालय भी खुल गए। धड़ाधड़ वकील निकलने लगे। आज कल वकीलों की मांग के अनुसार ही उनका संग्रह है। जहां तक हमारा खयाल है, मांग से संग्रह ज्यादा है। यह संग्रह दिन पर दिन बढ़ता ही जाता है। अब वकीलों की भी वह क़दर नहीं रही जो कुछ दिन पहले थी। इसका मतलब यह हुआ कि, वकालत के सुभीतों का अनुमान करने में भारतवर्ष के लोगों ने हद कर दी—उन्हें बहुत बढ़ाकर समझा, और अपने लड़कों को अधिक संख्या में वकालत पढ़ाई।

पहला दोष।

इन उदाहरणों से पाठकों की समझ में यह बात अच्छी तरह से आजायगी कि इन पेशों और रोजगारों में लोगों को प्रवृत्त करने की क्रिया पूर्णरूप से निर्दोष नहीं है। अगर इस में दोष न होते तो सब प्रकार के विशेष पेशों के सुभीतों में समानता होती। इन्हीं दोषों के कारण किसी विशेष पेशे में श्रम का संग्रह कभी मांग से अधिक रह जाता है और कभी कम। यह दोष प्रायः सभी देशों में है, इसलिए कहना चाहिये कि यह एक सीमा तक अनिवार्य है; पर भारतवर्ष में इन दोषों की अधिकता है इस बात से भी हम इन्कार नहीं कर सकते।

दूसरा दोष।

इन पेशों में लोगों को प्रवृत्त करने की क्रिया के दोषों का दूसरा परिणाम बेकारी है। कभी कभी ऐसा मौक़ा आ जाता है जब किसी विशेष पेशे की शिक्षा पाये हुए आदमी के लिए उसी पेशे से पेट पालना कठिन हो जाता है। ऐसा तब होता है जब नई नई खोज तलाशों से नये नये आविष्कार होते हैं। जब ऐसा होता है तब उन विशेष प्रकार की शिक्षा पाये हुए लोगों को अपना पेशा छोड़ कर साधारण मजदूर बनना पड़ता है। इसके लिये, एक उदाहरण लीजिए। पहले भिश्तियों का रोजगार खूब चलता था, पर जब से पम्प चले और सड़क सींचनेवाली गाड़ियां चलीं तब से उनकी क़दर नहीं रही। वह बेचारे और और पेशों में लग गये, कुछ मजदूरी करने लगे। इस दशा को बेकारी की दशा कहते हैं।

जैसे जैसे उत्पादन के कार्य का संगठन बढ़ता जाता है वैसे ही वैसे बेकारी की सम्भावना भी बढ़ती जाती है। बेकारी का पूर्ण वर्णन करने के लिए अधिक स्थान की आवश्यकता है इसलिए इसे हम अभी स्थगित करते हैं। आगे इसका अध्ययन करना पड़ेगा।

चौवीसवां परिच्छेद।

प्रबन्ध की आय और टैक्स।

उत्पादन करनेवाले की स्थिति।

उत्पन्न हुई सम्पत्ति का जो आख़िरी हक़दार होता है, उसका अब विचार करना है। आख़िरी हक़दार उत्पादन करनेवाला ही होता है। हम यह बात पहले ही कह चुके हैं कि उत्पादन करनेवाला, उत्पादन करने के अन्य साधनों को भी कभी २ जुटाता है। मतलब यह कि वह कुछ अपनी पूँजी भी लगाता है और श्रम भी करता है। पर प्रबन्ध करने की उजरत, इन साधनों के व्याज, मजदूरी व लगान के अलावा होती है।

उत्पादन करनेवालों के दो काम होते हैं, सस्ते से सस्ते में ख़रीदना और मंहगे से मंहगे में बेंचना। जब उत्पादन करनेवाला अपने इन दोनों कामों में सफल होता है, तब उसके पास उत्पादन के साधनों के अन्य ख़र्चों को निकाल कर भी कुछ न कुछ रक़म बच जाती है। और अगर वह अपने कामों में कम सफल होता है, या नहीं सफल होता, तो फिर उसके पास ख़र्च निकाल कर कभी कुछ भी नहीं बचता और कभी नुक़सान उठाना पड़ता है। पर मामूली आदमी कभी ऐसे काम में हाथ न डालेंगे जिसमें नुक़सान की सूरत होगी। वह तो ऐसे ही कामों में हाथ डालेंगे जिसमें उन्हें कुछ मुनाफ़े की सूरत देख पड़ेगी। जब वह यह देखेंगे कि इस मौजूदा काम से ज्यादा अमुक काम में मुनाफ़ा है, तो वह

उसे छोड़ कर चट से दूसरा काम कर लेंगे। अगर हमसे कोई यह पूछे कि, कोई अपने लड़के को वकील, डाक्टर और सरकारी नौकर न बना कर व्यापार धन्धे में क्यों लगाता है, तो हम इस प्रश्न का यह उत्तर देंगे कि, उसकी निगाह में सब से ज्यादा व्यापार में ही सुभीते अधिक देख पड़ते हैं। मतलब यह कि उत्पादन करनेवालों की बढ़ती व संग्रह ठीक उन्हीं नियमों के अनुसार होती है, जिन नियमों के अनुसार विशेष प्रकार के प्रवीण श्रमजीवियों की होती है।

प्रबन्ध का काम सिखलाने की शिक्षा।

अब इस सम्बन्ध की कुछ और बातों का भी विचार कर लीजिये। इस प्रकार के कामों की शिक्षा अर्थात् प्रबन्धक बनाने की शिक्षा का ढङ्ग विशेष प्रकार के प्रवीण श्रमजीवियों की शिक्षा के ढङ्ग से कुछ निराला होता है। इस प्रकार की शिक्षा व्यापारिक विद्यालयों में दी जाती है। वहां पर कौन चीज किस प्रकार उत्पन्न की जाती है, इस बात का विज्ञान बताया जाता है। उदाहरणार्थ, अगर किसी को शक्कर का काम सीखना है, तो, उसे यह जानना पड़ेगा कि शक्कर में कौन कौन से रासायनिक पदार्थ हैं और उनको किस प्रकार की मशीनों से किस प्रकार बनाया जायगा। इसमें कुछ मशीन सम्बन्धी ज्ञान होने की भी जरूरत है। किन्तु यह तो इस शिक्षा की एक ही शाखा हुई। उसे इसके व्यापारिक पहलू को भी सीखना पड़ता है। उसे सीखना पड़ता है कि सस्ता माल कैसे ख़रीदा जाय और महँगा कैसे बेंचा जाय। मजदूरों को कम मजदूरी

देकर किस प्रकार उनसे अधिक काम लिया जाय। मतलब यह कि उसे मनुष्य-स्वभाव का ज्ञान भी प्राप्त करना पड़ता है। यह ज्ञान अनुभव से ही होता है। इसके सिवा उत्पादन के कार्य्य के व्यावहारिक अनुभव की भी आवश्यकता है। वकालत करने की इच्छा रखनेवाले विद्यार्थी को पहले कुछ दिनों तक किसी वकील के साथ रह कर अदालत की कार्रवाई देखना पड़ती है। डाक्टर बननेवाले को कुछ दिन अस्पताल में काम देखना पड़ता है। ठीक इसी तरह जो कार्य्यालय का प्रबन्धक होना चाहता है, उसे किसी कार्य्यालय में बहुत दिनों तक रह कर यह देखना पड़ता है कि कार्य्यालय का प्रबन्ध कैसे होता है।

काम शुरू करने में होने वाली दिक़्क़तें।

कार्य्यालय के प्रबन्ध को सीखने का काम बहुत दिनों का है और बहुत मुश्किल है। अगर पास में पूंजी काफ़ी हो तो कार्य्यालय स्थापित करके यह काम सीखा जा सकता है और अनुभव प्राप्त किया जा सकता है, या फिर किसी पहले से स्थापित कार्य्यालय के हिस्से खरीद कर उसके अन्य हिस्सेदारों के साथ काम करके अनुभव प्राप्त किया जा सकता है। साथ ही यह एक कठिनाई की बात और भी है कि उत्पादन करनेवालों की स्थिति को जमींदार और ताअल्लुक़ेदारों की स्थिति तथा सरकारी नौकरों की स्थिति से नीचे दर्जे की समझी जाती है। यह नासमझी अब धीरे धीरे दूर हो रही है पर, अब भी भारत में लड़कों को सरकारी नौकर बनाने और वकील डाक्टर बनाने की चाह अधिक है। नतीजा यह है कि,

व्यापार के क्षेत्र में काफ़ी प्रतियोगिता नहीं है, और व्यापार वही लोग करते हैं जिनके बाप दादे करते आये हैं या वे जो अन्य जातियों के हैं, जैसे अँगरेज़, पारसी आदि । काफ़ी प्रतियोगिता न होने और देशवासियों का ध्यान इस तरफ़ न जाने से चन्द आदमी मज़े उड़ा रहे हैं, और देश की उत्पादन शक्ति घट रही है ।

इनकी मांग ।

जिन देशों में उत्पादन का काम ख़ासी उन्नति कर गया है, वहां पर, इस कार के उत्पादन करनेवाले लोगों की मांग का होना सम्भव है । नहीं, पर इस प्रकार के लोगों में मांग-के-नियम भी लागू होते हैं । परन्तु भारत में औद्योगिक उन्नति बहुत कम हुई है । वह यहां तक कम है कि अभी तक यहां पर औद्योगिक-बाज़ार का निर्माण ही नहीं हुआ । इस प्रकार के लोगों की मांग और सम्रह दोनों ही कम हैं । पाठकों को इस बात को जानने के लिए, कि, प्रबन्ध की आय का निर्णय किस प्रकार होता है, उन देशों की तरफ़ दृष्टि फेरना चाहिये, जहां पर, औद्योगिक उन्नति बहुत हो चुकी है और जहां बहुत से पूंजीपति इस फिराक़ में रहते हैं कि हम अपनी पूंजी को किस धन्धे में लगाएं । अब थोड़ा सा इस बात का भी विचार कीजिये कि, इस तरह की बड़ी भारी औद्योगिक बाज़ारों में किन २ बातों की ज़रूरत होती है । अर्थात भारत में इस प्रकार की बाज़ार बनाने में किन किन बातों का होना ज़रूरी है ।

उन्नति के लिए आवश्यक बातें ।

इसके लिए तीन बातों का होना ज़रूरी है । पहली तो यह

कि, इस प्रकार के उद्योग धन्धों की शिक्षा देनेवाले विद्यालय होने चाहिये। यह काम दो प्रकार से हो सकता है। एक तो इस प्रकार से कि देश की सरकार इसे अपने हाथों में ले और वह ऐसे विद्यालय खोले। दूसरा यह कि देश के प्रभावशाली लोग इधर ध्यान दें। पिछले चन्द वर्षों में दोनों ने ही कुछ न कुछ इस काम को किया है। और अगर यही हाल कुछ दिनों तक बना रहा तो सब ठीक हो जायगा। देश के पढ़े लिखे लोगों के रुख में परिवर्तन होना चाहिये, उन्हें इस बात का ज्ञान होना चाहिये कि भारत में आबादी के देखते उत्पादन की मात्रा बहुत कम है। उत्पादन बढ़ाने के लिए संगठन की जरूरत है। उन्हें अपनी ग़लतफ़हमी को सुधार लेना चाहिये कि उत्पादन के काम को करने में हैसियत कम होती है। दूसरी बात यह है कि लोगों को अपनी सम्पत्ति को पूंजी बना डालना चाहिये। तीसरी बात यह कि, श्रम की प्रवीणता की दिन प्रतिदिन क्रमोन्नति होती रहना चाहिये। लोगों को इस बात का ज्ञान होना चाहिये कि आमदनी को किस प्रकार खर्च करने से श्रम की प्रवीणता बढ़ेगी और उनकी सन्तानों का भविष्य उज्ज्वल होगा। इन बातों में देश उन्नति कर रहा है। ईश्वर करे वह अपने इस काम में सफलमनोरथ हो।*

---

* देश उन्नति तो कर रहा है पर कहीं उन्नति के धोके अवनति के गड्ढे में तो नहीं जा रहा, इस विषय में अब देश के बड़े बड़े अर्थ-विज्ञान के आचार्यों को भी सन्देह है। क्योंकि, कार्य्यालयावस्था के दोष दिन प्रति दिन भीषण रूप

कर और अर्थ-विज्ञान।

इस भाग के प्रारम्भिक परिच्छेद में हम ने जो वितरण करी सात मदें बतलाईं थीं, उन में आख़िरी मद टैक्सों की है। टैक्सों का सम्बन्ध जैसा कि हम उक्त परिच्छेद में कह चुके हैं, आर्थिक बातों से उतना नहीं है, पर राजनैतिक बातों से अधिक है। साथ ही उसका आर्थिक प्रभाव बड़े महत्व का होता है। आगे चल कर अर्थ-विज्ञान के प्रेमी पाठकों को इसका अलग ही अध्ययन करना पड़ेगा; इसलिए, इस विषय की कुछ प्रारम्भिक बातें यहां पर लिख देने से उनके अध्ययन में सुगमता होगी।

कर के विषय के पांच मुख्य नियम।

बिना टैक्स लिए किसी सरकार का काम नहीं चल सकता, और बिना सरकार के किसी जनसमुदाय में सम्पत्ति का उत्पादन नहीं हो सकता। इसलिए, जनसमुदाय का कर्तव्य है कि वह सरकार स्थापित करे और उसके ख़र्च का भार अपने कन्धों पर ले। सरकार का भी यह कर्तव्य है कि वह प्रजा से कर वसूल कर प्रजा की रक्षा में और भलाई में लगाए। करों की देने की प्रथा भारतवर्ष में बहुत पुराने जमाने से है। यह हमारी सभ्यता की निशानी है। अच्छा तो विचार इस बात का करना है कि, करों को वसूल करने के नियम क्या हैं? इस विषय पर

धारण कर रहे हैं। पर यह व्यवहार की बात है। इस पुस्तक का उद्देश्य मूल सिद्धान्तोंका वर्णन करना है।

अर्थ-विज्ञान के आचार्य आडम स्मिथ ने चार नियम निकाले हैं, उनका वर्णन नीचे किया जाता है।

समाज में कोई ग़रीब होता है, और कोई अमीर । अमीर आदमियों की जान माल की रक्षा में सरकार को अधिक ख़र्च करना पड़ता है पर ग़रीब आदमी की जान माल की रक्षा में अमीरों के मुक़ाबले कम ख़र्च करना पड़ता है; इसलिये, आवश्यकता है कि अमीर और ग़रीब मिल कर अपनी अपनी हैसियत के अनुसार सरकार का ख़र्च में हाथ बटावें । मतलब यह कि समाज में जिसकी जितनी ही ज्यादा आमदनी हो उसे उतना ही ज्यादा कर भी देना चाहिये । अमीरों को ज्यादा और ग़रीबों को कम । अमीर और ग़रीब सब पर एक सा कर न लगना चाहिए । यह पहला नियम हुआ । सिद्धान्त में इस नियम की बातें जितनी सीधी सादी हैं, उतनी व्यवहार में नहीं रहतीं । व्यवहार में तो प्रायः ग़रीब और अमीर सब को एक समान ही कर देना पड़ता है । सरकार जो नमक के ऊपर कर लेती है, उसे प्रायः ग़रीब और अमीर सब को बराबर ही भुगतना पड़ता है । क्योंकि, अमीर और ग़रीब सभी नमक खाते हैं । इसलिए, ग़रीबों के साथ कुछ भी रियायत नहीं होती, उन्हें भी वही दंड भुगतना पड़ता है जो अमीरों को । इस प्रकार से नमक पर जो कर लिया जाता है, वह इस नियम के अनुसार नहीं है, किन्तु इसके सिद्धान्तों के विरुद्ध है । पर इसका कोई उपाय ही नहीं । अगर कोई उपाय है तो केवल यही है कि सरकार इस बात की जांच करे कि कौन कितना अमीर

है, तथा साम्पत्तिक अवस्था के अनुसार किसे कितना कर देना चाहिए। पर देश भर के मनुष्यों की जांच इस प्रकार नहीं की जा सकती, क्योंकि, कर की आमदनी से ज्यादा तो इस तरह की जाँच करने में ही खर्च पड़ जायगा। मतलब यह कि, बहुत सी बातें ऐसी हैं, जिनके कारण बहुत से करों के सम्बन्ध में उक्त नियम का निर्वाह नहीं हो सकता, किन्तु साथ ही बहुत से ऐसे कर भी हैं जिनके सम्बन्ध में उक्त नियम के अनुसार काम हो सकता है। यह बात ज़रा सा आगे चल कर समझ में आ जायगी।

दूसरा नियम यह है कि कर की दर नियमित हो। उसके अदा करने का समय नियत हो। वह किस प्रकार अदा किया जायगा इस बात का ज्ञान अदा करनेवालों को करा देने का साधन हो। इसमें से पहली बात को लीजिए, अगर कर नियमित न हों अर्थात् यदि सरकार जब जी चाहे तब मनमाने रूप से कर को घटावे बढ़ावे तो इस बात का किसी को भी पता न चल सके कि कब कौन चीज़ सस्ती होगी, और कब महंगी। परिणाम यह हो कि व्यापार के लिए किसी चीज़ का सौदा करना और जुआ खेलना बराबर हो जाय। इसलिए, आवश्यकता है कि कर के होने की, अर्थात् यह पहले से निश्चित हो जाना चाहिए कि अमुक जिनिस पर अमुक दर से अमुक समय तक कर लिया जायगा। ऐसा होने से उस समय तक कर के घटने बढ़ने व उसके कारण दामों के चढ़ने उतरने का भय जाता रहेगा। दूसरी बात समय के नियमित होने की है; अर्थात् इस बात को निश्चित होना चाहिए

कि अमुक समय पर अमुक चीज़ का कर अदा करना पड़ेगा। उदाहरण लीजिए, किसानों के लिये फ़सल के तैयार हो जाने पर लगान रूपी कर देने का समय निश्चित रहता है। अगर यह समय निश्चित न हो तो जमींदार जब चाहें तब किसानों से कर वसूल करें, और इस प्रकार किसान बड़ी दिक़्क़त में पड़ जांय। इसी तरह की दिक़्क़तों को मिटाने के लिए कर के अदा करने के समय के स्थिर होने की जरूरत है। इसके अलावा लोगों को यह भी मालूम रहना चाहिए कि कर जिनिस के रूप में या सिक्के के रूप में या और किसी रूप में, किस प्रकार लिया जायगा। ऐसा होने से भी बहुत सी दिक़्क़तें टल जायंगी।

तीसरा नियम यह है कि, कर तब लिया जाय जब, कर देनेवालों को सुभीता हो। अगर इस तरह का सुभीता कर देने वालों के लिए न किया जाय तो व्यापार में बड़ी कठिनाई उपस्थित हो जाय और केवल वह लोग व्यापार कर सकें जिन्हें हर वक़्त कर देने का सुभीता हो।

चौथा नियम यह है कि, कर इस प्रकार से वसूल किया जाय जिसमें कर का अधिकांश भाग उसके वसूल करने में खर्च न होकर सीधा सरकारी ख़ज़ाने में जाय। साथ ही इस बात का भी ध्यान रक्खा जाय कि कहीं ऐसा न हो कि, सरकार को तो उतना ही मिले, पर कर देनेवालों को उससे ज्यादा देना पड़ जाय। इसके दो अर्थ हैं, एक तो यह कि कर लेने में ऐसा साफ़ मामला होना चाहिये जिसमें बीचवाले घूंस न खा सकें। क्योंकि, अगर

उन्हें घूंस खाने का मौक़ा होगा तो वह जरूर खायंगे और नतीजा यह होगा कि चीजों के दाम बढ़ेंगे। व्यापार में अवनति होगी। तथा दूसरा अर्थ यह है कि, कर तैयार माल ही पर लिया जाय। क्योंकि कच्चे माल पर कर लेने से सरकार को तो उतना ही मिलता है, पर देनेवालों को ज्यादा देना पड़ जाता है। परिणाम स्वरूप चीज महंगी होकर व्यापार में अवनति हो जाती है। यह बिना उदाहरण अच्छी तरह समझ में न आवेगी। कल्पना कीजिये कि १०० मन रेशम पर १०००) रुपये का कर है। शिवराम नाम के सेठ ने १०० मन रेशम खरीदा और उस पर हज़ार रुपये कर के दिये। इसके बाद शिवराम ने रामचन्द्र के हाथ उसे छ महीने के बाद बेंच दिया। तो फिर, इसमें वह अपनी दिये हुये कर का सूद भी तो जोड़ेगा, नतीजा यह होगा कि कर की १०००) की रक़म मय सूद के ११०० की रामचन्द्र को देना पड़ेगी। इस प्रकार उस रेशम के कर की रक़म सूद पर सूद चढ़ता ही जायगा और मिल में पहुंचने के समय तक वह बहुत बढ़ जायगा। मिल वाले मंहगे रेशम के कपड़े के दाम भी महंगे कर देंगे। इस प्रकार कपड़ा बहुत महंगा होकर बाज़ार में बिकेगा। अब अगर यही कर की रक़म रेशम पर न लेकर तैयार रेशम के कपड़ों पर ली जाय, तो लोगों को इतना महंगा कपड़ा न ख़रीदना पड़े। क्योंकि, वह सूद दर सूद की रक़म कपड़े की क़ीमत में न जुड़े। इसीलिए कहा जाता है कि, कच्चे माल पर कर न लेकर तैयार माल पर कर लेना चाहिए।

बस, यही कर के सम्बन्ध के चार नियम हैं। जब किसी प्रकार के कर का विचार करना हो तब इन नियमों को सदा ध्यान में रखना चाहिए । करों के सम्बन्ध की ऐसी बहुत सी बातें हैं जिनः का वर्णन हम अर्थ-विज्ञान की इस प्रारम्भिक और छोटी सी पुस्तक में नहीं कर सकते। उनका अध्ययन पाठकों को आगे चल कर करना होगा । अब हम करों के दो मुख्य विभागों का बहुत ही संक्षिप्त वर्णन करके इस परिच्छेद को समाप्त करते हैं।

प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष या परोक्ष कर ।

कर दो प्रकार के होते हैं। एक तो प्रत्यक्ष कर और दूसरे अप्रत्यक्ष कर। जब कर देनेवाला खुद ही कर देता है, तब उस कर को प्रत्यक्ष कर कहते हैं। इस प्रकार के कर प्रायः आमदनी पर लगाये जाते हैं। मकान का कर (हाऊस टैक्स) आय-कर (इन्कम टैक्स) आदि कर देनेवालों को खुद ही देना पड़ते हैं। इसलिए यह सब प्रत्यक्ष कर हैं। इन करों को अदा करनेवाला अन्य लोगों से अपनी कर की रक़म को वसूल नहीं कर सकता। इस प्रकार के कर किसी निश्चित रक़म से आमदनी के बढ़ जाने पर लिए जाते हैं। भारतवर्ष में जिसकी आमदनी दो हज़ार रुपयों से ऊपर है, उसी से यह कर लिया जाता है। मतलब यह कि, यह कर अमीरों को ही देना पड़ता है। ग़रीबों को नहीं। एक बात और याद रखने की है। वह यह कि, इस प्रकार के कर प्रत्यक्ष तभी तक कहे जाते हैं, जब तक उनका भुगतान सम्पत्ति से होता है, पर जब यह कर पूंजी में से दिये जाते हैं, तब यह परोक्ष कर

हो जाते हैं, क्योंकि, परोक्ष कर उसे कहते हैं जिसे कर देनेवाले को अपने घर से न देना पड़े। पूँजी में से आय-कर देने से पूँजी कम हो जाती है। पूँजी कम होने से मज़दूरों को कम मजदूरी मिलती है। इस प्रकार पूंजी से दिये जानेवाले आय-कर का प्रभाव मज़-दूरों की मज़दूरी पर पड़ता है और उसमें कमी हो जाती है। इसी लिए, फिर वह प्रत्यक्ष कर नहीं रहता परोक्ष हो जाता है। विदेशी माल पर जो कर लगता है वह उस माल के भेजनेवालों को नहीं देना पड़ता, पर उसे ख़रीदनेवालों को देना पड़ता है, इसी लिए, वह परोक्ष कर कहलाता है। परोक्ष कर जब जीवनयात्रा की आव-श्यक चीज़ों पर लगाया जाता है, तब वह ग़रीब और अमीर सब को भुगतना पड़ता है। इससे करों के सम्बन्ध के पहले नियम से जिसका हम पीछे वर्णन कर चुके हैं विरोध हो जाता है। पर जब यह विलास-सामग्रियों पर लगता है, तब फिर उसका भार प्रायः अमीरों पर ही पड़ता है। क्योंकि, अमीर लोग ही प्रायः विलास-द्रव्य ख़रीदते हैं। ऐसी दशा में वह पहिले नियम के अनुकूल हो जाता है। पर हमारे देश में तो नमक, दियासलाई जैसी छोटी छोटी नित्य के व्यवहार की चीज़ों पर कर मौजूद है। इससे भीख मांग कर खानेवाले को भी परोक्ष कर देना ही पड़ता है।

करों के कारण देश की आर्थिक अवस्था में बड़े बड़े फेर फार हो जाते हैं। जिस देश में कर लगानेवाले प्रजा के शुभचिन्तक होते हैं और वह यह चाहते हैं कि देश ख़ूब फले फूले, उस देश में वह कर लगाकर आर्थिक अवस्था को ठीक कर सकते हैं। पर जहां के

कर लगानेवाले ऐसा नहीं चाहते वह ऐसे कर लगाते हैं, जिससे देश दरिद्र हो जाता है। सारांश यह कि अच्छे शासक देश को सम्पत्तिवान कर सकते हैं। और बुरे शासक तबाह कर सकते हैं।

औद्योगिक उन्नति की कुंजी शासन की संदूक में बन्द है।

पांचवें अध्याय का

परिशिष्ट ।

—:o:—

हम इस बात का विचार कर चुके कि उत्पादन के भिन्न भिन्न साधनों का प्रतिफल किस प्रकार दिया जाता है। परन्तु, अभी हमारा काम पूरा नहीं हुआ। क्योंकि विषय बहुत ही गूढ़ है। हमने तो सिर्फ़ सम्पत्ति के वितरण के सिद्धान्तों का दिग्दर्शन मात्र कराया है। बहुत सी बातें हमने आगे चलकर अध्ययन करने के लिए छोड़ दी हैं। अब तक हमने जिन बातों का विचार किया है, उससे निम्न नतीजों पर पहुंचे हैं।

सूद के विषय में हमने इस बात का विचार किया कि, जहां तक, जिस सीमा तक, पूंजी की बाज़ार का विकास हुआ है, उसी सीमा तक पूंजी के सूद की दर का निर्णय मांग और संग्रह की दशाओं के अनुसार होता है। यह निर्णय ठीक ठीक जिनिसों के मूल्य के समान ही होता है और प्रायः सदा ही पक्के सूद की कोई न कोई माध्यमिक दर रहती ही है। इसी माध्यमिक दर के आस पास सूद की बाज़ार-दर चढ़ा उतरा करती है। यह चढ़ना उतरना, मांग और संग्रह की दशाओं के अनुसार होता है। अब यह माध्यमिक दर भी स्थिर नहीं होती। यह भी देश की अवस्थाओं के अनुसार चढ़ा उतरा करती है। यह अवस्थाएं क्या हैं, इसका वर्णन करना हमने स्थगित कर दिया है। सम्मिलित सूद में पक्के

सूद के अलावा प्रबन्ध के ख़र्च तथा जोखिम के बीमे की रक़में भी शामिल रहती हैं। यह रक़में भिन्न भिन्न लोगों के लिए भिन्न भिन्न मात्रा में होती हैं। यही कारण है कि पक्के सूद की रक़म को उक्त दोनों रक़मों से अलग कर जांचने में दिक़्क़त होती है। यह दिक़्क़त चाहे जितनी हो, पक्के सूद के महत्त्व में कमी नहीं आ सकती। सब से बड़ी ज़रूरत भारतवर्ष में इस बात की है कि यहां पर सूद की बाज़ारों का विस्तार ख़ूब होना चाहिये जिससे उचित सूद पर उत्पादन के लिये पूंजी प्राप्त करने में लोगों को आसानी हो। जैसे ही जैसे पूंजी की बाज़ार का विकास होगा, वैसे ही वैसे अर्थ-विज्ञानियों के स्थिर किये हुए पूँजी के सम्बन्ध के नियम साधारण व्यवहार में अधिक चरितार्थ होने लगेंगे।

लगान के सम्बन्ध में भी हमने इस बात का विचार किया कि लगान की दर का भी निर्णय मांग और संग्रह के नियमों के अनुसार ही होता है किन्तु लगान की दर में ज़मीन की उपजाऊ शक्ति के अनुसार बहुत कुछ फ़र्क़ पड़ जाता है। प्रत्येक देश में एक समय ऐसा अवश्य आवेगा जब उपजाऊ ज़मीन की मांग उसके संग्रह से बढ़ जायगी। ऐसी अवस्था में ज़मींदार उत्पादन में होनेवाले कुल ख़र्चों को निकाल कर बची हुई रक़म को लगान के स्वरूप में ले लिया करेंगे। उत्तरीय भारत में कुछ ऐसी अवस्था है कि अगर सरकार बीच में दख़ल न देकर लगान के सम्बन्ध में कुछ क़ानून न बनावे तो किसान ज़मीन की उपजाऊ शक्ति क़ायम रखने के लिए कोई चेष्टा ही न करें। सर-

कार इस मामले में दखल देती है और वह इसलिए देती है कि जिससे जमीन की उपजाऊ शक्ति बनी रहे और देश की जातीय आय कम न होने पावे।

मजदूरी और आमदनी का विचार करते समय हमने इस बात का विचार किया कि, मांग और संग्रह का प्रभाव भिन्न भिन्न प्रकार के मजदूरों पर किस प्रकार पड़ता है। हमने यह देख लिया कि श्रम की मांग अन्य जिनिसों की मांग के समान ही होती है पर श्रम की संग्रह में भिन्नता होती है। कारण यही है कि हम काम करनेवाले से काम को जुदा नहीं कर सकते और काम करनेवाले मानव ही होते हैं। इच्छा रखते हैं, खुद की पसन्द रखते हैं। परिणाम यह होता है कि मजदूरी की दर मांग और संग्रह के कारण उतनी आसानी से परिवर्तित नहीं होती जितनी आसानी से जिनिसों की। पर मांग और संग्रह के बड़े बड़े प्रभाव जो मजदूरी की दर पर होते हुए देख पड़ते हैं, उस से ज्ञात होता है कि, इसका प्रभाव मजदूरी की दर पर है जरूर। मजदूरी का परिमाण मजदूर के आराम के माध्यम के अनुसार ही होता है। पर मजदूर के काम की मालियत से ज्यादा मजदूरी कभी नहीं हो सकती। इतना अध्ययन कर चुकने के बाद पाठकों को आगे चलकर इस विषय का अध्ययन करना पड़ेगा कि वह कौन से कारण हैं जिनकी वजह से श्रम की प्रवीणता पर प्रभाव पड़ता है और जिससे मजदूरी की दर में रद्दोबदल हो जाते हैं तथा इस बात का भी अध्ययन करना पड़ेगा कि, श्रमजीवी के जीवन और

उसके किए हुए श्रम की क़ीमत या योग्यता—अथवा क़िस्म में परस्पर सम्बन्ध क्या है।

अन्त में, हमने इस बात का विचार किया कि, उत्पादन करने वाले मनुष्यों के ऊपर प्रभाव डालनेवाली अवस्थायें वही होती हैं, जो किसी विशेषत्व प्राप्त श्रमजीवी के वेतन के ऊपर प्रभाव डालती हैं। किन्तु अभी भारत में उत्पादन का संगठन इतना नहीं हो पाया है कि प्रबन्धक की आय का निर्णय भारतीय जीवन के अनुसार किया जा सके।

इन परिणामों से, हमारे अध्ययन का एक मार्ग बन जाता है। किन्तु इस प्रकार के विवेचन में, इस बात पर ध्यान न देना आसान है कि भिन्न भिन्न उत्पादन के साधनों के प्रतिफल में होनेवाले परिवर्तनों का दूसरों पर क्या प्रभाव पड़ता है। हम इस बात को अच्छी तरह से महसूस नहीं कर सकते कि कुछ श्रेणी के मज़दूरों की मजदूरी में होनेवाले परिवर्तनों का दूसरी श्रेणी के मज़दूरों पर क्या प्रभाव पड़ता है। अथवा इसे इस तरह से भी कह सकते हैं कि, सूद में या लगान में होनेवाले परिवर्तनों का प्रभाव उन लोगों पर कैसे पड़ता है जो न लगान व सूद देते हैं और न लेते हैं। विषय को समाप्त करने के पूर्व हम कुछ शब्द इस विषय में भी कह देना चाहते हैं।

हमें यह ख़याल करना चाहिए कि, सारी जाति एक ही समुदाय है। उसके सब लोग सम्पत्ति के उत्पादन में मशगूल हैं। इसे समस्त उत्पादन को जातीय आय समझना चाहिए। और वह

भी जानना चाहिए कि उसी का क्षय करके जाति जीवित रहती है। जाति के समस्त कार्य करनेवाले लोगों—छोटे से छोटे मजदूर और बड़े से बड़े कारखाने के मालिक तक—जातीय सम्पत्ति का उत्पादन करते हैं। सभी उसी आय से अपना योगक्षेम करते हैं। पर सारी आय का ही क्षय नहीं कर देते। उत्पादन का एक भाग उस पूंजी के भर्त के लिए रख दिया जाता है जो उत्पादन के कार्य में क्षय होजाती है। साथ ही, उत्पादन का एक भाग प्रायः संसार के सभी देशों में उन लोगों के अर्थ लगा दिया जाता है जो उत्पादन नहीं कर सकते। जाति का लक्ष्य सब से पहले यह होता है कि किसी प्रकार जहां तक हो सके उसकी जातीय आय बढ़े। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए आवश्यकता इस बात की है कि, जहां तक हो सके, वहां तक, उत्पादन के साधनों का अत्यन्त प्रभावोत्पादक रूप में व्यवहार किया जाय। जमीन को इस प्रकार जोता जाय जिसमें उससे जहां तक हो सके ज्यादा पैदा हो, पर उसकी उत्पादन शक्ति न जाने पावे। जो लोग श्रम करें, चाहे उन का श्रम शारीरिक हो या मानसिक, पर श्रम करने में वह खूब प्रवीण हों। जमा की हुई दौलत का उपयोग इस प्रकार किया जाय, जिससे ज्यादा से ज्यादा उत्पादन करनेवालों को ज्यादा से ज्यादा मदद मिल सके। इस जातीय आय से एक भाग सरकार के लिए अलग कर दिया जाता है, जिससे शासन का काम चले। सरकार के द्वारा जनता के साधारण कार्य्यों का निर्णय भी होता है। हम इस बात को जानते हैं कि प्रत्येक मनुष्य अपने कुल कामों का

निर्णय स्वयं ही नहीं कर लेता, किन्तु उसे रीति रस्मों का भी पाबंद होना पड़ता है। मतलब यह कि, व्यक्ति विशेषों के कार्यों का निर्णय तीन तरह से होता है। एक तो क़ानून के द्वारा, दूसरे रीति रस्मों के अनुसार, तीसरे उसकी इच्छा के अनुसार। उदाहरण लीजिये, सरकार का काम है कि वह इस बात का ख़याल रक्खे कि प्रत्येक मनुष्य अपनी सम्पत्ति को भोग कर रहा है या नहीं। कोई किसी की सम्पत्ति चुराता तो नहीं। ठगता तो नहीं। अगर कोई बदमाशी कर के किसी की सम्पत्ति को छीनता है तो सरकार का काम यह है कि वह अपराधी को दंड दे और हक़दार का हक़ दिलवादे।

हमने इस बात को मानकर यह पुस्तक लिखी है कि, एक ऐसी सरकार है जिसके राज्य में औद्योगिक स्वाधीनता प्रत्येक मनुष्य को प्राप्त है—प्रत्येक मनुष्य को इस बात की स्वाधीनता है कि वह अपने मन का व्यापार करे तथा जातीय आय के अपने हिस्से को जिस प्रकार चाहे ख़र्च करे। इस मानी हुई बातके अनुसार यह सिद्ध है कि जातीय आय का सारा दारोमदार व्यक्ति विशेषों के चरित्रों पर ही निर्भर है उनके चरित्रों से केवल स्वभाव का ही पता नहीं किन्तु उनकी रस्म रिवाजों का भी लगता है। अगर किसी देश की जातीय आय बड़ी भारी है, तो उस के व्यक्ति विशेष अवश्य परिश्रमी, और किफ़ायतशार होंगे। कठिन श्रम ही प्रवीणता का पहिला कारण। जो कठिन श्रम न कर सकेगा वह प्रवीण भी नहीं हो सकता। बुद्धिमानी से ही उत्पादन का संगठन सुचारु रूप से

किया जा सकता है। बुद्धिमान मनुष्य ही परिस्थिति के बदलने पर अपने अस्तित्व को रख सकता है। किफ़ायतशारी उसे कहते हैं जिसमें दूरदर्शिता के साथ भविष्य के लिए संग्रह किया जाता है। सम्पत्ति के उपभोग या व्यय के कुल तत्व इसी के अन्तर्गत हैं। पूंजी की वृद्धि भी किफ़ायतशारी से ही होती है। अगली सन्तानों की शिक्षा का प्रबन्ध भी बिना किफ़ायतशारी के नहीं हो सकता।

लाला भगवानदास गुप्त के प्रबन्ध से कमर्शल प्रेस,
कानपुर में मुद्रित।

अर्थ-विज्ञान के ऊपर सम्मतियां और ग्रन्थकार का कर्तव्य ।

... ... आपने मोरलैण्ड साहब की " हिन्दुस्तानी विद्यार्थियों के लिये अर्थशास्त्र की भूमिका " इस पुस्तक का भाषानुवाद सरल हिन्दी में उत्तमता से किया । ... ... मूल ग्रन्थ इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पठन क्रम में नियत है । ऐसे ग्रन्थ का सरल हिन्दी में अनुवाद कर श्री मुक्तिनारायण जी ने हिन्दी के उपयुक्त ग्रन्थों की संख्या बढ़ाई है । ... ... भारतवर्ष की प्रचलित शिक्षाप्रणाली में उच्च शिक्षा में हिन्दी को स्थान न होने के कारण और हिन्दी-शिक्षा-वितरण का द्वारा न होने से नव नव ग्रन्थों की नियज होने में अत्यन्त बाधा पड़ती है । इस पर भी हिन्दी में अच्छे अच्छे ग्रन्थ न होने का कलङ्क लगाया जाता है । ऐसी प्रतिकूल अवस्था में निरुत्साह न होते हुए, यह उपयुक्त ग्रन्थ लिखने का साहस श्री मुक्तिनारायण जीने किया है यह उनके लिये अत्यन्त प्रशंसनीय और अभिनन्दनीय है ।

विट्ठलवामन ताम्हनकर,

प्रोफ़ेसर महाराजाज़ कालेज,

जयपुर । (सवाई)

मूल अंग्रेज़ी की पुस्तक के विषय में चार प्रसिद्ध अंग्रेज़ी के पत्रों की सम्मति ।

"इकनामिक जर्नल" लिखता है ।

A creditable attempt as a straightforward account of the broad elementry principles of economics with useful illustrations from Indian experiences......

"लिटरेरी वर्ल्ड" की राय है :—

We can with the greatest confidence recommend this book to the ordinary reader. He will have no difficulty whatever in reading it, as the style is most lucid, and he will not be troubled with statistics......

"इन्डियन यजूकेशन" लिखता है :—

This excellent book will fill a longfelt want in the Indian educational world. We strongly recommend it to all Indian teachers and students of economics.

"पायोनियर (इलाहाबाद)" की राय है :—

Mr. Moreland has done for Indian students what Dr. Marshal (in his smaller book) has done for English students of economics. He has given us a book such that he who runs may read and reading understands.

"भारतीय विद्यार्थी को मोरलैण्ड साहब की पुस्तक पढ़ने के लिये अक्सर कहा जाता है। यह देख कर हर्ष हुआ कि श्रीमान् मुक्तिनारायण जी शुक्ल ने इस अंग्रेजी पुस्तक के सुधार पर एक पुस्तक हिन्दी में लिख कर प्रकाशित कराई है। पुस्तक को अधिक उपयोगी बनाने की इच्छा से कुछ परिच्छेद जोड़ भी दिये गये हैं और कहीं कहीं परिच्छेदों का क्रम भी बदल दिया गया है। हिन्दी की पुस्तक बहुत सरल भाषा में लिखी गई है और बहुत रोचक बना दी गई है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि श्री मुक्तिनारायण जी की यह पुस्तक इस अभाव को कुछ अंशो में दूर करने में बड़ी सहायक होगी।

दयाशंकर दुबे एम० ए० एल एल बी
प्रोफेसर अर्थशास्त्र,
लखनऊ यूनिवर्सिटी।